ओंतत्सत् ।

विशेष ज्ञातव्य ।

श्रीसरस्वतीदेवीकी कृपासे कठोपनिषत्का यह संस्करण मन्त्रके अन्वय, हिन्दी अनुवाद, शाङ्कर-भाष्य, उसका हिन्दी अनुवाद और उसके साथ उपनिषत्सुबोधिनी नामकी अपूर्व हिन्दी टीकासहित प्रकाशित हुआ। यह उपनिषद्-ग्रन्थावलीका चौथा ग्रन्थ है।

जगत्में पूज्यपाद महर्षियोंका ज्ञान-ज्योति-विस्तार, अध्यात्मतत्त्वका प्रकाशन, धर्म-ज्ञानकी अभिवृद्धि, आध्यात्मिक उन्नतिके विचारसे पृथिवी भरमें भारतवर्षके जगद्गुरुपदकी सुरक्षा, हिन्दुजातिके आत्मगौरवकी पुनः प्रतिष्ठा, संस्कृत-साहित्य और हिन्दी-साहित्यकी पुष्टि, धर्मके सम्बन्धसे हिन्दु-जातिका यथार्थ संगठन, मातृ-भाषाकी पुष्टिसे भारतवर्ष और भारतवासियोंकी सर्वाङ्गीन उन्नति, जगत्में यथार्थ शान्तिकी स्थापना और स्वदेश, स्वजाति एवं सम्पूर्ण जगत्की सेवाको लक्ष्यमें रखकर श्रीभारतधर्ममहामण्डलने अपने शास्त्र-प्रकाशन विभागकी योजना की है। इस जगद्धितकर अतिवृहत् धर्म-कार्य्यमें सहायता देनेके अर्थ श्रीमहामण्डलकी प्रेरणासे श्रीभारतधर्मसिण्डिकेट-लिमिटेड् नामक संस्थाका संस्थापन हुआ है।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके संस्थापक और सञ्चालक परम-पूज्यपाद परमाराध्य गुरुदेव श्रीस्वामीजीमहाराजने इस जगद्धितकर ज्ञानज्योति-विस्तारक पुनीत धर्म-कार्य्यका अपने

ही तत्त्वावधानमें चतुर्व्यूहरूपमें सञ्चालन करनेकी व्यवस्था की है। प्रथम बहुत कालसे लुप्तशास्त्र और धर्मग्रन्थोंका उद्धार और प्रकाशन, करना जैसे कि, कर्ममीमांसा, दैवीमीमांसा, सप्तगीता आदि शास्त्र प्रकाशित हुए हैं। द्वितीय दर्शन-शास्त्र वेद, पुराण, गीता, आदि दुर्ज्ञेय पुस्तकोंके वर्तमान देश-काल-पात्रोपयोगी भाष्य और टीका प्रकाशित करना, जैसा कि, सप्तदर्शनोंके मौलिक भाष्य, उपनिषदोंपर टीका और भाष्य, पुराणोंपर टीका, सप्तशती और भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंपर मौलिक टीकाओंका प्रकाशन हुआ है। तृतीय पुरुष, स्त्री, बालक-बालिकाओंके धर्म-शिक्षाके उपयोगी ग्रन्थोंका प्रणयन और प्रकाशन करना, इस श्रेणीकी ग्रन्थावली लगभग पचास प्रकाशित हो चुकी हैं। और चतुर्थ श्रेणीकी पुस्तकोंको वर्तमान देश-काल-पात्रोपयोगी कोषग्रन्थ और सग्रहग्रन्थके रूपमें समझना उचित है। धर्म-महाकोषरूपसे धर्मकल्पद्रुम, कहावत-रत्नाकर, जैसे महान् ग्रन्थ छप चुके हैं। और अकारादि क्रमसे शास्त्रोंकी वृहत् विषयसूची तथा हिन्दीभाषाकी पूर्णता सम्पादनके लिये हिन्दी एन्साइक्लोपिडियारूपसे 'शब्दज्ञानार्णव' नामकेमहान् ग्रन्थके प्रकाशित करनेकी व्यवस्था हो रही है। इस दिग्दर्शनद्वारा पाठकोंको ज्ञात होगा कि, किस प्रकारसे यह शास्त्र-प्रकाशनका कार्य्य सफल हो रहा है।

यह धर्म-कार्य्य जितना वृहत् है, इसमें कठिनाइयोंका आना और बाधा-विपत्तियोंका होना उतना ही सम्भव है। लोकाभाव, धनाभाव, शास्त्रोंका आदरकरनेवाले व्यक्तियोंका अभाव, बाधादेनेवाले व्यक्तियोंकी संख्यावृद्धि, गुणग्राही जन-समाजकी न्यूनतादि कारणोंसे इन शुभ कार्य्योंमें पद-पदमें बाधा हो रही है। अनेक बाधा-विपत्तियोंको सहते

हुए अतिक्लेशसे यह जगत्-हितकर कार्य्य नियमितरूपसे कुछ-न-कुछ अग्रसर हो रहे हैं। इसमें केवल श्रीविश्वनाथकी कृपा ही एकमात्र कारण है।

ये सब धर्म-ग्रन्थसमूह कई ग्रन्थमालाओंमें प्रकाशित हो रहे हैं। वाणी-पुस्तक-मालाका यह पुण्यमय ग्रन्थ सप्तम पुष्प है। अनुभवी महात्मागण अन्तर्दृष्टि सम्पन्न पण्डितगण, परमार्थ-पथके पथिकगण, कालेज और पाठशालाओंके सहृदय अध्यापकगण, एवं धर्म-प्रेमी स्वदेश-हितैषी सज्जनगण तथा राष्ट्र-भाषाप्रेमी नर-नारीमात्रकी सेवामें सविनय निवेदन यह है कि, वे अवश्य इस ग्रन्थका एक वार अध्ययन करें। इसके द्वारा यथासम्भव तथा यथायोग्य लाभ प्राप्त करके आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करेंगे तो मेरा परिश्रम सफल होगा।

आनन्दके साथ प्रकाशित किया जाता है कि, वुन्देलखण्ड-के अन्तर्गत हिन्दूराज्य विजावरकी छोटी महारानी हर हाई-नेस भक्तिचन्द्रिका महारानी श्रीमती ।काञ्चनकुमारीदेवी महोदयाने वड़े उत्साहसे इस ग्रन्थ-रत्नके प्रकाशित करनेका भार अपने ऊपर लिया है। श्रीमतीकी उदारता, धर्म-बुद्धि और सत्कर्मानुष्ठान-प्रवृत्ति कैसी प्रशंसनीय है, सो इस शुभ दानसे प्रत्यक्ष ही है। श्रीमतीका यह धर्म-भाव अन्य रानी महारानियोंके अनुकरण करनेयोग्य है, इसमें सन्देह नहीं। श्रीभगवान् श्रीमतीको नीरोग तथा दीर्घायु करें, उनकी धर्म-प्रवृत्ति वढ़ावें एवं आध्यात्मिक उन्नति करें। इति शुभम्।

श्रीमहामण्डलभवन, काशी।
वासन्तिकी अष्टमी सम्वत् १९८९

विद्यादेवी।

ओंतत्सत्।

कठोपनिषत्सभाष्यकी

प्रस्तावना।

—:०:&:०:—

वेदके तीन काण्डोंके अनुसार उसके तीन भाग प्रसिद्ध हैं। यथा—मन्त्र या संहिता-भाग, ब्राह्मणभाग, और उपनिषद्-भाग। इस कल्पमें वेद जितना उपलब्ध था, उसके अनुसार इन तीनों भागोंकी संख्याभी प्रत्येककी समान ही थी। अर्थात् एक हजार एक सौ अस्सी ११८० संहिता, एक हजार एक सौ अस्सी ११८० ब्राह्मण, और एक हजार एक सौ अस्सी ११८० उपनिषद् उपलब्ध थे। उपनिषद्-भाग ज्ञानकाण्डका प्रकाशक है। कठोपनिषद् वर्त्तमान समयके उपलब्ध उपनिषदोंमें अति-विभूतिशाली उपनिषद् है।

वेद अनादि, अनन्त, अपौरुषेय और पूर्णज्ञानमय हैं। जैसे परमात्मा अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक और ज्ञानस्वरूप है, वैसे ही भगवद्वाक्यरूपी वेदका होनाभी दार्शनिक विचारसे सिद्ध है। ब्रह्म और ब्रह्म-प्रकृति महामायामें "अहं ममेतिवत्" अभेदत्व है, इसको रूपान्तरसे सब वैदिक दर्शनोंने एकवाक्य होकर स्वीकार किया है। साथ-ही-साथ सब

दर्शन-शास्त्रोंने रूपान्तरसे परमात्माके पूर्णज्ञानमय होनेके विषयमें और महामाया ब्रह्मस्वरूपिणी प्रकृतिके पूर्णशक्तिमयी होनेके विषयमेंभी एकमत होकर स्वीकार किया है। परमात्माके ईक्षणकी सहायतासे अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-भाण्डोदरी जगन्माता ब्रह्म-प्रकृति अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंको यथासमय प्रसव करती है, पालन करती है और पुनः महाप्रलयके समय अपने अंगमें मिला लेती है। पुनः पुनः उनके समष्टि कर्मोंके अनुसार उत्पन्न करती है और पुनः लय कर लेती है। यही आध्यात्मिक सृष्टि-प्रवाहका बीजाङ्कुरन्यायके सदृश अनाद्यनन्त सृष्टि-धाराका रहस्य है। प्रत्येक ब्रह्माण्डके प्रकट होते समय परमात्माकी अनन्त ज्ञानराशिका जितना अंश उस नवीन प्रसूत ब्रह्माण्डके लिये आवश्यक होता है, वही सृष्टिके आदिमें वेद-रूपसे प्रकट हुआ करता है। यही अनादि, अनन्त, पूर्णज्ञान-मय परमात्माकी ज्ञानराशिका जगन्माताकी स्वाभाविक कृपासे पुनः पुनः वेदरूपसे प्रकाशित होनेका सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

सनातनधर्मके वेद और सब शास्त्र एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं कि, महाप्रलयके अनन्तर किसी ब्रह्माण्डकी नयी सृष्टि होती है, तो उस समय प्रथम सत्ययुग होता है और पूर्णावयव जीवसमूह उत्पन्न होते हैं। दूसरी ओर मनुष्य सृष्टिमें पूर्ण उत्पन्न होनेके कारण प्रथम मनुष्यसृष्टिमें सनक, सनन्दन, सनातनादि पूर्णज्ञानी मानव उत्पन्न होते हैं और

वे परमहंस होते हैं। उनमें वासनाका लेश न रहनेसे उनसे सृष्टिका विस्तार नहीं हो सकता। तब भगवान् ब्रह्मा अगत्या प्रजापतियोंकी सृष्टि करते हैं। उसके अनन्तर मानसिक सृष्टि प्रारम्भ होती है। उसके अनन्तर जो तीसरी श्रेणीकी सृष्टि होती है, वह स्त्री-पुरुषजनित वैजी सृष्टि होती है। वेद और पुराणोंमें लिखा है कि, उस समयके मनुष्य सत्त्व-प्रधान होनेके कारण सभी ब्राह्मण होते हैं। ऐसी ही सृष्टिकी प्रारम्भावस्थामें पूर्णावयव ब्राह्मणोंमेंसे जो नित्य ऋषियोंके अवतार होते हैं, उनके अन्तःकरणोंमें वेदका आविर्भाव हुआ करता है। वेदका जितना प्रकाशित होना जिस कल्पके लिये आवश्यक होता है, उतना वह उसीतरह कल्पकी प्रारम्भिक दशामें प्रकाशित हो जाता है।

गायक और गायककी गान-शक्तिके समान पूर्णज्ञानमय परमात्माके सम्बन्धसे और उसकी शक्तिके बलसे वेद ऋषियोंके अन्तःकरणोंमें नादरूपसे प्रकट होते हैं। इसकारण वेद अपौरुषेय हैं। जैसे गायकको न देखने परभी गायककी गान-शक्तिका प्रभाव मनुष्यपर पड़ता है, इसीप्रकार अपौरुषेय वेद प्रकट होते समय उसके प्रकट करनेवाले भगवान् ब्रह्माका साक्षात्कार न होनेपरभी महर्षिओंके अन्तःकरणमें वेदोंका आविर्भाव होकर ज्ञानका वीजारोपण हो जाता है।

वेदोंमें कहा है कि, भगवती सरस्वती पञ्चधाराओंमें

प्रवाहित होती है। उसीप्रकार तन्त्रोंमें कहा है कि, पुस्तकें पांच प्रकारकी होती हैं। यथा,—नादपुस्तक, ब्रह्माण्डपुस्तक, पिण्डपुस्तक, विन्दुपुस्तक और अक्षरमयी पुस्तक। इस प्रकार ज्ञान-राशिको व्यक्त करनेकी निमित्तरूप पुस्तकें पांच श्रेणीकी होती हैं। उनमेंसे प्रथम चार अलौकिक और अन्तिम एक लौकिक कहाती है। केवल अक्षरमयी पुस्तक नाना विप्लवोंसे नष्ट हो जाया करती है। परन्तु अन्य चार पुस्तकें नष्ट नहीं होतीं। दैवीजगत्‌में उनकी सदा सुरक्षा रहती है। यही पांच पुस्तकोंमें चार पुस्तकोंकी विशेषता है। दूसरी ओर इन चारों दैवीपुस्तकोंमें नादात्मक पुस्तककी विशेषता है। ब्रह्माण्ड पुस्तक, पिण्डपुस्तक और विन्दुपुस्तक, ये तीनों पुस्तकें त्रिमूर्ति, देवतागण और ऋषिगणकी प्रेरणासे साधक-के अन्तःकरणमें भावरूपसे सकलसमयमें प्रकाशित हो सकती हैं। परन्तु इन चारोंमेंसे नादपुस्तक—वेद, उसप्रकार भाव रूपसे प्रकाशित नहीं होते। वेदकी श्रुतियां वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक पूर्णस्वरूपमें यथावत् आदि सृष्टिमें मन्त्रद्रष्टा नित्य ऋषियोंमें अथवा उनके अवतार नैमित्तिक ऋषियोंके अन्तःकरणोंमें सुनाई देती हैं। यही अन्य सब पुस्तकोंसे नादा-त्मक वेदकी अपूर्वता और अलौकिकता है। जिन अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न साधकों अथवा योगियोंने कभी अपने शरीर अथवा दूसरेके शरीरमें दैवीपीठ स्थापन करके भूत-प्रेतादि क्षुद्र देव-योनियों अथवा अन्य पुनीत देव-योनियोंके साथ सम्बन्ध

बांधा हो, वे अनुभव करते हैं कि, जिस शरीरमें पीठ स्थापित होता है, उसको उक्त देवयोनियोके वाक्य बाहरसे सुनायी नहीं देते, अपने पिण्डके भीतरसे ही सुनायी देते हैं। इसी प्रत्यक्ष प्रमाणसे समझना उचित है कि, प्रत्येक कल्पकी प्रथम अवस्थामें मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण अपने-अपने अन्तःकरणमें ऋचाओंको सुना करते हैं। यही वेदका अपौरुषेयत्व और अलौकिकत्व है। इसकारण यह दार्शनिक-दृष्टिसे समझनेयोग्य है कि, अन्य शास्त्रोंके सदृश अथवा लौकिक साहित्यके सदृश श्रुतियोंमें लौकिक शब्द-विन्यासका कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् वे मनुष्यद्वारा गढ़ या रचे नहीं गये हैं, वे ज्योंकेत्यों योगयुक्त अन्तःकरणोंमें आविर्भूत हुए हैं।

वेद स्वयं कहते हैं:—"त्रयोऽर्थाः सर्ववेदेषु।" इसका तात्पर्य यह है कि, जैसे परमात्मा-परब्रह्म सत् चित् और आनन्दमय त्रिभावसे पूर्ण हैं, दूसरीओर वे जैसे भक्तोंके हृदयोंमें उनके अध्यात्मस्वरूप ब्रह्म, उनके अधिदैवस्वरूप ईश्वर और उनके अधिभूतस्वरूप विराट् पुरुषरूपसे तीन स्वतन्त्र भावोंसे प्रकट होते हैं, और उनके स्वानुभवमें आते हैं, वैसेही भगद्वाक्यरूपी वेदके सब मन्त्र आध्यात्मिक अर्थ, आधिदैविक अर्थ, और आधिभौतिक अर्थ तथा त्रिविध भावोंसे पूर्ण होते हैं। इसकारण वेदके पाठ और मनन करते समय प्रत्येक व्यक्तिको स्मरण रखना उचित है कि, प्रत्येक मन्त्रका अर्थ एक ही प्रकारसे नहीं, तीन स्वतन्त्र प्रकारसे हुआ करता

है। दूसरीओर जब श्रीभगवान्के सदृश ऋचाओंमें तीन भाव गुम्फित हैं और उनकी शक्तिका विकाशभी उनमें है, तो प्रत्येक मन्त्रकी उपयोगिताभी त्रिविध होगी॥ अतः वेदपाठी सज्जनोंको यह सब समय स्मरण रखना चाहिये कि, प्रत्येक श्रुतिकी उपयोगिता कर्म-काण्ड, उपासनाकाण्ड-और ज्ञान-काण्ड तीनोंमें समानरूपसे हो सकती है। अश्वमेधयज्ञके कर्म्म-काण्डके मन्त्र कैसे ज्ञान-काण्डमें उपयोगी हो सकते हैं, यह बृहदारण्यक उपनिषद्से प्रमाणित होता है। इसीप्रकार तीनों काण्डोंका उपयोग समझना उचित है।

मीमांसा-शास्त्र यह प्रतिपन्न करता है कि, वेद पूर्ण ज्ञानमय होनेसे उसकी भाषा आठ प्रकारके भावोंको प्रकाशित करनेवाली होती है। जिसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतामें जड़ाप्रकृतिके आठ भेद वर्णन किये गये हैं, उसीप्रकार श्रीभगवान्की चिन्मयी प्रकृतिके आठ भाग हैं। वे ही श्रुतियोंमें प्रकाशित होते हैं। यहभी वेदका असाधरणत्व है। वेदका प्रत्येक मन्त्र अध्यात्म, अधिदैव, और अधिभूत इन तीनों भावोंसे पूर्ण है और साथ-ही साथ कर्म, उपासना और ज्ञान, इन त्रिविध क्रियाओंसे सम्वलित है, जैसा कि, ऊपर कहा गया है। उसीप्रकार वह अन्तर और वहिः प्रकाशक दो ज्योतियोंसे पूर्ण है। तात्पर्य्य यह है कि, वेदके प्रत्येक मन्त्रको समाधिबुद्धिद्वारा संयम करके देखनेसे यही स्वानुभवमें आवेगा कि, वेदके प्रत्येक मन्त्रमें आध्यात्मिक भावकी पूर्णता, आधिदैविक भावकी पूर्णता, आधि-

भौतिक भावकी पूर्णता, कर्म-काण्डकी उपयोगिता, उपासना-काण्डकी उपयोगिता, ज्ञानकाण्डकी उपयोगिता साथ-ही-साथ अन्तर्राज्यसम्बन्धीय प्रकाश डालनेकी शक्तिकी उपयोगिता, इसप्रकारसे आठों अधिकारोंकी पूर्णता विद्यमान है। और वेदकी वर्णनशैलीकी विलक्षणता तो सर्ववादि-सम्मत है।

वेदकी भाषा समाधि, लौकिकी और परकीया इसप्रकारसे तीन अधिकारोंसे पूर्ण है। वेदके ये ही तीन अधिकार पुराणादिशास्त्रोंमेंभी विस्ताररूपसे पाये जाते हैं। जहां दुरूह-विज्ञान-समूह और अकाट्य सिद्धान्तसमूहका यथार्थ स्वरूपवर्णन है, यथा ब्रह्मका स्वरूप, उसके भावोंका स्वरूप, उसकी प्रकृतिका स्वरूप, उसकी प्रकृतिके तीन गुणोंका स्वरूप, कर्मका स्वरूप, कर्म-विपाकका स्वरूप, देवताओंका स्वरूप, दैवीजगत्‌का स्वरूप इत्यादि वर्णित है, वहां समाधि भाषा है, ऐसा समझना चाहिये। जहां इन सब समाधिगम्य विषयोंका लौकिक रीतिपर वर्णन जीवोंके कल्याणके लिये आया है, वह लौकिक भाषा है। और जहां कल्पकल्पान्तरोंकी सृष्टिमेंसे इन दोनों विषयोंकी पुष्टिके निमित्त अथवा धर्मसंस्थापनके निमित्त पुनीत चरितावलियोंका उल्लेख है, वह सब परकीय-भाषा कहाती है। अतः वेदके अनुशीलनकारी विद्वानोंको इन तीनों वर्णन-शैलियोंका पूरा विचार रखकर तब वेदार्थ समझनेमें प्रयत्नशील होना चाहिये। और साथ-ही साथ अनादि, अनन्त, अपौरुषेय वेदोंके आविर्भावके काल-निर्णय करनेमें

वृथा कालक्षेप करके जीवकी अल्पज्ञताको दर्शाना नहीं चाहिये। तथा अनादि अनन्त कालमेंसे कल्पकल्पान्तरोंकी शुभ चरितावलीको वेदोंमें देखकर लौकिक इतिहासकी पर्यालोचना करके हास्यास्पद नहीं होना चाहिये।

ब्रह्म-शक्ति महामाया जब अद्वैत स्वस्वरूपसे पृथक् होकर त्रिगुणरूपको धारण करती हुई जगत्की सृष्टि स्थिति और लयका कार्य करती है, उस व्यक्तावस्थामें उस महाशक्तिरूपिणी महामायाके दो पृथक् पृथक् स्वरूप माने गये हैं। एक ज्ञान-जननी विद्या और दूसरी अज्ञान-जननी अविद्या। सत्त्वगुणमयी विद्यादेवी सरस्वती, सावित्री और गायत्री इन त्रिमूर्तियोंको धारण करके वेद जननी कहाती है, और तमोगुणमयी अज्ञान-जननी अविद्या जीवको मोहान्धकारमें डालकर और जन्म-मृत्युमें फँसाकर आवागमन-चक्रमें घुमाया करती है। वेद-जननी विद्यादेवीका कार्य जीवको ज्ञान प्रदान करके मुक्तिपदपर पहुंचाना है और दूसरीओर अज्ञान-जननी अविद्या देवीका कार्य सृष्टि-लीला विस्तार करके जीवको मायाजालमें फँसा रखना है। इन्हीं दोनों सत्त्व और तमोगुणकी परिधिके अनुसार एकओर धर्म और दूसरीओर अधर्म, एकओर मुक्ति और दूसरीओर बन्धन, एकओर चेतनता और दूसरीओर जड़ता, एकओर प्रकाश और दूसरीओर अन्धकार, एकओर अभ्युदय और निःश्रेयस, और दूसरीओर पतन और अधोगतिका प्रवाह बहता रहता है। वेदके कर्म-मीमांसा

शास्त्रमें इन्हीं दोनों गतियोंकी अच्छीतरह पर्यालोचना करके वैदिक संस्कारसमूह और अधर्मसे बचनेके लिए धर्मके साधन-समूहका पथ विशद किया गया है। कर्म-मीमांसाके अनुसार कर्मके बीजरूपी संस्कारके दो भेद माने गये हैं। एक अस्वा-भाविक संस्कार और दूसरा स्वाभाविक संस्कार। अस्वाभा-विक संस्कार अविद्याका पथ परिष्कृत करता है और जीवको आवागमन-चक्रमें निरन्तर घुमानेका कारण बनता है। स्वाभाविक संस्कार विद्याका पथ सरल करके ज्ञानोदय कराता है। धर्मकी जीवधारिका शक्ति चतुर्विध भूतसंघकी क्रमोन्नति कराकर मानवपिण्ड प्रदान करती है और तदनन्तर धर्मके ऊर्ध्वगति-प्रवाहको अबाध और सरल बनाकर असभ्य मनु-ष्यसे सभ्य मनुष्य, अनार्यसे आर्य, शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे ब्राह्मण, वेदपाठीसे वेदज्ञ, वेदज्ञसे आत्म-ज्ञानी बनाकर निःश्रेयस-भूमिमें पहुँचा देती है। उसके मूलमें एकमात्र स्वाभाविक संस्कार विद्यमान है। वह स्वाभाविक संस्कार उद्भिज्जके अनादि सहजपिण्डमें प्रकृति माताकी स्वाभा-विक गतिसे प्रकट होता है और अन्तमें धर्मकी ऊर्ध्वगतिको अबाध रखकर जीवको मुक्ति भूमिमें पहुंचाकर प्रकृतिके साथ स्वस्वरूपमें लय हो जाता है। परन्तु अस्वाभाविक संस्का-रकी गति इससे विपरीत है। वह मनुष्य पिण्डमें उत्पन्न होता है और जीवको जीवके किये हुए कर्मोंमें फँसाकर मृत्युलोकसे प्रेतलोक, नरकलोक, देवलोक, असुरलोक, पुनः मृत्युलोक,

पुनः लोकलोकान्तरमें सुख-दुःखके बहाने, कर्म-विपाकके निमित्तसे निरन्तर आवागमनके चक्रमें घुमता रहता है। इसी अस्वाभाविक संस्कारके फन्देसे बचाकर स्वाभाविक संस्कारकी सरलगतिमें पहुंचानेके लिये वेद और वेद-सम्मत शास्त्रोंने नाना वैदिक संस्कारोंकी विधि बतायी है। उन्हीं वैदिक संस्कारोंसे संस्कृत द्विज पुरुष अथवा अग्निहोत्री दम्पति वेदपाठ और वैदिक कर्म-काण्डके अधिकारी बनाये गये हैं। असंस्कृत पुरुष अथवा स्त्रियां वेदकी अधिकारिणी नहीं मानी गई हैं। इसका गूढ़ रहस्य यही है। यही कारण है कि, अविद्या पथके पथिक असंस्कृत, अनार्य, स्त्री, पुरुष, विद्या-सेवित वैदिक मार्गके अधिकारी नहीं बन सकते हैं। यही दार्शनिक-विज्ञान वेदपाठके अधिकारनिर्णयकी मूल भित्ति है, इस अधिकारमें तारतम्य अवश्यही हो सकता है। परन्तु इसका मूलभूत सिद्धान्त अकाट्य है, इसमें सन्देह नहीं। अतः वेदपाठके अधिकारनिर्णयमें जो शास्त्रीय आज्ञा है, वह सर्वथा सत्य सिद्धान्त मूलक है।

इसीप्रकार वेदार्थ समझनेका जो अधिकार है, वहभी वेदपाठी सज्जनोंके ध्यानमें रखने योग्य है। जिसप्रकार यावत् तत्त्वज्ञानकी अन्तिम सीमाका जो वेदान्त-शास्त्र है, उसके उपदेश प्राप्त करनेके लिये साधन चतुष्टय प्राप्त करनेकी नितान्त आवश्यकता होती है, उसीप्रकार वेदके लोकातीत भावोंको हृदयङ्गम करनेके लिये उच्चतर ज्ञानाधिकारकी

आवश्यकता होती है। क्यों ऐसी सूक्ष्म बुद्धिकी आवश्यकता होती है? इसकेलिये उपर्युक्त वर्णनमें यथेष्ट प्रमाण है। प्रथम रजोवीर्यकी शुद्धिके द्वारा पिण्डकी शुद्धिकी आवश्यकता है। तदनन्तर वैदिक संस्कारोंके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिकी आवश्यकता है। तदनन्तर वेदोक्त कर्म-काण्डके साधनद्वारा मल शुद्धिकी आवश्यकता है। तदनन्तर उपासनासाधनके द्वारा मनकी विक्षेप-निवृत्तिकी आवश्यकता है। तदनन्तर दो पदार्थवाद-दर्शन, दो सांख्यप्रवचन-दर्शन; और वेदके तीन काण्डोंके अनुसार तीन मीमांसा-दर्शन, इसप्रकारसे सप्त-दार्शनिक विचारकी सहायतासे सप्तज्ञानभूमियोंमें उत्तरोत्तर आरोहण करके अपनी बुद्धिका आवरण नाश करता हुआ तत्त्वज्ञानी महापुरुष वेदार्थके गूढ़ रहस्योंको और उसके सब अलौकिक भावोंको यथार्थतः हृदयङ्गम करनेमें समर्थ होता है। तब वह महात्मा भगवती विद्यादेवीको पूर्ण कृपा प्राप्त करके पूर्ण-ज्ञानस्वरूप वेदपुरुषमें अपने अन्तःकरणको लय करके उपनिषद्का स्वानुभव प्राप्त कर लेता है। ऊपर लिखित दार्शनिक सिद्धान्तोंके विचारद्वारा अपौरुषेय वेदके स्वरूप, उसके पाठ करनेका अधिकार, उसके समझनेकी योग्यता और वेदके शिरो-भागरूपी उपनिषदोंके श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेके अधिकारके विषयमें यथासम्भव इङ्गित विद्वानोंको प्राप्त हो सकता है। यह तो निश्चय ही है कि विना सातो वैदिकदर्शन-सिद्धान्तोंके भलीभांति हृदयङ्गम किये कोईभी विद्वान् व्यक्ति उप-

निषदोंके न गम्भीर रहस्योंको भलीभांति समझ सकता है, और न उनके श्रवण, मनन, और निदिध्यासनद्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त कर सकता है।

इससमय एक हज़ार एकसौ अस्सी ११८० उपनिषदोंमें से जो बहुत थोड़ेसे उपनिषद् उपलब्ध हैं, उनमेंसे आकारमें छोटा होनेपरभी कठोपनिषद्का महत्त्व बहुत कुछ माना गया है। इसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गके मौलिक सिद्धान्तोंका पृथक् दिग्दर्शन पाया जाता है, इसमें दैवीनगरके सघठनके स्वरूपका बहुत कुछ रहस्य प्रकाशित है। इसकेद्वारा कर्मकाण्ड, उपासना-काण्ड, और ज्ञानकाण्ड तीनोंकी महिमाके साथ-ही-साथ पितृ-महिमा, अतिथिमहिमा, और दैव-जगत्की महिमाका बहुतकुछ दिग्दर्शन होता है। तत्त्वज्ञानकी उच्च सीमामें पहुंचाकर आत्मज्ञान लाभ कराने और भाग्यवान् महापुरुषको शरीर रहते हुए जीवन्मुक्त पदकी प्राप्ति करानेके लिये तो यह उपनिषद् प्रधान अवलम्बन है।

इस टीकामें भगवान् श्रीशंकराचार्यके भाष्यके पथपर ही चलकर उस पथके चारो ओरका सब दृश्य विस्तारूपसे दिखानेका प्रयत्न किया गया है।

टीकाकार ।

ॐ तत्सत् ।

भाष्य-भूमिका ।

—०※०—

ॐपरमात्मने नमः । ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्य्याय नचिकेतसे च । अथ कठोपनिषद्वल्लीनां सुखार्थप्रबोधनार्थमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते ।

सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्य उपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमिदम् "उपनिषत्" इति । उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासित-ग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्य-वस्तुविषया विद्योच्यते । केन पुनरर्थयोगेन उपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इति ? उच्यते, ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति, तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद् विनाशनात् इत्यनेनार्थयोगेन विद्योपनिषदित्युच्यते । तथा च वक्ष्यति, "निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते" इति । पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून् वा परं ब्रह्म गमयति, इति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद् ब्रह्मविद्या उपनिषत् । तथा च वक्ष्यति, "ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः" इति । लोकादिर्ब्रह्मजज्ञः योऽग्निः, तद्विषयाया विद्याया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोक-फलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्य अवसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन धात्वर्थयोगादग्निविद्यापि उपनिषदित्युच्यते । तथा च वक्ष्यति " स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते " इत्यादि ।

ननु चोपनिषच्छब्देन अध्येतारो ग्रन्थमप्यभिलपन्ति "उपनिषदमधीमहे,

उपनिषदमध्यापयामः” इति च। एवं; नैष दोषः, अविद्यादिसंसारहेतुविश-रणादेः, सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसम्भवाद् विद्यायाञ्च सम्भवात् ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः, “आयुर्वै घृतम्” इत्यादिवत्। तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्या उपनिषच्छब्दो वर्तते, ग्रन्थे तु भक्त्येति । एवमुपनिषन्निर्वचनेनैव विशिष्टोऽधिकारी विद्यायां उक्तः । विषयश्च विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम् । प्रयोजनञ्चास्या उपनिषद आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा । सम्बन्धश्चैवम्भूतप्रयोजनेनोक्तः । अतो यथोक्ताधिकारि-विषय-प्रयोजन-सम्बन्धाया विद्यायाः करतलन्यस्तामलकवत्प्रकाशकत्वेन विशिष्टाधिकारि-विषय-प्रयोजन-सम्बन्धा एता वल्ल्यो भवन्तीति । अतस्ता यथाप्रतिभानं व्याचक्ष्महे ।

भाष्य-भूमिकानुवाद ।

परमात्माको नमस्कार है, ब्रह्मविद्याके प्रवर्त्तक भगवान् वैवस्वत् और उनके शिष्य नचिकेताको नमस्कार है। अब कठोपनिषद्वल्लियोंको सरलतासे समझानेके लिये संक्षेपवृत्ति (व्याख्या) का प्रारम्भ किया जाता है—

‘सद्’ धातुका अर्थ—विशरण (शिथिलीकरण—जीर्णतासम्पादन), गति और अवसादन (विनष्टकरण) है। उप+नि पूर्वक ‘सद्’ धातुमें ‘क्विप्’ प्रत्ययके योगसे ‘उपनिषद्’ शब्द निष्पन्न हुआ है। व्याख्यातव्य ग्रन्थके प्रतिपाद्य और वेद्य वस्तु-सम्बन्धी विद्याको उपनिषद् कहते हैं। यदि शंका हो कि, किस अर्थके अनुसार “उपनिषद्” शब्दसे विद्याका ज्ञान होता है? इसलिये कहते हैं,—जो मुमुक्षु पुरुषगण दृष्ट-आनुश्रविक (ऐहिक और

पारलौकिक) विषय-भोगमें वितृष्ण होकर अर्थात् इच्छारहित होकर "उपनिषत्"शब्दवाच्य, वक्ष्यमाण (जिसका वर्णन इसमें किया जायगा) विद्याका आश्रय लेकर तद्गतभावसे निःसंशय-चित्त हो इस विद्याका अनुशीलन करते हैं, उनका संसार-बीज अर्थात् जन्म-मरणकी कारणभूता अविद्यादिको विशीर्ण (शिथिल या क्षयोन्मुख) करती है एवं हिंसा करती है—नाश कर देती है; इस प्रकारके अर्थ-योगसे ही विद्याको "उपनिषत्" कहा जाता है। इस उपनिषद्मेंभी कहेंगे कि,—"उसको जानकर मृत्यु-मुखसे विमुक्त होता है," अथवा, पूर्वोक्त लक्षण-सम्पन्न मुमुक्षुगणको परब्रह्मकी प्राप्ति कराती है, अर्थात् ब्रह्मतक पहुँचा देती है, इस ब्रह्म-प्राप्तिके साधनरूप अर्थके अनुसारभी "उप-निषत्" शब्दसे ब्रह्म-विद्याका ज्ञान होता है। इस ग्रन्थमें कहेंगे, "ब्रह्मको प्राप्तकर विरज और विमृत्यु हुए थे।" तद्‌तिरिक्त नचिकेताके द्वितीय वरमें प्रार्थनीय लोकोंकी आदि ब्रह्मजन्य जो अग्नि है, उस अग्नि-विद्याके प्रभावसे स्वर्गलोक लाभ किया जाता है तथा उसके फलसे जो वारम्वार गर्भवास-जन्म-जरा-मरणादि-रूप उपद्रव भोगना पड़ता है, उसका अवसादन या शिथिली-करण होता है; इस कारण उपरोक्त धात्वर्थानुसार अग्निविद्याकोभी "उपनिषत्" कहा जाता है। यहाँभी "स्वर्गगामीगण अमृतत्व भोग करतेहैं" इत्यादि वाक्यमें यही वात कहेंगे। अव प्रश्न होता है कि, पाठकगण ग्रन्थकोभी "उपनिषत्" कहा करते हैं, यथा—'उपनिषद् अध्ययन करते हैं, उपनिषद् अध्या-

पन्न करते हैं,' इत्यादि । इसमें दोष नहीं है; क्योंकि संसारके कारणीभूत अविद्यादि दोष-समूहका विशरण या शैथिल्य-करण आदि जो "सद्" धातुका अर्थ किया गया है, ग्रन्थमात्रमें उसकी सम्भावना नहीं है, किन्तु विद्यामें ही सम्भव है। विद्या-प्रतिपादक ग्रन्थकोभी उपनिषत् कह सकते हैं, जैसे "आयुर्वै घृतम्" अर्थात् घृत ही आयु है। (इस स्थानपर आयुका कारण होनेसे घृतको ही आयु कहा है)। अत एव ब्रह्म-विद्या ही "उपनिषद्" शब्दका मुख्य अर्थ और ग्रन्थमें उसका गौण अर्थ है। इस प्रकारसे 'उपनिषत्' शब्दके अर्थ-निर्णयसे ही ब्रह्म-विद्याके अधिकारीकीभी विशेषता कही गयी, ऐसा समझना चाहिये। उपनिषद्का विषय—सर्वभूतोंका आत्मस्वरूप पर-ब्रह्म, संसारकी आत्यन्तिकी निवृत्तिरूप परब्रह्मकी प्राप्ति इसका प्रयोजन और उस प्रयोजनके साथ उपनिषत्का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकरूप सम्बन्धभी कहा गया है। यथोक्त प्रकार अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजनसे युक्त यह विद्या करतलन्यस्ता-मलकवत् (हाथपर रक्खे हुए आंवलेकी तरह) आत्माको प्रत्यक्ष कराती है, इसी कारण इस कठोपनिषद्की वल्लियाँ विशिष्ट अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजनयुक्त हैं, अतएव (भाष्यकार) यथामति उनकी व्याख्या करेंगे।

कृष्णयजुर्वेदीया

कठोपनिषत् ।

प्रथमा वल्ली ।

—०:*:०—

ॐ सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसन्ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

वाजश्रवसः (वाजमन्नं, तद्दानादिनिमित्तं श्रवः यशः यस्य सः, वाजश्रवाः, तस्य नप्तृरूपगोत्रापत्यं वाजश्रवसः औद्दालकिर्नाम ऋषिः) । स उशन्, ह वै (ह वै इति ऐतिह्यस्मारकौ निपातौ स्वर्गलोकमिच्छन्नित्यर्थः) सर्ववेदसं (सर्वस्वं) ददौ (ब्राह्मणेभ्यो दत्तवान्) । तस्य ह (प्रसिद्धस्य वाजश्रवसस्य) नचिकेता नाम (नचिकेतो नाम्ना प्रसिद्धः) पुत्रः आस (आसीत्) ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ ।

वाजश्रवस मुनिने स्वर्गलाभकी इच्छासे अपना सर्वस्व दान कर दिया था । उनको "नचिकेता" नामक पुत्र था ॥ १ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

तत्राख्यायिका विद्यास्तुत्यर्थां । उशन् कामयमानः, ह वै इति वृत्तार्थ-स्मरणार्थौ निपातौ । वाजमन्नं तद्दानादि-निमित्तं श्रवो यशो यस्य, सः वाज-श्रवाः, रूढितो वा, तस्यापत्यं वाजश्रवसः । सः वाजश्रवसः किल विश्वजिता सर्वमेधेनेजे तत्फलं कामयमानः । स चैतस्मिन् क्रतौ सर्ववेदसं सर्वस्वं धनं ददौ दत्तवान् । तस्य यजमानस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः किल आस बभूव ॥ १ ॥

भाष्यानुवाद ।

इस उपनिषद्में ब्रह्म-विद्याकी स्तुतिके लिये आख्यायिका (क़िस्सा) दी गई है । उशन्का अर्थ फलकी इच्छा करना है, 'ह' और 'वै' दोनों निपात शब्द हैं । इन दोनों पदोंका अर्थ अतीत घटनाका स्मरण कराना है । वाजका अर्थ अन्न है, अन्न-दानमें जिसका यश है, उसको 'वाजश्रवा' कहते हैं । अथवा वह अर्थहीन केवल नाम मात्र है । वाजश्रवाकी सन्तान—'वाजश्रवस' नामक ऋषिने यज्ञका यथोक्त फल पानेके लिये सर्वमेध (जिस-में सर्वस्व दान करनेकी विधि है) 'विश्वजित्' नामक यज्ञ किया था । उन्होने उस यज्ञमें अपनी सारी सम्पत्ति दान करदी थी । उस यजमानको-(जिन्होने उक्त यज्ञ किया था) नचिकेता नामक पुत्र था ॥ १ ॥

टीका ।

वेद तथा वेद-सम्मत शास्त्रोंमें तीन तरहकी वर्णन-शैली है । यही समाधि, लौकिकी और परकीया भाषा कहलाती है ।

जो भाषा समाधि-गम्य आध्यात्मिक रहस्य-प्रकाशक हो, वह समाधिभाषा है। जो भाषा समाधि-गम्य आध्यात्मिक रहस्य-को लौकिकरीतिसे प्रकाशित करती है, उसको लौकिकी भाषा कहते हैं। और जो भाषा समाधि-गम्य भावको गाथाके द्वारा हृदयङ्गम कराती है, उसको परकीया भाषा कहते हैं। वेदकी यह रुचिकर आख्यायिका-शैली तृतीयस्थानीय है। आर्य्य-रीति यही है कि, इस नाम-रूपात्मक संसारमें जो नाम रक्खा जाय, वह रूपके अनुकूल हो; अर्थात् पुरुष या स्त्रीका नामकरण इस विज्ञानके अनुसार सार्थक हो, ऐसा रक्खा जाता है। इसी सनातन आर्य-रीतिके अनुसार वाजश्रवस नामकी सार्थकता प्रसिद्ध है। यज्ञ विश्वधारक धर्मका प्रधान अङ्ग है। ब्रह्माण्ड-पिण्डात्मक विश्वको धर्मकी धारिका शक्तिने ही धारण कर रक्खा है। उस विश्वधारक धर्मकी क्रिया मनुष्य-पिण्डमें होते समय उसके तीन अङ्ग बन जाते हैं, यथा यज्ञ, तप और दान। यथा—

"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्"

यज्ञधर्मके पुनः कई भेद हैं। इसी कारण यज्ञ और धर्म दोनो पर्य्याय-वाचक शब्द कहाते हैं। यथा—

"एवं यज्ञस्तथा धर्म उभौ पर्य्यायवाचकौ।
कथितौ वेदनिष्णातैः शास्त्रज्ञैः शास्त्रविस्तरे।"

मनुष्यधर्मके अङ्गोंमें यज्ञकी प्रधानता है। इस कारण कर्म-

यज्ञ, उपासनायज्ञ और ज्ञानयज्ञरूपमें उसके विस्तार अनेक हैं। यज्ञके लक्षणके विषयमें शास्त्रोंमें ऐसा कहा है—

विशिष्टचेतनायुक्ता नराद्या जीवजातयः ।
स्वस्वभाविकयोः सौख्यैश्वर्य्ययोस्त्यागतो ध्रुवम् ॥
अदृष्टशक्तिं परमां यां लभन्ते सुरर्षभाः ।
तमेव यज्ञं संप्राहुः सर्वे तत्त्वविवेचकाः ॥

विश्वजित् यज्ञ सबसे बड़ा यज्ञ माना जाता है। क्योंकि इसमें यज्ञ, तप और दान, तीनोंकी पराकाष्ठा रहती है और यज्ञ-कर्त्ता यज्ञकी समाप्तिमें अपना सर्वस्व दान कर देता है। यह प्रथम मन्त्र, भगवान् धर्मराज यम और महर्षि वाजश्रवसके पुत्र नचिकेताके परस्परमें पितृलोकके अन्तर्गत धर्मराजकी राज-धानीमें जो सम्वाद हुआ है, उसका प्रस्तावक है। इसी कारण धर्म और यज्ञका स्वरूप हृदयङ्गम करनेके लिये इस मन्त्रमें विश्वजित्यज्ञका प्रकरण आया है ॥ १ ॥

त꣡ᳫं ह कुमार꣡ᳫं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धा-विवेश । सोऽमन्यत ॥ २ ॥

दक्षिणासु नीयमानासु (पित्रा जरा-जीर्णासु गोषु ब्राह्मणेभ्यो दक्षि-णार्थं दीयमानास्वित्यर्थः)। तं कुमारं सन्तं (बाल्ये वयसि स्थितं नचि-केतसं) श्रद्धा (आस्तिक्यबुद्धिः) आविवेश (प्रविवेश श्रद्धावान् बभूव इत्यर्थः)। सः (नचिकेताः) अमन्यत (मनसि अकरोत्) ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ ।

दक्षिणास्वरूप लेजाते हुए (गौओंको देख) उस बालक

नचिकेताके हृदयमें श्रद्धाका उद्रेक हुआ, वह मन-ही-मन सोचने लगा ॥ २ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

तं ह नचिकेतसं कुमारं प्रथमवयसं सन्तमप्राप्तप्रजननशक्तिं बालमेव श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिः पितुर्हितकामप्रयुक्ता आविवेश प्रविष्टवती। कस्मिन् काले ? इत्याह ऋत्विग्भ्यः सदस्येभ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभागेनोपनीयमानासु दक्षिणार्थासु गोषु स आविष्टश्रद्धो नचिकेताः अमन्यत ॥२॥

भाष्यानुवाद ।

प्रथम अवस्थास्थित उस कुमार अर्थात् उस समय उनमें सन्तानोत्पत्तिकी शक्ति नहीं हुई थी, ऐसे बालक होनेपरभी नचिकेतामें पिताकी हिताकांक्षासे श्रद्धा अर्थात् आस्तिक्यबुद्धि प्रविष्ट हुई थी। किस समय ? सो कहते हैं—जिस समय ऋत्विक्गण एवं सदस्यगणके लिये दक्षिणा लिये जारहे थे अर्थात् यज्ञके व्रती तथा क्रियाओंके दोष-गुणकी परीक्षाकरनेवाले सदस्यगणकी दक्षिणाके लिये जब पृथक्-पृथक्रूपसे गौओंको लारहे थे, उसी समय नचिकेता श्रद्धायुक्त होकर मनमें सोचने लगा ॥ २ ॥

टीका।

सात्त्विकधर्म-साधन और उसके द्वारा अभ्युदय तथा निःश्रेयसकी प्राप्ति और अभ्युदय-निःश्रेयस-प्राप्तिके निमित्त यमलोकमें जाकर भगवान् धर्मराज यमकी कृपा-प्राप्ति तभी हो सकती है, जब सात्त्विक श्रद्धाका उदय हो। भाग्यवान् ऋषि-बालक नचि-

केतामें उसके पूर्वजन्मार्जित पुण्यबलसे श्रद्धाका उदय होना, और धर्मके फलप्राप्तिके लिये सबसे प्रथम श्रद्धाकी आवश्यकता इस मन्त्रमें दिखायी गयी है। प्रथम श्रद्धा, तत्पश्चात् सत्यरूपी ब्रह्मका प्रकाश होना है, ऐसा वेद कहते हैं। बिना श्रद्धाके अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त नहीं होता है। यही इस मन्त्रद्वारा लक्ष्य कराया गया है ॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्॥३॥

पीतोदकाः (पीतमेव उदकं याभिः, न पुनः पातव्यमस्ति, ताः)। जग्धतृणाः (जग्धमेव तृणं याभिः, न तु जग्धव्यमस्ति, ताः, तथोक्ताः भोग-शक्तिहीना इति यावत्)। दुग्धदोहाः (दुह्यत इति दोहः, क्षीरम्। दुग्ध एव दोहो यासां, न पुनः दोग्धव्यमस्ति, ता दुग्धहीनाः)। निरिन्द्रियाः (इन्द्रियशक्तिशून्याः वृद्धा इति भावः) ताः (उक्तरूपा गाः) ददत् (प्रयच्छन्) सः (पुमान्) तान् (लोकान्) गच्छति। ते (प्रसिद्धाः) अनन्दाः (अविद्यमानसुखाः) ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ ।

जो गौयें सर्वदाके लिये जलपान कर चुकी हैं, घास खा-चुकी हैं, दुग्ध देचुकी हैं तथा शिथिल-इन्द्रिय होचुकी हैं, उन गौओंको जो दान करता है, वह अनन्द अर्थात् आनन्द-रहित प्रसिद्ध लोकमें गमन करता है ॥ ३ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

कथं ?—इत्युच्यते—पीतोदका इत्यादिना । दक्षिणार्था गावो विशे-

'प्यन्ते,—पीतमुदकं याभिः ताः पीतोदकाः । जग्धं भक्षितं तृणं याभिः ताः जग्धतृणाः । दुग्धो दोहः क्षीराख्यो यासां ता दुग्धदोहाः । निरिन्द्रियाः प्रजननासमर्थाः जीर्णाः निष्फला गाव इत्यर्थः । याः ता एवम्भूताः गाः ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा-बुद्ध्या ददत् प्रयच्छन् अनन्दा अनानन्दाः असुखा नामेत्येतत् । ये ते लोकाः, तान् स यजमानो गच्छति ॥ ३ ॥

भाष्यानुवाद ।

किस प्रकार (चिन्ता करते थे) ? "पीतोदकाः" इत्यादि-वाक्योसे कहा जाता है,—जो गौयें पीतोदक—जिन्होंने अन्तिम उदक (जल) पी लिया है, पुनः नहीं पीयँगी । जग्धतृणा जिन्होंने (हमेशाके लिये) तृण भक्षण करलिया है (फिर नहीं भक्षण करेंगी) । दुग्धदोह, जिनका अन्तिम दुग्धदोहन हो चुका है (अब नहीं दुहा जायगा) तथा निरिन्द्रिय—सन्तानोत्पत्तिकी शक्ति जिनमें नहीं है अर्थात् जो जरा-जीर्ण और निष्फल हैं; इस प्रकार गौओंको जो यजमान दक्षिणामें दान करता है, ऐसे दानके फलसे वह यजमान (यज्ञकर्त्ता) उस प्रसिद्ध आनन्द-रहित लोकमें गमन करता है ॥ ३ ॥

टीका ।

भगवत्-कृपासे जिस भाग्यवान् अधिकारीमें धर्मपर श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसमें अधर्मकी ओरसे स्वाभाविक अरुचि और भय उत्पन्न होता है; इसी कारण भाग्यवान् बालक नचिकेतामें इस प्रकारसे अधर्ममें अरुचिकारक और धर्ममें श्रद्धाजनक भाव

उत्पन्न हुआ था। यह मन्त्र दान-धर्मके विज्ञानकाभी सहायक है। दाताको उत्तमसे उत्तम वस्तु दान-धर्मके अभिप्रायसे अथवा पूजाके उपचाररूपसे देनी चाहिये। निकृष्ट पदार्थ दान करनेसे दाताको इस लोकमें अकीर्ति और परलोकमें नरककी प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति ।
द्वितीयं तृतीयं तँ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति॥४॥

सः (नचिकेताः) ह (ऐतिह्यद्योतकमव्ययम्) पितरं (उपगम्य) उवाच, तत (हे तात !) कस्मै (ऋत्विजे) मां दास्यसि इति द्वितीयं तृतीयं (एवंप्रकारेण द्वितीयवारं तृतीयवारं अपि उवाच—कस्मै मां दास्यसीति)। [अनन्तरं पिता क्रुद्धः सन्] तं (पुत्रं ह किल) उवाच, त्वा (त्वां) मृत्यवे (यमाय) ददामि ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ ।

नचिकेताने पितासे कहा, हे तात! आप मुझे किस ऋत्विक्को दान करेंगे? दो वार तीन वार इसी प्रकारसे पूँछनेपर, पिताने पुत्रको कहा कि तुम्हें यमको देता हूँ ॥ ४ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

तदेवं क्रत्वसम्पत्तिनिमित्तं पितुरनिष्टं फलं मया पुत्रेण सता निवारणीयम् आत्मप्रदानेनापि क्रतुसम्पत्तिं कृत्वा, इत्येवं मन्यमानः पितरमुपगम्य स होवाच पितरम् हे तत तात, कस्मै ऋत्विग्विशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसीति प्रयच्छसीति। एतदेवमुक्तेनापि पित्रा उपेक्ष्यमाणोऽपि द्वितीयं

तृतीयमपि उवाच—कस्मै मां दास्यसि, कस्मै मां दास्यसि इति। नायं कुमारस्वभाव इति क्रुद्धः सन् पिता तं ह पुत्रं किल उवाच,—मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति ॥ ४ ॥

भाष्यानुवाद।

नचिकेताने सोचा कि, इस प्रकार यज्ञकी असम्पूर्णताके कारण पिताको जो अशुभफल होनेकी सम्भावना है, मुझे प्राण देकरभी यज्ञकी पूर्णता करके उससे पिताको बचाना चाहिये। क्योकि मैं उनका पुत्र हूं। ऐसा सोचकर नचिकेता पिताके समीप जाकर कहने लगे—तत! (पितः!) मुझको दक्षिणा-रूपसे किस ऋत्विक्को दान करेंगे? नचिकेताके ऐसा कहनेपर भी प्रथमतः पिताने उसकी उपेक्षा की, किन्तु उपेक्षित होकरभी नचिकेता पुनः बोलने लगे कि, मुझे किसको दान करेंगे,—मुझे किसको दान करेंगे? नचिकेताके दो-तीन बार इसी प्रकार कहनेपर पिताने समझा कि, इसका स्वभाव तो बच्चोंकी तरह नहीं है, (धृष्टता है) तब क्रोधित होकर पुत्रको कहा कि,—तुझे वैवस्वत मृत्युको देता हूं ॥ ४ ॥

टीका।

ऋषि होनेपरभी वाजश्रवस जब धर्म करते समय लोभवश अधर्म कर रहे थे, तो उस असत् कर्म-प्रभावसे उनकी बुद्धि मलिन हो गई थी। इस कारण वे धार्मिक पुत्र नचिकेताके बालसुलभ, पितृभक्तिपूर्ण और धर्मभाव गुम्फित वचनोका मर्म समझ नहीं सके और क्रोधित हो गये। बालकका भाव, सात्विक

श्रद्धा और धर्मभावसे पूर्ण होनेके कारण अपने पितृदेवको सचेत करनेका था । परन्तु पिता उस शुद्ध भावको समझ नहीं सके और विचलित होकर दैव-वश ऐसे अशुभ वचनको अपने मुंहसे निकाल डाला ॥ ४ ॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
कि ँ स्विद्व यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति॥५॥

बहूनां (शिष्य-पुत्रादीनां मध्ये) प्रथमः (मुख्यः) एमि (भवामि) । बहूनां मध्यमः एमि । यमस्य किंस्वित् कर्त्तव्यं (तत् प्रयोजनं आसीत्) यत् (यत् प्रयोजनं) अद्य मया करिष्यति (सम्पादयिष्यति) ॥५॥

मन्त्रार्थ ।

बहुतोंमें मैं प्रथम हुआ हूं, बहुतोंमें मैं मध्यम हुआ हूँ । यमका क्या कार्य है जो (पिता) आज मेरे द्वारा सम्पादन करावेंगे ॥ ५ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

स एवमुक्तः पुत्रः एकान्ते परिदेवयाञ्चकार । कथमिति उच्यते— बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वा एमि गच्छामि प्रथमः सन् मुख्यया शिष्यादि-वृत्त्या इत्यर्थः । मध्यमानां च बहूनां मध्यमो मध्यमयैव वृत्त्या एमि, नाधमया कदाचिदपि । तमेवं विशिष्टगुणमपि पुत्रं मां "मृत्यवे त्वा ददामि" इत्युक्त-वान् पिता । स किंस्विद् यमस्य कर्त्तव्यं प्रयोजनं मया प्रदत्तेन करिष्यति, यत् कर्त्तव्यमद्य । नूनं प्रयोजनमनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान् पिता । तथापि तत् पितुर्व्वचो मृषा मा भूदिति ॥ ५ ॥

भाष्यानुवाद।

ऐसा कहनेपर पुत्र नचिकेता एकान्तमें बैठकर चिन्ता करने लगे। किस प्रकारकी चिन्ता? कहते हैं,—शिष्य एवं पुत्र आदिकी जो उत्तम वृत्ति (व्यौहार) है, उस व्यवहारके गुणोंमें वहु शिष्य या पुत्रादिकोंमें मैं प्रथमस्थानीय होता आया हूं, वहुतर मध्यम श्रेणीके शिष्यादिकोंके बीचमें मध्यम वृत्तिके (बीचो-बीचके व्यवहारके) द्वारा (अन्ततः) मध्यम स्थानभी प्राप्त करता आया हूं, किन्तु कभीभी अधम नहीं हुआ। ऐसे विशेषगुण-सम्पन्न पुत्र होनेपरभी पिताने मुझको "तुझे मृत्युको देता हूं" ऐसा कहा! वे आज मुझको देकर यमका कौनसा प्रयोजन सिद्ध करेंगे? निश्चय ही पिताने विना किसी प्रयोजनके ही केवल क्रोधवशात् मुझको ऐसा कहा है। तथापि पिताकी उक्ति मिथ्या न हो॥ ५॥

टीका।

श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। तामसिक श्रद्धा इहलोकमें शान्ति और सुखप्रद, राजसिक श्रद्धा पारलौकिक अभ्युदयप्रद और सात्त्विक श्रद्धा आत्मज्ञान और निःश्रेयसप्रद होती है। भाग्यवान् बालक नचिकेता अपने पूर्वजन्मार्जित असाधारण तप और धर्म-बल-से स्वतः सात्त्विक श्रद्धाके अधिकारी थे। इस कारण ऐसे संयोग-वियोग और जीवन-मरणकी गुरुतर सन्धिमेंभी उनकी ऐसी पुण्यमय सुन्दर भावना बनी रही। मनुष्यत्वका सर्वो-

त्तम धर्म-लक्षण कृतज्ञता है । सात्त्विक श्रद्धा-सम्पन्न, पूर्णावयव मनुष्यत्वप्राप्त, परम धार्मिक बालक नचिकेतामें स्वभावसे ही गुरुभक्ति और पितृभक्तिका पूर्ण विकाश बना था । प्राचीन कालमें प्रायः ऋषि-बालकोंको अपने पितृ-गृहमें रहकर ही गुरु-गृहवासका अवसर मिलता था । ऋषि पिता गुरुभी हुआ करते थे । ऋषि-युगमें प्रायः विद्वान् ब्राह्मणगण गृहस्थाश्रम-को अपने तप, त्याग और ज्ञानके प्रभावसे शीघ्र ही छोड़ दिया करते थे । और दूसरी ओर सन्न्यासाश्रम बहुत कम महापुरुष ग्रहण करते थे । अतः उस शान्तिमय युगमें विद्वान् ब्राह्मणोंमें वानप्रस्थाश्रमका प्रचार सबसे अधिक था । उसी युगमें ब्राह्मण-मण्डलीने यथार्थतः जगद्गुरुकी पदवी प्राप्त की थी । अतः उस समय प्रायः ऋषि-कुमारोंको अपने पिताके निकट रहकर ही गुरु-गृहवासका त्रिलोकपवित्रकारी सुख प्राप्त होता था । भाग्यवान् नचिकेता अपने पितृदेवको गुरु करके भी जानते थे । इस कारण वे अपने गुरु और पिताके प्रति कृतज्ञ होकर अति भक्तिभावसे सोचने लगे कि "मेरे पितृदेवसे दो सम्बन्ध है । उन्हीं दोनों सम्बन्धोंको मैं यथाशक्ति अच्छी तरह धर्मभावसे निभाता रहा हूं और उक्त धर्म-पालनमें मैं कभी नीचे नहीं गिरा हूं । मेरे परमपूज्य पिता और गुरुदेवने जो ऐसी आज्ञा की है, इसमें दैव ही कारण है, और वे जब ऋषि हैं तो असत् वचन उनके मुखसे नहीं निकल सकता है । इस कारण मेरी मृत्यु होगी और मैं यमलोकको जाऊँगा ।"

पितृभक्त पुत्रकी बुद्धि ऐसी घोर सन्धिमेंभी विचलित नहीं हुई। और उनमें सात्त्विक श्रद्धा रहनेके कारण वे सोचने लगे कि "मेरी मृत्यु होकर यमलोकमें जानेपर वहां कुछ शुभ ही होगा। वह शुभ क्या है? पिताका क्या शुभ है, जो इस यात्रामें मुझसे सुसिद्ध हो सकता है? यदि इसमें दैव कारण है, तो यमलोकमें भगवान् धर्मराज यमका कौनसा कार्य्य मेरे द्वारा सुसिद्ध हो सकता है?" इत्यादि। धर्मात्मा व्यक्ति तथा सात्त्विक श्रद्धासे युक्त महापुरुषकी पितृ-भक्ति, गुरु-भक्ति और धर्मपर दृढ़ता गुरुतरसे गुरुतर सन्धि उपस्थित होनेपरभी नष्ट नहीं होती हैं॥ ५॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुनः॥६॥

पूर्वे (पूर्ववर्त्तिनः) यथा (येन प्रकारेण) अनुपश्य (पूर्वक्रमेण आलोचय) तथा अपरे (वर्त्तमानाः साधवश्च) प्रतिपश्य (विचारय)। मर्त्यः (मरणधर्मा मनुष्यः) सस्यमिव पच्यते (काल-कर्म-वशात् मरणोन्मुखी भवति—म्रियते इति यावत्) सस्यम् इव पुनः आजायते (काल-कर्म-वशात् उत्पद्यते च)॥६॥

मन्त्रार्थ।

पूर्वजोंके (चरित्रको) देखिये और वर्तमान (साधुगणके चरित्रको) विचार कर देखिये। मरणशील मनुष्य सस्यकी तरह मर जाता, और पुनः सस्यकी तरह उत्पन्न होता है॥ ६॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

एवं मत्वा परिदेवना-पूर्वकमाह पितरं शोकाविष्टं "किं मयोक्तम्" इति । अनुपश्य आलोचय विभावय अनुक्रमेण—यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वे अतिक्रान्ताः पितृ-पितामहादयस्तव, तान् दृष्ट्वा च तेषां वृत्तम् आस्थातुम् अर्हसि। वर्त्तमानाश्च अपरे साधवो यथा वर्त्तन्ते, तांश्च तथा प्रतिपद्य आलोचय । न च तेषां मृषाकरणं वृत्तं वर्त्तमानं वा अस्ति । तद्विपरीतमसताञ्च वृत्तं मृषाकरणम् । न च मृषा कृत्वा कश्चिदजरामरो भवति । यतः सस्यमिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते, मृत्वा च सस्यमिव आजायते आविर्भवति पुनः । एवमनित्ये जीवलोके किं मृषाकरणेन ?—पालयात्मनः सत्यम् ;—प्रेषय मां यमायेत्यभिप्रायः ॥६॥

भाष्यानुवाद ।

(नचिकेताने) ऐसा सोचकर खिन्न हो "मैंने क्या कह डाला !" ऐसे पश्चात्तापसे शोकाकुल पिताको कहा कि, आपके पूर्वज पितृ-पितामहोने जिस वृत्तिका अवलम्बन किया था, एवं वर्त्तमान साधुगण जिस वृत्ति या व्यवहारका अवलम्बन करते हैं, सो एक-एक करके देखिये अर्थात् अच्छी तरह उसका विचार करिये। विचार कर आपकोभी उन्हीं लोगोंके चरित्रका अनुसरण करना उचित है । उन लोगोंके चरित्रमें मिथ्याचरण कदापिभी नहीं था, एवं वर्त्तमानमेंभी नहीं है । असाधुगण ही मिथ्या या असत्य आचरण किया करते हैं; किन्तु मिथ्याचरण करके कोईभी जरा-मरण-रहित नहीं हो सकता है । क्योंकि मर्त्य (मरणशील) मनुष्य सस्य (धान्यादि) की तरह

पक्क होता है, अर्थात् जरा-जीर्ण होता है, एवं मर जाता है, पुनः सस्यकी तरह जन्म लेता है। (इस कारण) इस अनित्य जीव-लोक (-संसार) में मिथ्याचरणसे क्या लाभ है? आप अपने सत्यका पालन करें—मुझको यमके यहां भेज दें॥ ६॥

टीका।

श्रीभगवान् कहते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः
संगस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः
कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः
संमोहात् स्मृति-विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो
बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

विषय-चिन्तासे ऋषि होनेपरभी वाजश्रवसमें विषयासक्ति उत्पन्न हुई थी, उस विषयासक्तिके विरुद्ध पुत्रने निन्दनीय दानमें बाधा दी थी। उस बाधासे क्रोधकी उत्पत्ति हुई थी। क्रोधकी उत्पत्ति होनेसे स्मृति-विभ्रम होगया था; और वे भूल गये थे, कि मैं ऋषि हूं, जो कुछ कहूंगा, सो सत्य होगा। इस दशामें ऋषिने पुत्रको यमके यहां भेजनेका वचन अपने मुंहसे निकाला था। परन्तु वे सम्हल गये और उनका बुद्धि-नाश नहीं हुआ। तब उन्होने सोचा कि, मेरे मुंहसे जब यह

वचन निकला, तो यह सत्य होगा और तब वे दुःखी एवं शोकातुर हुए। पूर्वजन्मके संस्कारसे स्वतः ज्ञानवान् बालक पुत्र नचिकेता, जिसकी ज्ञान और धर्म-निष्ठा ऐसी जन्म-मृत्युकी सन्धिमेंभी नष्ट नहीं हुई थी, पिताके दुःख और शोकके निवारणार्थ तत्त्वज्ञान और संसारसे वैराग्य-युक्त वचन बोले। ज्ञानी पुत्रने पितासे कहा कि, यह संसार परिणामी और नाशवान् है। जैसी सस्यकी दशा होती है, ऐसी मनुष्यकी दशा भी होती है। जैसे सस्य उत्पन्न होता है, वर्द्धित होता है और फिर कृषक उसको काट लेता है, इसी प्रकार हे पिता! मनुष्यकी जन्म-मृत्युभी वैसी ही है। श्रीभगवान्ने गीतोपनिषद्में कहा है कि, शरीर, अहंकार, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, नाना प्रकारकी चेष्टाएँ अर्थात् प्राणादिके व्यापार, ये ही सब मिलकर पिण्ड-सृष्टिका कार्य्य करते हैं और उसमें दैव प्रधान तथा पंचमस्थानीय है। वस्तुतः दैवलोकके द्वारा ही यह स्थूल मृत्युलोक संचालित होता है। जैसे कृषकलोग अन्नके बीजको भूमि तैयार करके उसमें बोते हैं, पृथ्वी, जल, आदिकी सहायतासे वह बीज अङ्कुर-रूपमें परिणत होता है, बढ़ता है, फूलता-फलता है और पक जाता है, तब कृषकलोग उसको काट लेते हैं; ठीक उसी प्रकार दैवजगत् इस स्थूल मृत्युलोकको चलाता है। इस मृत्युलोकमें पिण्डरूपी शरीरका उत्पन्न होना, वर्द्धित होना और इन्द्रियादिके संयोगसे जाति, आयु और भोगको प्राप्त होना, ये सब दैव-प्रेरणासे ही होता

है। जैसा सस्यके उत्पन्न होनेमें भूमि, जलादि कारण होते हैं, ऐसे ही पिण्डके उत्पन्न होनेमें कर्म कारण होता है। जैसा कृषक बीज बोता है और सस्य काटनेकी क्रिया करता है, वैसे ही दैव-जगत्के संचालक देवतागण पिण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशमें हेतुभूत होते हैं। दैव-जगत्के चलानेवाले देवता तीन तरहके होते हैं, यथा—ऋषि, देवता और पितर। ज्ञान-विभागको चलानेवाले ऋषि, कर्म-विभागको चलाने वाले देवता, और भौतिक स्थूल-विभागको चलानेवाले पितर कहाते हैं। इस कारण ज्ञानवान् पुत्रने पितासे कहा कि, आज जो यह घटना हुई, इसमें दैव ही कारण है। आज ऐसा होनेवाला था, इसलिये हुआ। आप दुःखी और शोकातुर न हों। धर्मके पालन और सत्यके अवलम्बनसे ही ऋषित्वकी प्राप्ति होती है। आप ऋषि हैं, सत्य-पथसे भ्रष्ट न हों। आपने जो मुखसे निकाला है, उसको सत्य करें, मुझे यमलोकमें भेज देवें, और दैवी-इच्छा-पालन करनेमें आप निमित्त हुए, ऐसा समझ कर प्रसन्न हों। पूर्वापर विचार करनेसे यही अकाट्य सिद्धान्त निश्चय होगा, अतः आप मोह त्याग करें, मुझे विदा करें और सत्यका पालन करके कृतकृत्य होवें ॥ ६ ॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताँ शान्तिं कुर्वन्ति, हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥

ब्राह्मणः अतिथिः (सन्) वैश्वानरः (अग्निरिव दहन् इव) गृहान् प्रविशति। तस्य (अग्निरिव प्रविष्टस्य अतिथेः) एतां शास्त्रोक्तां पाद्य-

सनादि-ज्ञानरूपां) शान्तिं कुर्व्वन्ति । हे वैवस्वत ! (विवस्वत्पुत्र यम !) उदकं (पाद्यार्थं जलं) हर (आहर एनं पूजयेत्यर्थः) ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ ।

ब्राह्मण अतिथि होकर अग्निकी तरह गृहमें प्रवेश करता है । यह (पाद्यार्घादि दानरूप) उसकी शान्ति करते हैं । अतएव हे वैवस्वत—सूर्य्यपुत्र ! जल ले आओ ॥ ७ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

स एवमुक्तः पिता आत्मनः सत्यतायै प्रेषयामास । स च यमभवनं गत्वा तिस्रो रात्रीरुवास यमे प्रोषिते । प्रोष्याऽऽगतं यमम् अमात्या भार्य्या वा ऊचुर्बोधयन्तः—वैश्वानरः अग्निरेव साक्षात् प्रविशत्यतिथिः सन् ब्राह्मणो गृहान् दहन्निव; तस्य दाहं शमयन्त इवाग्नेः एतां पाद्यासनादि-दानलक्षणां शान्तिं कुर्व्वन्ति सन्तोऽतिथे यतः, अतो हर आहर—हे वैवस्वत ! उदकं नचिकेतसे पाद्यार्थम् । यतश्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयते ॥ ७ ॥

भाष्यानुवाद ।

पिताने पुत्रका इस प्रकार वचन सुनकर अपने सत्य-पालनके लिये पुत्रको यमके यहां भेज दिया । पुत्र नचिकेताने यमके यहां जाकर यमराजके प्रवासमें होनेके कारण तीन रात तक वास किया । यमके प्रवाससे लौटनेपर मन्त्रीगण या पत्नीने उनको समझाकर कहा,—साक्षात् अग्नि ही ब्राह्मण अतिथिरूपसे मानो दग्ध करनेके लिये ही गृहमें प्रवेश करते हैं अर्थात् घरपर आते हैं । क्योंकि साधुगण उस अतिथिरूप अग्निका दाह प्रशमन (शान्त) करनेके लिये ही मानो यह पाद्य एवं आसनादि-

दानरूप शान्ति किया करते हैं। अतएव हे वैवस्वत! (सूर्य्य-तनय यम!) नचिकेताके पाद-प्रक्षालनके लिये जल लाइये। क्योंकि ऐसा न करनेसे प्रत्यवाय होता है, ऐसा सुना जाता है॥ ७॥

टीका।

यह मृत्युलोक चतुर्दशभुवनमय एक ब्रह्माण्डके चौदहवें हिस्सेका एक चौथा हिस्सा है। भू, भुव, स्व, जन, मह, तप और सत्य, ये सात देव-लोक हैं, इनमें देवता बसते हैं। देव-लोककी राजधानी तृतीय देव-लोक स्वर्लोकमें है। भूः, भुवः, स्वः, इन सबमें देवराज इन्द्रका अधिकार है। ऊपरके चार लोकोंमें आध्यात्मिक स्थिति उन्नत होनेके कारण राजानुशा-सनकी आवश्यकता नहीं होती है। नीचेके सात लोकोंका नाम अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल है। इन सातों लोकोंमें असुर वास करते हैं। असुर भी एक देव-योनि है। उनका देवराज इन्द्रके साथ वैर बना रहता है। बीच-बीचमें देवासुर-संग्रामभी होता है। उस संग्राममें असुर ही आगे बढ़कर धर्मका नाश करना चाहते हैं। देवता और असुर दोनोंकी शक्तियोंका जब समन्वय रहता है, तब धर्मका पूर्ण उदय रहता है। यही देवलोकका स्वरूप और देवासुर-संग्रामका रहस्य है। ऊपर-लिखित चौदह भुवनों-मेंसे भूलोकके चार भाग हैं। उन चार भागोंका नाम मृत्यु-लोक, प्रेतलोक, नरकलोक, और पितृलोक है। नरकलोक

दुःखपूर्ण लोक है, जहां जीव दुःख-भोगके लिये भेजा जाता है। और पितृलोक सुखपूर्ण लोक है, जहां जीव सुख-भोगके लिये भेजा जाता है। हमारे इस मृत्युलोकके साथ ही प्रेतलोक मिला हुआ है। इस प्रकारसे यह मृत्युलोक एक ब्रह्माण्डके चौदहवें हिस्सेका चौथा हिस्सा है। भगवान् धर्मराज यमकी राजधानी पितृ-लोकके अन्तर्गत स्थित है। जीवके धर्माधर्मका विचार वे करते हैं, और उसके अनुसार उसको मृत्युके अनन्तर यथायोग्य लोकमें भेजते हैं। पृथ्वीके अन्य धर्मावलम्वी जो दैवराज्यको ठीक-ठीक नहीं जानते हैं, इन्हीं यम धर्मराजको ईश्वर करके जानते हैं। भगवान् यमके स्थानपर स्थूल शरीर छोड़नेके अनन्तर नचिकेताकी आत्मा पितृ-लोकोपयोगी देव-शरीर प्राप्त करके पहुंच गयी। पूर्व-जन्मार्जित पुण्यके वलसे उनको अन्य निकृष्ट लोक होकर जाना नहीं पड़ा और सीधे ही वे धर्मराज यमकी राजधानीमें पहुँचकर राजभवनमें पहुँच गये। इस मन्त्रके द्वारा नचिकेताके मृत्युलोकमें स्थूल शरीर छोड़ने और पुण्य-वलसे सीधा भगवान् यमके गृहमें पहुंचनेकी सूचना प्रकट होती है। और साथ-ही-साथ अतिथिकी महिमा, नृ-यज्ञरूपी अतिथि-सत्कारकी महिमा और त्रिलोकपूज्य ब्राह्मणकी महिमा प्रतिपादित हुई है ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृताञ्च,
इष्टा-पूर्त्ते पुत्र-पशूंश्च सर्व्वान् ।

एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो,
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

ब्राह्मणः अनश्नन् (अभुञ्जानः सन्) यस्य गृहे वसति; [तस्य] अल्पमेधसः (अल्पबुद्धेः) पुरुषस्य आशा-प्रतीक्षे (आशा च प्रतीक्षा च ते) सङ्गतं (सुहृत्सङ्गतिफलम्) सूनृतां (साधुप्रियवार्त्तां) इष्टापूर्त्ते (इष्टं च—ते पूर्त्तं च, इष्टं यजनं—तत्फलं, पूर्त्तं—तड़ागोद्यानादि-प्रदानफलं), सर्वान् पुत्रपशून् च (पुत्रान् पशूंश्चेत्यर्थः)। एतत् [सर्वं] वृङ्क्ते (आवर्ज्जयति—सर्वं नाशयतीति यावत्) ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ।

जिस अल्पबुद्धि पुरुषके घर ब्राह्मण निराहार वास करता है, उसकी आशा, प्रतीक्षा, संगत, सूनृता, इष्ट, पूर्त, पुत्र और पशु, सबका नाश कर देता है ॥ ८ ॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

आशा-प्रतीक्षे, अनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थ-प्रार्थना—आशा। निर्ज्ञातप्राप्यार्थ-प्रतीक्षणं—प्रतीक्षा, ते आशा-प्रतीक्षे। सङ्गतं—सत्संयोगजं फलं, सूनृतां च—सूनृता हि प्रिया वाक् तन्निमित्तं च। इष्टा-पूर्त्ते—इष्टं यागजं फलं, पूर्तमारामादिक्रियाजं फलम्। पुत्रपशूंश्च—पुत्रांश्च पशूंश्च, सर्वान्, एतत् सर्वं यथोक्तं वृङ्क्ते आवर्जयति विनाशयतीत्येतत्। पुरुषस्य अल्पमेधसः अल्पप्रज्ञस्य, यस्य अनश्नन् अभुञ्जानः ब्राह्मणः गृहे वसति। तस्मादनुपेक्षणीयः सर्वावस्थास्वपि अतिथिरित्यर्थः ॥ ८ ॥

भाष्यानुवाद।

अविज्ञात (जो जाना हुआ नहीं है) प्राप्य-वस्तुकी प्रार्थना

को आशा कहते हैं, और विज्ञात प्राप्य-वस्तुकी प्रार्थनाको प्रतीक्षा कहते हैं। ये दोनों आशा और प्रतीक्षा, सङ्गत—सत्संगका फल, सूनृता—प्रियवाक्य कथनका फल, इष्टापूर्त्त—इष्ट-यागफल, पूर्त्त—उद्यानादि दानका फल, एवं पुत्र तथा पशु ये सभी नाशको प्राप्त होते हैं, जिस अल्पबुद्धि पुरुषके घरमें ब्राह्मण अनशन—निराहार वास करते हैं। इस कारण किसी अवस्थामेंभी अतिथिकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये ॥ ८ ॥

टीका ।

जिस प्रकार देवताओंके राजा होनेके कारण देवराज इन्द्र, इस मृत्युलोकमेंभी यावत् दैव-कार्य्य देवताओंके द्वारा सुसम्पन्न होता है, कि नहीं, इसका निरीक्षण करते हैं और आसुरी चेष्टा को बाधा देनेके लिये देवताओंको नियुक्त करते हैं; उसी प्रकार धर्मराज यम जीवको धर्माधर्मका फल स्थूल शरीरके यहां अन्त होनेपर देकर और धर्मके मार्गकी सुव्यवस्था रखकर जीवोंको सन्मार्गमें चलाते हैं। धर्मकी सुव्यवस्था, धर्म और अधर्मका विचार, धार्मिक और अधार्मिकोंके यथायोग्य फल-विधान एवं ब्रह्माण्डके केन्द्ररूप भूलोककी शृङ्खलाकी व्यवस्था, धर्मके अनुकूल रखते हैं, इस कारण वे धर्मराज कहाते हैं। अतः धर्मकी महिमा और उस सम्बन्धसे ब्राह्मणकी महिमाको स्मरण करना उनके लिये स्वाभाविक है। जब भगवान् धर्मराज यमने अपने स्थानमें लौटकर सुना कि, एक ब्राह्मण अतिथि कई दिनोंसे उनकी अपेक्षा कर रहा है, तो वे ब्राह्मण-महिमा और अतिथि-

महिमाके गुरुत्वको जगत्के हितके लिये सोचने लगे। चतुर्दश-लोकात्मक प्रत्येक ब्रह्माण्डका केन्द्रस्थान भूलोक है। भूलोकका केन्द्रस्थान मृत्युलोक है। मृत्युलोकमें ही जीव मातृगर्भसे उत्पन्न होता है और किसी लोकमें नहीं। अन्य भोगलोकोंके भोगकी परिसमाप्ति होनेपर फिर इसी मृत्युलोकमें आना पड़ता है। क्योंकि यह मृत्युलोक कर्मभूमि है। अन्य भोगलोकोंकी अपेक्षा इस मृत्युलोकमें सदसत् कर्म करनेका अवसर जीवको अधिक मिलता है। यद्यपि वर्णधर्मकी व्यवस्था सब लोकोंमें ही है; परन्तु कर्मभूमि होनेके कारण इस मृत्युलोकमें वर्णधर्मकी शृङ्खला सुदृढ़ और अति सुन्दर है। इस मृत्युलोकमें मनुष्यका जन्म मातृ-गर्भके द्वारा होनेके कारण, और स्थूलशरीरकी प्राप्तिमें रज और वीर्य्यकी शुद्धिकी सर्वोपरि आवश्यकता होनेके कारण वर्णधर्मकी सर्वाङ्ग सुन्दर व्यवस्था मृत्युलोकमें ही रह सकती है। यही कारण है कि, वेद और शास्त्र कहते हैं कि, वर्णाश्रमधर्मसे सुरक्षित कर्मभूमि मृत्युलोक और उसके मस्तकरूपी आर्य्यावर्त्तदेशमें जन्मग्रहण करनेके लिये देवतागण भी उत्सुक रहते हैं। वर्णाश्रम-शृङ्खला त्रिलोक-पवित्रकर, सर्वमंगलकर और चतुर्दश-भुवनका परम सहायक है। इसका प्रधान कारण यह है कि, वर्णाश्रम-व्यवस्थाद्वारा इस परिणामी और नाशवान् संसारमें, एक आध्यात्मिक उन्नतिशील पवित्र एवं रजोवीर्य शुद्धिद्वारा परिशुद्ध मनुष्य-जाति नियमितरूपसे जीवित रहकर इस मृत्युलोककोभी पवित्र करती है,

और अन्य देवलोकोंकी शृङ्खलामेंभी सहायता करती है । आत्मानुसन्धानरूपी आत्मलक्ष्यसे पवित्र आध्यात्मिक उन्नतिशील वर्णाश्रमी प्रजामें धर्म और अधर्मका ज्ञान नियमितरूपसे बना रहता है । जगत्में आत्मा और अनात्मा, धर्म और अधर्मको प्रकाशित करनेवाले जगद्गुरुरूपी वर्ण-श्रेष्ठ ब्राह्मण ही हैं । जगत्में आत्मज्ञान और धर्मज्ञानका प्रकाश जबकभी हुआ है, जब होता है, और जब होगा, तो अग्रजन्मा जगद्गुरु ब्राह्मणोंके द्वारा ही होगा । अतः यह मानना ही पड़ेगा कि, प्रत्येक ब्रह्माण्डमें कर्मभूमि मृत्युलोककी प्रधानता है, मृत्युलोकमें आर्य्यावर्त्तकी प्रधानता है, आर्य्यावर्त्तमें वर्ण-शृङ्खलाकी प्रधानता है, और वर्णधर्ममें ब्राह्मणोंकी प्रधानता है । इसी कारण ब्राह्मणगण वर्णगुरु और जगद्गुरु कहाते हैं । ब्राह्मणोंमें धर्मज्ञान और आत्मज्ञानका बीज सदा सुरक्षित रहनेके कारण इनमें धर्मकी जगद्धारिका शक्तिका बीज और जीव-निःश्रेयसप्रद आत्मज्ञानका बीज केन्द्रीभूत रहता है, इस कारण ब्राह्मणकी महिमा ब्रह्माण्डमें सर्वोपरि है । ऐसे ब्राह्मणोंके अतिथि होनेपर यदि उनका सत्कार न हो, तो कैसा अधर्म होना सम्भव है, और उस अधर्मसे कितना अकल्याण होना सम्भव है, इसको जगत्के हितार्थ संक्षेपरूपसे वर्णन करनेके लिये धर्मराजने ऐसा विचार किया था । जिससे वर्णाश्रम-महिमा, ब्राह्मण-महिमा और नृयज्ञ महिमा जगत्में प्रकाशित हो, यही इस मन्त्रका उद्देश्य है ॥ ८ ॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे-
ऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु, ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु,
तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥६॥

हे ब्रह्मन् [त्वं] अतिथिः, नमस्यः (पूजार्हः सन्) यत् मे गृहे तिस्रः रात्रीः (दिनत्रयं) अनश्नन् (अभुञ्जानः) अवात्सीः (वासमकार्षीः); तस्मात् हे ब्रह्मन्, ते (तुभ्यं) नमः अस्तु । मे (मह्यम्) स्वस्ति (मङ्गलं) [भवतु इति शेषः] प्रति (तिस्रः रात्रीः प्रति) त्रीन् वरान् वृणीष्व (एकैकां रात्रिं प्रति एकैकं वरं यथाभिलाषं प्रार्थयस्व इति भावः) ॥६॥

मन्त्रार्थ ।

[यम नचिकेताको कहते हैं] हे ब्रह्मन् ! तुमने अतिथि और नमस्य—पूजार्ह होकर मेरे गृहमें तीन रात अनशनपूर्वक वास किया है। इसलिये तुमको नमस्कार करता हूँ, मेरा मंगल हो । एवं प्रति अर्थात् प्रत्येक रात्रिके लिये एक-एक करके त्रिरात्रके लिये तीन वर मांगो ॥ ६ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

एवमुक्तो मृत्युरुवाच नचिकेतसमुपगम्य पूजापुरःसरम् । किं तत् ? इत्याह—तिस्रो रात्रीः यत् यस्मात् अवात्सीः उषितवानसि गृहे मे मम अनश्नन् हे ब्रह्मन् अतिथिः सन् नमस्यो नमस्कारार्हश्च तस्मात् नमस्ते तुभ्यमस्तु भवतु । हे ब्रह्मन् ! स्वस्ति भद्रं मेऽस्तु । तस्माद् भवतोऽनशनेन मद्गृहवासनिमित्ताद् दोषात् तत्प्राप्त्युपशमेन । यद्यपि भवदनुग्रहेण

सर्वं मम स्वस्ति स्यात्, तथाऽपि त्वदधिक-सम्प्रसादनार्थमनशनेनोपोषिता-मेकैकां रात्रिं प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्वाभिप्रेतार्थविशेषान् प्रार्थयस्व मत्तः ॥९॥

भाष्यानुवाद ।

मृत्यु यह सुन नचिकेताके निकट जाकर आदरपूर्वक कहने लगे। मृत्युने क्या कहा, सो कहते हैं,—हे ब्रह्मन्! तुमने अतिथि हो एवं नमस्कारार्ह होकरभी अनशन पूर्वक (उपवास करके) हमारे गृहमें तीन रात तक वास किया है, अत एव हे ब्रह्मन् ! तुमको नमस्कार है, मेरा कल्याण हो, अर्थात् मेरे घरमें अनशन पूर्वक वास करनेसे जो दोष-प्राप्तिकी सम्भावना है, उसकी शान्ति होकर मेरा मङ्गल हो। यद्यपि तुम्हारी कृपासे ही हमारा सर्व-विध मङ्गल होगा, तथापि तुम्हारी विशेष प्रसन्नता-प्राप्तिके लिये तुमने जो यहां अनशन या उपवास करके जितनी रात यापन की है, उन प्रत्येक रात्रिके लिये तीन वर वरण करो अर्थात् अपनी इच्छाके अनुसार मुझसे तीन वर मांग लो ॥ ९ ॥

टीका ।

यह मन्त्र धर्मके प्रधान अङ्ग पञ्चमहायज्ञमेंसे नृयज्ञरूपी अतिथि-पूजाका महत्त्व-प्रकाशक है। जैसे सर्वव्यापक अधिदैव-सत्ताकी पूजा मूर्त्ति, यन्त्र, पट, जल, अग्नि आदि दिव्य देशोंमें की जाती है, जैसे गोमाताके सारे शरीरमें रसरूपसे गोदुग्ध रहने परभी वह स्तन द्वारा ही क्षरित होता है, जैसे सर्व-व्यापक ताड़ित शक्ति दृश्य प्रपञ्चमें सब जगह रहनेपरभी यन्त्र विशेष के द्वारा ज्योति, उत्ताप और क्रियाको उत्पन्न करती है, ठीक

उसी प्रकार विश्वधारक धर्म सर्व-व्यापक होनेपरभी यज्ञ, तप दान और उनके अङ्गोपाङ्गरूपसे जीवको अभ्युदय-निःश्रेयस प्रदान करता है। व्यष्टिरूप धर्मको यज्ञ कहते हैं और समष्टि से सम्बन्धयुक्त धर्मको महायज्ञ कहते हैं। उन्हीं महायज्ञोंमेंसे नृयज्ञकी महिमा सर्वोपरि है। इस लोकहितकर सिद्धान्तको अधर्मके दमनकर्त्ता और धर्मराज्यके स्थापक धर्मराज भगवान् यमने अपने वचनद्वारा सिद्ध किया है। पिताको निमित्त करके नचिकेताका मृत्युलोकमें स्थूल शरीर छोड़कर देवलोकमें जाना, स्थूल शरीर छोड़ते समय पितृभक्ति, धर्मपर विश्वास और आत्मज्ञानमें अभिरुचिका परिचय देकर मृत्युलोकको कृतार्थ करना वर्णाश्रम-शृङ्खलाकी महिमा, अन्य दिव्य लोकोंमेंभी वर्ण-धर्मकी स्थिति, जगद्गुरु ब्राह्मणजातिका सर्वोपरि महत्त्व, अतिथि-पूजाका असाधारण गौरव, देवलोकका अस्तित्व, उसके अन्तर्गत पितृलोकका अस्तित्व, उसके अन्तर्गत भगवान् यम धर्मराजकी राजधानीका अस्तित्व, उसके अन्तर्गत धर्मराजके राजभवनका अस्तित्व और भगवान् यमका महत्त्व आदि इस मन्त्र द्वारा प्रकाशित है ॥ ९ ॥

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्
वीतमन्युर्गौतमो माऽभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत् प्रतीत
एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

हे मृत्यो ! गौतमो (मम पिता) शान्तसंकल्पः सुमनाः (प्रसन्नमनाः) मा अभि (मां प्रति) वीतमन्युः (अपगतकोपश्च) यथा स्यात् प्रतीतः (स एवायं मम पुत्रः समागत इत्येवं लब्धस्मृतिः सन्) त्वत्प्रसृष्टं (त्वया प्रेषितं) मा अभि (मां प्रति) यथा वदेत् (मया सह आलपेदित्यर्थः) एतत् त्रयाणां (वराणां मध्ये) प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ ।

(यमकी बात सुनकर नचिकेता बोले) हमारे पिता गौतम शान्तसंकल्प हो, मुझपर प्रसन्न एवं क्रोधशून्य हों, और आपके मुझे भेजनेपर अर्थात् आपके निकटसे लौट जानेपर वे मुझको पहचान सकें तथा मुझसे बात-चीत करें । तीन वरोंमें यह मैं प्रथम वर मांगता हूं ॥ १० ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

अतो नचिकेतास्तु आह—यदि दित्सुर्वरान् शान्तसंकल्प—उपशान्तः संकल्पो यस्य मां प्रति यमं प्राप्य किं नु करिष्यति मम पुत्र इति; स शान्तसंकल्पः सुमनाः प्रसन्नमनाश्च यथा स्याद् वीतमन्युर्विगतरोषश्च गौतमो मम पिता, मा अभि मां प्रति, हे मृत्यो ! किञ्च त्वत्प्रसृष्टं त्वया विनिर्मुक्त प्रेषितं गृहं प्रति माम् अभिवदेत्, प्रतीतो लब्धस्मृतिः—"स एवायं पुत्रो ममाऽऽगतः" इत्येवं प्रत्यभिजानन् इत्यर्थः । एतत् प्रयोजनं त्रयाणां वराणां प्रथममाद्यं वरं वृणे प्रार्थये, यत् पितुः परितोषणम् ॥ १० ॥

भाष्यानुवाद ।

अतः नचिकेतानेभी कहा कि, हे मृत्यो ! यदि आप मुझको वर देनेकी इच्छा करते हैं तो, हमारे पिता गौतम शान्त-

संकल्प, सुमना—प्रसन्न-चित्त एवं हमारे प्रति क्रोध-शून्य हो। अर्थात् हमारे पिताके हृदयमें संकल्प—"मेरा पुत्र यमके निकट जाकर क्या करेगा" इत्यादि प्रकारकी जो मानसिक उद्विग्नता है, वह प्रशमित हो और मुझपर जो उनका क्रोध हुआ था, सो जाता रहे एवं प्रसन्न हों। तथा आप जब मुझे घर भेजें तब उनको मेरा स्मरण हो; अर्थात् आपके निकटसे जब मैं घर जाऊँ तब "यह वही मेरा पुत्र आया है" इसप्रकारसे मुझको पहचान सकें। तीन वरोंमें मैं प्रथम इसी वरकी प्रार्थना करता हूं। पिताको प्रसन्न करना ही हमारा प्रथम प्रयोजन है ॥१०॥

टीका।

मृत्युलोकके विचारसे पितृ-लोककी महिमा सर्वोपरि है। और धर्मके विचारसे धर्मराज भगवान् यमकी महिमा सर्वोपरि है। इस मृत्युलोकसे साक्षात् सम्बन्ध-युक्त सुखमयलोक पितृ-लोक है। और धर्माधर्म-फलदाता एवं धर्मके नियामक धर्मराज यम हैं। प्रायः जीव मोह-सम्बन्धसे युक्त ही रहते हैं। मोह-सम्बन्धसे युक्त रहनेपर अन्तःकरणकी गति इहलौकिक सम्बन्धसे युक्त रहती है। पिता, माता, पुत्र, कलत्र, इष्ट-मित्र आदिका जो अन्तःकरणके आकर्षणका सम्बन्ध है, वही मोह-सम्बन्ध कहाता है। अवश्य ही मोह-सम्बन्धी वृत्तियोके दो भेद हैं। मनकी दो दशाएं हैं। जब मनकी गति इन्द्रियादिकी ओर हो, वह अशुद्ध मन कहाता है, और जब मन ज्ञान, वैराग्य,

तीव्र धर्मनिष्ठा और सदाचारादि द्वारा परिशुद्ध होकर अध्यात्म लक्ष्यसे युक्त रहता है, तब वही मन शुद्ध मन कहाता है। मनकी इन दोनों अवस्थाओंके अनुसार जीवका मोह-सम्बन्ध भी दो श्रेणीका होता है। पहली दशा जीवको अवनत करती है और दूसरी अवस्था जीवको उन्नतिकी ओर ले जाती है। इन दोनों अवस्था-प्राप्त व्यक्ति ही पितृ-लोकमें सुख-भोगके लिये जाते हैं। नचिकेता धार्मिक और मुमुक्षु थे, इस कारण उनका मन शुद्ध होजानेपरभी पितृ-भक्तिके कारण अपने पितृदेवकी ओर आकर्षित होता था। मुमुक्षु-दशामें उन्नत अधिकारी साधन-चतुष्टय-सम्पन्न हो जानेपरभी अघटन-घटना-पटीयसी महामायाके प्रभावसे शुद्ध मनके द्वारा मृत्युलोकमें आकृष्ट होता है। मृत्युलोकको पवित्रकारी श्रद्धा, कृतज्ञता, गुरुभक्ति, पितृ-भक्ति आदि पुण्यमयी वृत्तियोंके द्वारा पवित्रात्मा होनेपर भी नचिकेता पुत्रोचित कर्त्तव्य-निष्ठाके कारण पिताकी ओर आकृष्ट थे। इस कारण धर्ममूर्ति भगवान् यमके गृहमें अतिथि-रूपसे सत्कृत होनेपरभी और उनकी कृपा प्राप्त करनेपरभी सबसे पहले उनमें पिताके उपकार करनेकी पुण्यमयी वृत्ति उदय हुई थी। इस मन्त्रके सम्बन्धसे यह शङ्का हो सकती है कि, इस पारलौकिक दशामें पहुंचकर नचिकेताकी पुनरावृत्ति मृत्युलोकमें कैसे होगी? इस श्रेणीकी शङ्काका समाधान यह है कि, यदि पितृ-लोकके सुख-भोगके अनन्तर उनकी स्वाभाविक-रूपसे पुनरावृत्ति हुई हो तो मातृ-गर्भद्वारा ही मनुष्यशरीर प्राप्त-

करके हुई होगी । अथवा यदि उनको किसी स्थायी देवपदकी प्राप्ति हुई हो, तो देव-शरीरसे पिताके सम्मुख उनके उपकारके लिये आना सम्भव है ॥ १० ॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत,
औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखँ रात्रीः शयिता वीतमन्यु-
स्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ॥११॥

आरुणिः (अरुणस्यापत्यं पुमान्), औद्दालकिः (उद्दालक एव औद्दालकिः) पुरस्तात् (ममालये समागमात् प्राक्) [त्वयि] यथा प्रतीतः (स्नेहवान् आसीत्) मत्प्रसृष्टः (मया अनुज्ञातः सन् , मत्प्रेरणावशादिति भावः ।) मृत्युमुखात् (मम अधिकारात्) प्रमुक्तं (निष्क्रान्तं) त्वां ददृशिवान् (दृष्टवान् सन्) वीतमन्युः (वीतकोपश्च) भविता, (स्यात्) रात्रीः सुखं शयिता (सुखेन निद्रितो भविता) ॥११॥

मन्त्रार्थ ।

(यमने नचिकेताकोकहा)—(तुम्हारे पिता) अरुण-तनय औद्दालकि पहले जैसा तुमपर स्नेहवान् थे, मेरी आज्ञासे यहांसे जानेपरभी, वैसा ही प्रसन्न रहेंगे, और पहचान सकेंगे । रात्रिमें सुखसे सोवेंगे और तुमको मृत्युके मुखसे मुक्त देखकर क्रोध नहीं करेंगे ॥ ११ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

मृत्युरुवाच,—यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात् पूर्वमासीत् स्नेहसमन्विता

पितुस्तव, भविता प्रीतिसमन्वितस्तव पिता तथैव, प्रतीतः प्रतीतवान् सन् । औद्दालकिः उद्दालक एव औद्दालकिः । अरुणस्यापत्यं आरुणिः द्व्यामुष्यायणो वा, मत्प्रसृष्टो मयाऽनुज्ञातः सन् इतरा अपि रात्रीः सुखं प्रसन्नमनाः शयिता स्वप्ता वीतमन्युः विगतमन्युश्च भविता स्यात्, त्वां पुत्रं ददृशिवान् दृष्टवान् स मृत्युमुखात् मृत्युगोचरात् प्रमुक्तं सन्तम् ॥११॥

भाष्यानुवाद ।

मृत्युने कहा,—इससे पहले तुम्हारे पिता जिस प्रकार तुमपर स्नेहवान् थे, अरुणतनय औद्दालकि तुम्हारे पिता, हमारी आज्ञा प्राप्त होकर (जानेपर) तुमको पहचान सकेंगे, और पूर्ववत् ही स्नेहवान् रहेंगे । आगामी सब रात्रिमेंभी सुखसे—प्रसन्नचित्तसे सोएँगे, तथा पुत्ररूपी तुमको मृत्यु-मुख अर्थात् मृत्युके निकटसे निर्मुक्त देखकरभी वे क्रोध नहीं करेंगे । अरुणकी सन्तानको आरुणि कहते हैं और "औद्दालकि" का अर्थ उद्दालक है । स्वार्थमें तद्धित प्रत्यय हुआ है । अथवा द्व्यामुष्यायण पुत्र है ॥ ११ ॥

टीका ।

भूलोकके जो चार विभाग हैं, उसी एक विभागको मृत्युलोक कहते हैं, जैसा कि पहले कहा जा चुका है । भूलोकके आसक्त होनेसे एवं स्थूल-शरीर-त्यागरूपी मृत्यु-क्रियाके समय उन्हींकी व्यवस्था रहनेसे यम धर्मराजकोभी मृत्यु कहते हैं । मातृ-गर्भसे स्थूलशरीर लेकर उत्पन्न होना और मृत्युके समय स्थूल शरीरको इस मृत्युलोकमें ही छोड़कर

लोकान्तरमें जानारूप जो मृत्यु-क्रिया है, वह इस मृत्युलोकमें ही होती है। इस कारण "मृत्युमुखात्" पदका प्रयोग इस मन्त्रमें हुआ है। क्योंकि यह मृत्यु-क्रिया अन्य किसी लोकमें नहीं होती जैसा कि पहले कहा जा चुका है। भगवान् यम-राजने नचिकेताकी पितृ-भक्ति और गुरु-भक्ति-जनित शुभवासना की चरितार्थताके लिये उनको यह प्रथम वरदान किया ॥११॥

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति,

न तत्र त्वं, न जरया बिभेति ।

उभे तीर्त्वाऽशनाया-पिपासे,

शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

स्वर्गे लोके किञ्चन (किमपि) भयं नास्ति । तत्र (स्वर्ग-लोके) त्वं (मृत्युः) न, न च जरया (वार्द्धक्यात्) बिभेति । उभे अशनाया-पिपासे तीर्त्वा (अतिक्रम्य) शोकातिगः (शोकान् अतिक्रान्तः सन्) स्वर्गलोके मोदते (सुखमनुभवति) ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ ।

(हे मृत्यो !) स्वर्गलोकमें कोईभी भय नहीं है, वहां आप नहीं हैं और जरासे कोई नहीं डरता है, लोग स्वर्गमें भूख-प्यास-को अतिक्रम करके तथा शोक-दुःखसे मुक्त होकर आनन्दभोग किया करते हैं ॥ १२ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

नचिकेता उवाच,—स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं भयं किंचन किंचि-

दपि नास्ति । न च तत्र त्वं मृत्यो सहसा प्रभवसि, अतो जरया युक्त इह-लोकवत् त्वत्तो न बिभेति कुतश्चित् तत्र । किंच, उभे अशनाया-पिपासे तीर्त्वा अतिक्रम्य शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन् मानसेन दुःखेन वर्जितो मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये ॥ १२ ॥

भाष्यानुवाद ।

नचिकेताने कहा कि,—स्वर्गलोकमें रोगादि-जनित कोईभी भय नहीं है । हे मृत्यो ! वहां आपभी सहसा आधिपत्य नहीं कर सकते हैं । इसी कारण इहलोककी तरह वहां कोई जरा-युक्त होकर आपसे भयभीत नहीं होता है । और भूख-प्यास दोनोंसे रहित एवं शोक-रहित अर्थात् मानसिक दुःखसे रहित होकर लोग दिव्य स्वर्गलोकमें आनन्द अनुभव करते हैं । "शोका-तिग"का अर्थ जो लोग शोकको अतिक्रम कर जाते हैं ॥ १२ ॥

टीका ।

यह मन्त्र स्वर्गका महिमा-प्रकाशक है । जो दुःखपूर्ण लोक हैं, वे नरक कहाते हैं, और जो सुखपूर्ण लोक हैं, वे स्वर्ग कहाते हैं । नरकलोकके अन्तर्गत कुम्भीपाक, असिपत्र आदि अनेक भेद हैं । वे सब नरकलोकके ही अन्तर्गत हैं, परन्तु स्वर्गलोक-का भेद कुछ विचित्र है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि, मृत्युलोकसे निकट-सम्बन्ध-युक्त प्रथम स्वर्गलोक पितृलोक है, जहां भगवान् यम धर्मराजकी राजधानी है । वहां प्रथम-श्रेणीके मृत्युलोकके सुखेच्छु पुण्यात्मा सुख-भोगके लिये शरीरान्त होनेपर जाते हैं । और मृत्युलोकसे जिनका मोह-सम्बन्ध

कम हो जाता है, वे क्रमशः भुव, स्वः, मह आदि लोकोंमें सुख-भोगके लिये जाते हैं। ये सब लोक उत्तरोत्तर अधिक सुख-पूर्ण हैं। स्वर्ग-सुखकी विचित्रता यह है कि, वहां गये हुए पुण्यात्माओंको रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि जिस प्रकारके सुख-भोगकी जब इच्छा होती है, उस सुखका विषय उसीसमय उपलब्ध हो जाता है। मृत्युलोकमें धनादिके द्वारा विषय संग्रहकी आवश्यकता होती है, किन्तु स्वर्गीय जीवोकी इच्छामात्रसे उसीसमय देवतागण विषयको पहुंचा देते हैं। नरकलोकमें, प्रेतलोकमें या मृत्युलोकमें धन, अन्न, जल और अन्यान्य भोग्य-विषयके न पानेसे जो अभाव दुःख, क्षुधादुःख, तृष्णादुःख आदिकी उत्पत्ति होती है, ऐसे दुःखकी सम्भावना स्वर्गमें नहीं हो सकती है। भोजन पदार्थादि इच्छामात्रसे उपलब्ध होता है। पुरुषोंके लिये अप्सराओं और स्त्रियोंके लिये देवताओंका इन्द्रिय-सुख-भोगके लिये मिलना इच्छामात्रसे होता है। स्वर्गलोकमें पुण्यात्मा जीव ही जाते हैं, इसकारण स्वर्गसे पतन-भयके सिवाय अन्य किसी भयकी सम्भावना वहां उनको नहीं रहती है। यम धर्मराज शासकोंमें प्रधान शासक होनेपरभी पुण्यात्मा स्वर्गीय जीवोंपर उनके शासनकी आवश्यकता नहीं रहती; इसी कारण मन्त्रमें है कि, तुम वहां नहीं हो। इस संसारमेंभी देखा जाता है कि, साधुजनोंके वासस्थानमें राजानुशासनकी कोईभी आवश्यकता देखनेमें नहीं आती है। स्वर्गीय स्थूल शरीर तीस वर्षसे अधिक आयुका नहीं होता है।

इसकारण वहां स्वतः जराके आनेकी सम्भावना नहीं है। स्वर्गलोकमें आधि और व्याधिकी सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि वहां जीव पुण्य-भोगके लिये ही जाते हैं। स्वर्गलोकमें गये हुए जीव किस प्रकारसे आनन्दित रहते हैं, इसका थोड़ा दिग्दर्शन इस मन्त्रमें कराया गया है ॥ १२ ॥

स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो,
प्रब्रूहि त्वँ श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त-
एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

(हे मृत्यो !) स त्वं स्वर्ग्यम् (उक्तरूप-स्वर्गसाधनम्) अग्निं अध्येषि (जानासि)। तम् (अग्निं) श्रद्दधानाय (श्रद्धावते) मह्यं प्रब्रूहि (कथय)। स्वर्गलोकाः (स्वर्गो लोको येषां, ते तथोक्ताः); अमृतत्वं (देवत्वं) भजन्ते (प्राप्नुवन्ति)। एतत् (अग्नि-विज्ञानं) द्वितीयेन वरेण वृणे (प्रार्थयेयम्) ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ ।

हे मृत्यो ! (यम !) आप उस प्रसिद्ध स्वर्ग-साधन अग्निको जानते हैं। [अत एव] श्रद्धावान् मुझको उस अग्नितत्त्वका उपदेश करें। क्योकि जो स्वर्गमें जाते हैं, वे अमृतत्त्व भोग करते हैं। यही मैं दूसरे वरमें प्रार्थना करता हूं ॥ १३ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

एवं गुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्ति-साधन-भूतमग्निं स्वर्ग्यं स

त्वं मृत्युरध्येपि स्मरसि जानासीत्यर्थः। हे मृत्यो! यतस्त्वं प्रब्रूहि कथय श्रद्दधानाय श्रद्धावते मह्यं स्वर्गार्थिने। येनाग्निना चितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गो लोको येषां ते स्वर्गलोकाः यजमानाः अमृतत्वं अमरणतां देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति तदेतदग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे ॥ १३ ॥

भाष्यानुवाद।

हे मृत्यो! स्वर्गलोक-प्राप्तिका साधन स्वर्ग्य अग्निका तत्त्व आप ही स्मरण करते हैं—अर्थात् जानते हैं (इस कारण) श्रद्धावान् एवं स्वर्गार्थी मुझसे उसको कहें। जिस अग्निके चयन (यज्ञसाधन) करनेसे यजमानगण स्वर्गलाभ करके अमृतत्व मरणराहित्य—देवत्व प्राप्त करते हैं; दूसरे वरमें मैं वही अग्निविज्ञान माँगता हूं ॥ १३ ॥

टीका।

नचिकेताके यह दूसरे वरकी प्रार्थना अग्नि-विषयक है। ब्रह्मशक्ति, सर्वशक्तिमयी जगदम्बाकी जो विश्वधारिका शक्ति परमाणुसे लेकर ब्रह्माण्ड-पर्य्यन्त परिव्याप्त है, उसीके विषयमें यह वर है। वह शक्ति जड़में और चित्में समानरूपसे परिव्याप्त है। इसके दो भेद हैं। जड़ शक्ति पांचभौतिक है। और चित्शक्ति जीवभूता है। एक आधिभौतिक है और दूसरी आध्यात्मिक है। पिण्डमें वही शक्ति कुण्डलिनी और कूटस्थ कहाती है। एक अनन्त वासनामयी है, दूसरी वासनापूर्ण करनेमें सहायक है। एक अधःस्थित है, दूसरी ऊर्द्ध्वस्थित है। एक जाति, आयु, भोग उत्पन्न करती है, और दूसरी ज्ञान-

विज्ञान-प्रदात्री हैं। एक कर्म-शृङ्खलामयी है और दूसरी दैवी-शक्तिमयी है, जो देवताओंके स्वरूपमें कर्मकी व्यवस्था करती है। वस्तुतः दोनों श्रेणीकी शक्तियाँ एक ही हैं। क्योंकि दोनों ही कर्मशृङ्खलामयी हैं, दोनों ही धर्मकी विश्वधारिका शक्तिसे युक्त हैं, और दोनों ही ब्रह्मशक्तिका स्वरूप हैं, इस कारण अग्नि शब्द-वाच्य है। यह दोनों स्वतन्त्र-स्वतन्त्र श्रेणीकी शक्तियां जब परस्पर सहयोगिनी बनती हैं, तभी धर्म और पुण्यका त्रिलोक-पवित्रकर स्वरूप बना रहता है। और तभी वह अग्नि कहाती है। यह संयुक्त अद्वितीय शक्ति अविच्छिन्न अभ्युदय प्रदान करती है, जिसका परिणाम अमरत्व और स्वर्ग-प्राप्ति है ॥ १३ ॥

प्र ते ब्रवीमि, तदु मे निबोध,
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां,
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥१४॥

हे नचिकेतः (अहं) स्वर्ग्यं अग्निं प्रजानन् (विशेषेण जानन्) ते (तुभ्यं) प्रब्रवीमि (प्रवच्मि)। तत् उ (एव) मे (मत्सकाशात्) निबोध (एकाग्रचित्तः सन् शृणुष्व)। त्वं एतं (उक्तरूपम् अग्निं) अनन्तलोकाप्तिं (अनन्तस्य दीर्घकालस्थायिनः स्वर्गलोकस्य आप्तिं प्राप्ति-साधनम्) अथो (अपि) प्रतिष्ठां (सर्वलोकस्थितिहेतुम्), गुहायां (सर्वप्राणिहृदये) निहितं (नितरां स्थितम्) विद्धि (जानीहि) ॥१४॥

मन्त्रार्थ ।

हे नचिकेता ! मैं उस स्वर्गका साधनभूत अग्निको अच्छी तरहसे जानकर तुमको कहता हूं, तुम समाहित-चित्त होकर सुनो। तुम जानो कि, यही अग्नि अनन्तलोक (स्वर्गलोक) प्राप्तिका उपाय है एवं जगत्का धारक है और गुहामें निहित है ॥ १४ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

मृत्योः प्रतिज्ञेयम् । प्र ते तुभ्यं प्रब्रवीमि । यत् त्वया प्रार्थितम्, तत् उ मे मम वचसः निबोध बुध्यस्व एकाग्रमनाः सन्, स्वर्ग्यं—स्वर्गाय हितम् स्वर्ग-साधनमग्निं हे नचिकेतः प्रजानन् विज्ञातवानहं सन् इत्यर्थः । प्रब्रवीमि, तन्निबोधेति च शिष्यबुद्धिसमाधानार्थं वचनम् । अधुना अग्निं स्तौति,—अनन्तलोकाप्तिं स्वर्गलोक-फल-प्राप्ति-साधनमित्येतत् । अथो अपि प्रतिष्ठां आश्रयं जगतो विराड्रूपेण तमेतमग्निं मयोच्यमानं विद्धि विजानीहि त्वं, निहितं स्थितं गुहायां विदुषां बुद्धौ निविष्टमित्यर्थः ॥ १४ ॥

भाष्यानुवाद ।

यह मृत्यु—यमकी प्रतिज्ञा है। हे नचिकेता ! तुमने जो प्रार्थनाकी थी, मैं उसी स्वर्गहित अर्थात् स्वर्ग-साधन अग्निको अच्छी तरह जानकर तुमसे कहता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर हमारे उपदेश द्वारा उसको जानो। वक्तव्य विषयमें शिष्यका मनोयोग करानेके लिये "प्रब्रवीमि" (अच्छी तरह कहता हूं) तथा "निबोध" (जानो) ये दोनों क्रियापद एक साथ आए हैं। अब अग्निकी स्तुति करते हैं,—अनन्तलोकाप्ति अर्थात्

दीर्घ-कालस्थायी स्वर्गलोककी प्राप्तिका साधन तथा विराट्-रूपसे सारे जगत्‌की प्रतिष्ठा—आश्रयभूत जिस अग्निकी बात मैं तुमसे कहता हूं, वह विद्वानोंकी बुद्धि-गुहामें निहित या सन्निविष्ट है, ऐसा तुम जानो ॥ १४ ॥

टीका।

भगवान् यम-धर्मराज उस अग्निके यथार्थ स्वरूपको जान सकते हैं, इसमें सन्देह ही क्या है। वह महाशक्ति, जो जीव-मात्रको, जैसे सूर्यदेव वाष्पराशिको नियमितरूपसे अपनी ओर आकर्षित करते हैं, उसीप्रकार ब्रह्मस्वरूपकी ओर नित्य नियमपूर्वक आकर्षित करती है, उसीका नाम तेज है। वह भगवत्-तेज ही अग्निरूपसे अभिहित हुआ है। वही रूपान्तरसे विश्वधारक धर्म शब्द-वाच्य है। क्योंकि धर्मभी जीवको इह-लौकिक और पारलौकिक अभ्युदय-सरितामें वहाता हुआ ब्रह्म-समुद्रमें पहुंचा देता है। जीवको ऊर्द्ध गतिशील करनेवाली वह महाशक्ति आत्मज्ञान प्रदान करके निःश्रेयस प्रदान करनेसे पूर्व जीवको नियमित अभ्युदय देकर उत्तरोत्तर उन्नतसे उन्नत स्वर्गलोक प्राप्त कराती है। यम-धर्मराज जव धर्मकी क्रियाओंके नियामक हैं, और जीवको धर्माधर्मके फलदाता हैं, तो ये इस महाशक्तिके स्वरूपके ज्ञाता होंगे, इसमें सन्देह ही क्या है। इस कारण उन्होंने कहा कि "मैं उसको अच्छी तरह जानकर अच्छी तरह कहता हूँ।" प्रत्येक ब्रह्माण्डके चतुर्दश लोकके अन्तर्गत कर्म-सम्बन्धसे मृत्युलोककी प्रधानता है; क्योंकि

इस मृत्युलोकमें जीवको कर्म करके अपने अभ्युदयका मार्ग सरल करनेका अवसर अधिक मिलता है। उसी प्रकार धर्माधर्मकी शक्तियोंके द्वारा प्राप्त जीवके पुण्य और पापका फल-विधायक पितृ-लोक है, क्योकि पितृ-लोकके अन्तर्गत् ही यमधर्मराजकी राजधानी है। इस कारण जीवके अभ्युदय-प्रदायिनी शक्ति, उसके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भेद, उस महाशक्तिके द्वारा अभ्युदय-प्रदानका क्रम और अभ्युदयके यथार्थ स्वरूपादि भगवान् यम-धर्मराज ही समझ सकते हैं। जबतक अभ्युदयके मार्गका अन्त होकर निःश्रेयसभूमिका उदय नहीं होता है, तबतक पुण्यवान् जीवको उत्तरोत्तर अनन्त प्रकार सुख-प्राप्तिके उपयोगी बहुलोक प्राप्त होते हैं। यही इस मन्त्रके "अनन्तलोकाप्तिं" पदका अर्थ है। यह अग्नि ही जगत्-प्रतिष्ठाका कारण है। परमाणुसे लेकर प्रत्येक ब्रह्माण्डके ग्रह-उपग्रहतक यही अग्नि सब शक्तियोका समन्वय करके जगत्की प्रतिष्ठाका कारण बनती है। एक पत्थरका टुकड़ा जब पत्थर बना था, तब आकर्षण शक्ति द्वारा पत्थरके उपयोगी परमाणु आकर्षित हुए थे; जब वह पत्थर लयको प्राप्त होगा, तो विकर्षणशक्तिद्वारा वे परमाणु बिखड़ जायेंगे। परन्तु पत्थरका धर्म(अस्तित्व) रक्षक यही शक्ति आकर्षण-विकर्षणकी समता रखकर उस पत्थर-खण्डके स्वरूप की रक्षा करती है। उसीप्रकार अनन्त ग्रह-उपग्रहोंमें आकर्षण और विकर्षणकी समन्वय-रक्षा करनेवाली महाशक्ति

जगत्की प्रतिष्ठा करती है। इसी प्रकार जीव-अन्तःकरणमें रागरूपी आकर्षण और द्वेषरूपी विकर्षण, इन दोनों शक्तियोंके समन्वय द्वारा 'चित्तवृत्ति-निरोध होनेपर आत्मा अपने स्वरूपमें अधिष्ठित होता है,' इस कारण वही अग्नि जगत्की प्रतिष्ठारूपी है। वस्तुतः ऐसे अग्निका स्वरूप वाणी, मन और बुद्धिसे अतीत होनेपरभी केवल ज्ञानगम्य है। इसी कारण इस मन्त्रमें "निहितं गुहायां" का प्रयोग हुआ है ॥ १४ ॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै,
या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
स चापि तत्प्रत्यवदद्द यथोक्त-
मथास्य मृत्युः पुनरेवाऽऽह तुष्टः ॥ १५ ॥

[यमः] तस्मै (नचिकेतसे) लोकादिं (लोकानां आदिं कारणभूतं) तम् (प्रसिद्धं) अग्निम् (अग्निविज्ञानं) उवाच (उक्तवान्)। याः (यत् स्वरूपाः), यावतीः (यावत् संख्यकाः) या इष्टकाः (चेतव्याः) यथा (येन प्रकारेण) वा [अग्निः चीयते]; सः (नचिकेताः) च अपि तत् (मृत्युना कथितं) यथोक्तं (यथावत्) प्रत्यवदत् (अनूदितवान् प्रत्युच्चारितवान्)। अथ (अनन्तरं) मृत्युः तुष्टः [सन्] पुनः एव (अपि) आह ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ ।

(यमराजने) नचिकेताको लोकादि प्रसिद्ध अग्नितत्त्वका उपदेश किया, तथा यज्ञीय इष्टकाका स्वरूप, संख्या (परिमाण)

एवं अग्नि-चयनकी प्रणाली, ये सब ही नचिकेताको कहा। नचिकेतानेभी यथावत्‌रूपसे उसका प्रत्युच्चारण किया। मृत्यु प्रसन्न होकर फिर कहने लगे ॥ १५ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

इदं श्रुतेर्वचनम्। लोकादिं—लोकानामादिं प्रथमशरीरित्वात्, अग्निं तं प्रकृतं नचिकेतसा प्रार्थितम् उवाच उक्तवान् मृत्युः तस्मै नचिकेतसे। किंच, या इष्टकाः चेतव्याः स्वरूपेण। यावतीर्वा संख्यया यथा वा चीयतेऽग्निर्येन प्रकारेण; सर्वमेतदुक्तवानित्यर्थः। स चापि नचिकेताः तत् मृत्युनोक्तं यथावत् प्रत्ययेनावदत् प्रत्युच्चारितवान्। अथ तस्य प्रत्युच्चारणेन तुष्टः सन् मृत्युः पुनरेवाऽऽह—वरत्रयव्यतिरेकेणाऽन्यं वरं दित्सुः ॥ १५ ॥

भाष्यानुवाद ।

यह श्रुतिकी उक्ति है, अर्थात् इस मन्त्रकी बात श्रुति स्वयं कहती है,—प्रथम शरीरी होनेसे सब लोकोका आदि, नचिकेताका प्रार्थित उस अग्नितत्त्वको नचिकेतासे कहा। और जिस तरहसे जितना इष्टका-चयन या संग्रह करना चाहिये एवं जिस प्रकार अग्नि-चयन करना चाहिये सो सभी (नचिकेतासे) कहा। नचिकेतानेभी यमके द्वारा कथित सब विषय यथावत्‌रूपसे प्रत्युच्चारण किया। मृत्यु नचिकेताके उस प्रत्युच्चारणसे प्रसन्न होकर तीन वरोके अतिरिक्त एक और वर प्रदान करनेकी इच्छासे पुनः कहने लगे ॥ १५ ॥

टीका ।

जैसे एक अद्वितीय परम ब्रह्म त्रिभावात्मक हैं, सत्, चित

और आनन्द इन तीनों भावोंसे वे ज्ञानियोंकी ज्ञान-गुहामें अनुभूत-होते हैं; ब्रह्म; ईश्वर और विराटरूपसे वे भक्त-मनोमन्दिर-विहारी होते हैं; उसी प्रकार ब्रह्मशक्ति महामाया और उनके सब वैभव ब्रह्माण्डसे लेकर पिण्डपर्य्यन्त त्रिभावात्मक होते हैं। इसी ज्ञान-विज्ञानके स्थिर सिद्धान्तके अनुसार अग्निका स्वरूप त्रिभावात्मक तीन है। पूर्वकथित विज्ञानके अनुसार अग्निका अध्यात्म स्वरूप जो औपनिषदिक तत्त्वज्ञानसे पूर्ण है, उसका दिग्दर्शन पहले कराया गया है। विश्वधारक अग्नि साधारण और विशेषरूप धारण करके साधारण और विशेष धर्मोपाधि प्राप्त होकर स्थावर-जंगमात्मक सृष्टिको धारण करती है। यही उस अग्निका अध्यात्मस्वरूप है। साधारण और विशेष अग्निकी क्रियाके अनुसार उसके संचालक अवश्य ही हैं, क्योंकि जड़शक्ति विना चेतन संचालकके नियोजित नहीं हो सकती है। यही उसका अधिदैव स्वरूप है। इस अग्निकी कृपा-प्राप्तिके उपयोगी जो स्थूल यज्ञादि कर्म है, वही उसका अधिभूत स्वरूप है। इसी कारण वैदिक यागसमूहमेंसे कोई-कोई याग नचिकेताके नामसेभी प्रसिद्ध है। और यज्ञ-विशेषमें अग्नि-चयन-विधिभी उसी प्रकार नचिकेताके नामसे अभिहित हुई है। ऐसे नामकरणका यही रहस्य है। भगवान् यम महात्मा नचिकेतापर प्रसन्न होनेसे उनको केवल अग्निके तीनों स्वरूपका ही उपदेश नहीं दिया, अधिकन्तु कर्मकाण्ड, उपा-सना-काण्ड और ज्ञानकाण्ड, तीनोंका रहस्य बोधक सब क्रिया-

सिद्धान्त और औपपत्तिक अंशका सम्यक् उपदेश दिया। भगवान् धर्मराज-यम कर्मके सम्यक् ज्ञाता हैं और जीव-जगत्का भूत, भविष्यत्, वर्तमान उनके करतलामलकवत् है इसमें सन्देह ही क्या है। धर्मात्मा नचिकेताकी तपस्या, स्वधर्म-निष्ठा तथा भक्तिसे वे प्रसन्न हुए थे और अपनी स्वाभाविक उदारता एवं कृपासे उसको अग्निका त्रिविध स्वरूप, अग्नि-कृपा-प्राप्तिका रहस्य और अग्नि-चयनरूपी क्रियाका स्वरूप, सबका पूर्ण उपदेश दिया था। भाग्यवान् नचिकेताने, गुरुके सन्मुख जिस प्रकार शिष्य परीक्षा देता है, उसी प्रकार आनन्द-से गद्गद होकर सब उपदेशोकी पुनरावृत्ति की थी। उस समय जब भगवान् धर्मराज-यमने देखा कि, मेरे औपनिषदिक उपदेशका नचिकेताने पूर्णरूपसे अनुसरण किया है, तो औरभी प्रसन्न हुए तथा उनको स्वयं वर देकर जीव-कोटिसे देव-कोटिमें पहुँचाया। कर्मके तीन भेद हैं। यथा, सहज कर्म, जैवकर्म और ऐशकर्म। प्रकृतिके स्वाभाविक स्पन्दनसे जिस कर्म-प्रवाह और शृङ्खलाका सम्बन्ध है, कर्ममीमांसादर्शनने उसको सहज कर्म कहा है। मनुष्यकी स्ववासनासे जो कर्म-प्रवाहकी शृङ्खला उत्पन्न होती है, जिससे आवागमन-चक्र चलता रहता है, उसको कर्म-मीमांसा-दर्शनने जैवकर्म कहा है। इन दोनो कर्मोके राज्यसे नचिकेताको निकाल कर धर्माधर्मके फलदाता भगवान् धर्मराज-यमने तीसरे कर्म-प्रवाह-रूपी ऐशकर्मकी

शृङ्खलामें लेलेनेके अभिप्रायसे ऐसा वर प्रदान किया है जो जीवके लिये अतिदुर्लभ है ॥ १५ ॥

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा,
वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः,
सृङ्काञ्चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥

महात्मा (यमः) प्रियमाणः (प्रीतिमान् सन्) तं (नचिकेतसम्) अब्रवीत्—इह (अस्मिन् विषये) एव अद्य (इदानीं) तव भूयः (पुनरपि) वरं (वरत्रयादन्यं चतुर्थं) ददामि (प्रयच्छामि)। अयं (मया वर्णितः) अग्निः तव एव नाम्ना (नाचिकेत-संज्ञया प्रसिद्धः) भविता (भविष्यति)। इमाम् अनेकरूपां (विचित्रां) सृङ्कां (शब्दवतीं मालां) गृहाण (स्वीकुरु) ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ।

महात्मा यमने प्रेमसे नचिकेताको कहा,—मैं इसी विषयमें पुनः तुमको और एक वर प्रदान करता हूं। यह अग्नि तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगी। विचित्ररूपा यह "सृङ्का" (माला) ग्रहण करो ॥ १६ ॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

कथं तं नचिकेतसमब्रवीत् प्रीयमाणः शिष्यस्य योग्यतां पश्यन् प्रीयमाणः प्रीतिमनुभवन् महात्मा अक्षुद्रबुद्धिः वरं तव चतुर्थं इह प्रीतिनिमित्तं अद्य इदानीं ददामि भूयः पुनः प्रयच्छामि। तवैव नचिकेतसो

नाम्ना अभिधानेन प्रसिद्धो भविता मयोच्यमानोऽयमग्निः । किंच सृङ्कां शब्दवतीं रत्नमयीं मालाम् इमाम् अनेकरूपां विचित्रां गृहाण स्वीकुरु । यद्वा, सृङ्कां अकुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण। अन्यदपि कर्मविज्ञानमनेकफलहेतुत्वात् स्वीकुरु इत्यर्थः ॥ १६ ॥

भाष्यानुवाद ।

किस प्रकार प्रेमसे नचिकेतासे कहा सो कहते हैं—महात्मा अर्थात् महद् बुद्धिशाली यम नचिकेताकी शिष्योचित योग्यताको देखकर प्रेमयुक्त हो कहने लगे कि, मैं प्रेमवश होकर इस विषयमें अब तुमको पुनः एक चतुर्थ वर प्रदान करता हूं,—मैंने जिस अग्निके विषयमें कहा है, वह अग्नि तुम्हारे ही नामसे—नचिकेताके ही नामसे (नचिकेता संज्ञासे) प्रसिद्ध होगी । अनेक रूपा अर्थात् विचित्ररूपा शब्दवती यह रत्नमयी सृङ्का माला तुम ग्रहण करो। अथवा सृङ्काका अर्थ अनिन्दित कर्म-गति अर्थात् अनेक फलप्रद और एक कर्म-विज्ञान ग्रहण करो ॥१६॥

टीका ।

भगवान् यम-धर्मराजकी कृपारूपी मालाके प्रदान करनेसे यही सिद्ध होता है कि, महात्मा नचिकेताका जीवत्व मिटकर देवत्व होगया । स्वर्गराज्यमें प्रवेश करते ही जीवको माला मिलती है। यह साधारण स्वर्गीय गतिका लक्षण है। जो जीव उन्नत होकर ऐशकर्मके बलसे स्थायी देवपदको प्राप्त करते हैं, उनको विशेष-विशेष मालाकी प्राप्ति होती है। पूर्वमन्त्रकी टीकामें जैवकर्म और सहजकर्मका वर्णन किया गया

है। जब असाधारण पुण्यशाली जीव अपने असाधारण कर्म, तपस्या, भक्ति-योग अथवा ज्ञान-योगके प्रभावसे मनुष्य-श्रेणीसे देव-श्रेणीमें प्रविष्ट होनेके योग्य बन जाता है, तब वह देवता बन कर ऐशकर्मके अधीन हो जाता है। यावत् दैव-जगत्‌की व्यवस्था होकर जिस कर्मके द्वारा उसकी शृङ्खला स्थिर रहती है, कर्म-मीमांसादर्शनमें उसको ऐशकर्म कहा है। जिस नियमके अनुसार सूर्य्य और चन्द्रका उदय-अस्त होता है, जिस नियमके अनुसार ऋतुओंका उदय-अस्त हुआ करता है, जिस नियमके अनुसार देवराज देवलोकमें और असुरराज असुरलोकमें शासन करते हैं, जिस नियमके अनुसार कर्मकी शृङ्खला मृत्यु-लोकमें स्थायी होकर पाप-पुण्य और सुख-दुःखकी व्यवस्था बाँधी जाती है, जिस नियमके वशवर्ती होकर अष्ट वसु, द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र, और स्वयं भगवान् धर्मराज आदि महत् देव-पदवी-प्राप्त भगवत् विभूतिगण अपने-अपने धर्मका पालन करते हैं, वे सब ऐशकर्मके अधीन हैं। अबतक महात्मा नचिकेता जैवकर्मके अनुसार मृत्यु-लोकके भोगोपयोगी कर्म-गतिसे सम्बन्ध रखते थे। अब भगवान् यम-धर्मराजकी कृपा प्राप्त करके विशेष देवपदके अधिकारी हो गये और उनका सम्बन्ध अब ऐशकर्मके साथ हो गया। उनके नामसे विशेष अग्नि अभिहित होगी। यज्ञादिमेंभी उनके नामका सम्बन्ध रहेगा। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि, विशेष-विशेष धर्मके अनुसार विशेष-विशेष कर्म-गतिके नियामक जो

विशेष-विशेष देव-पद हैं, उनमेंसे भगवान् धर्मराज यमने महात्मा नचिकेताको एक विशेष पदका अधिकारी बनाया। अब यह शंका हो सकती है कि, महात्मा नचिकेताने ऐसा कौनसा कर्म ऐसी बाल्यावस्थामें किया, जिससे वे मनुष्य-कोटिसे देव-कोटिमें पहुंचकर ऐसे देव-पदके अधिकारी होगये ? ऐसी शंकाका समाधान यह है कि, कर्मकी गति विचित्र है। जैसे एक गहन कर्मका भोग कई जन्मतक हो सकता है, ऐसे ही कई जन्मके कर्मोंका भोग महदात्माओंको एक ही जन्ममें प्राप्त हो सकता है। "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" इस शास्त्रीय-वचनके अनुसार जीव अनेक जन्मोंके पुण्य-फलसे आत्मज्ञानी बनता है, भगवद्भक्त बनता है; अनेक जन्मके उग्र कर्मोंसे मल, विक्षेप और आवरणका नाश करता हुआ केवल सामान्य निमित्तको सन्मुख रखकर शुकादिकी तरह जीवन्मुक्त हो जाता है। उसी शैलीपर अनेक जन्मके उग्र पुण्यके प्रभावसे अपने पिताको निमित्त करके पितृ-भक्तिकी पराकाष्ठाको दिखाते हुए भगवान् धर्मराज यमको शिष्यत्वसे प्रसन्न करके नचिकेताने विशेष देव-पदवी प्राप्त की ॥ १६ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं,
त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा,
निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

त्रिभिः (त्रिभिः सह) सन्धिं (सन्धानं सम्बन्धं) एत्य (प्राप्य) त्रिणाचिकेतः (त्रिःकृतः नाचिकेतः अग्निः चितः येन, सः) त्रिकर्मकृत् जन्म-मृत्यू तरति (अतिक्रामति)। ईड्यं (स्तुत्यं) ब्रह्मजज्ञं देवं (प्रकाशमानं) विदित्वा (ज्ञात्वा) निचाय्य (विचार्य्य) इमाम् शान्तिं अत्यन्तं एति (अतिशयेन प्राप्नोति) ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ ।

त्रिणाचिकेता हो तीनोंके द्वारा सन्धि प्राप्त करके और त्रिकर्मकृत् होकर जन्म-मृत्युको तर जाता है और सर्वज्ञ स्तवनीय देवको जानते हुए अनुभव करके इस आत्यन्तिक शान्तिको प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

पुनरपि कर्मस्तुतिमेवाह,—त्रिणाचिकेतः—त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतः, तद्विज्ञानः, तदध्ययनः तदनुष्ठानवान् वा । त्रिभिर्मातृपित्राचार्य्यैः एत्य प्राप्य सन्धिं सन्धानं सम्बन्धं मात्राद्यनुशासनं यथावत् प्राप्येत्येतत् । तद्धि प्रामाण्यकारणं श्रुत्यन्तरादवगम्यते,—"यथा-मातृमान् पितृमान्" इत्यादेः । वेद-स्मृति-शिष्टैर्वा, प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा । तेभ्यो हि विशुद्धिः प्रत्यक्षा । त्रिकर्मकृत्—इज्याध्ययनदानानां कर्त्ता, तरति अतिक्रामति जन्म-मृत्यू । किंच ब्रह्मजज्ञं—ब्रह्मणो हिरण्यगर्भात् जातो ब्रह्मजः । ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः, सर्वज्ञो ह्यसौ । तं देवं द्योतनात्, ज्ञानादिगुणवन्तं ईड्यं स्तुत्यं विदित्वा शास्त्रतो निचाय्य दृष्ट्वा चाऽऽत्मभावेन इमां स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिम् उपरतिम् अत्यन्तम् एति अतिशयेन एति । वैराजं पदं ज्ञान-कर्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

भाष्यानुवाद ।

पुनः कर्मकी प्रशंसा करते हैं, "त्रिणाचिकेत" का अर्थ जिसने पूर्वोक्त "नाचिकेत" नामक अग्निका तीन बार चयन या आराधना की हो अथवा जिसने उक्त अग्नि-विद्याको अध्ययन किया हो, समझा हो, एवं तदनुसार अनुष्ठान किया हो। पिता माता एवं आचार्य, इन तीनोंके साथ सम्बन्ध अर्थात् यथायथरूप-से माता, पिता और आचार्यका उपदेश प्राप्त होकर—"मातृमान् पितृमान्" इत्यादि श्रुतिसे जाना जाता है कि, उनका उपदेश ही धर्मज्ञानमें प्रधान प्रमाण है। अथवा "त्रिभिः" का अर्थ वेद स्मृति और शिष्टजन, अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम, इनसे चित्तकी शुद्धि या निर्मलता लाभ प्रत्यक्ष-सिद्ध है। त्रिकर्मकृत् का अर्थ—इज्या (याग), अध्ययन और दानकर्त्ता है, इस प्रकार गुणसम्पन्न व्यक्ति जन्म और मृत्युको अतिक्रम करता है। अपि च, ब्रह्म हिरण्यगर्भसे उत्पन्न--ब्रह्मज, एवं सर्वज्ञताके कारण ज्ञ अत एव ब्रह्मज-ज्ञ--सर्वज्ञ और द्योतन वा प्रकाशमय होनेसे देव अर्थात् ज्ञानादिगुण-सम्पन्न स्तवनीय उस देवको शास्त्रद्वारा जानकर एवं आत्मरूपमें उपलब्धि करके अपनी बुद्धि द्वारा प्रत्यक्ष करनेयोग्य अत्यन्त शान्ति अर्थात् भोग-निवृत्तिको लाभ करता है। अर्थात् ज्ञान और कर्मके समुच्चय (एक साथ अनुष्ठान) द्वारा "वैराज" पद प्राप्त करता है ॥१७॥

टीका ।

श्रीभगवान् यम-धर्मराजने जीवोंके परम कल्याणके निमित्त

अग्नि-विज्ञानको सन्मुख रखकर नाचिकेता-यागका विधान किया। उस वैदिक यागमें विशेष शक्ति प्रदान की, और आज्ञा की कि, उस वैदिक यागका जो तीन वार विधि-पूर्वक अनुष्ठान करेगा, उसको वेदके काण्डत्रय अर्थात् कर्मकाण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञानकाण्ड तीनोंके रहस्यका अधिकार प्राप्त होगा। तब वह वेद-पारदर्शी महापुरुष एक विशेष सन्धिमें पहुँच जायगा। वह सन्धि सकामसे निष्कामके अधिकारकी सन्धि है। श्रीभगवान्ने गीतोपनिषत्में कहा है—

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। तथा—

"कर्मण्यकर्म यः पश्येत् अकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥"

भगवान् यम-धर्मराजद्वारा प्रवर्त्तित नाचिकेता-यागके तीन वार करनेसे उस सुकौशल-पूर्ण कर्म-यज्ञ-शैलीके द्वारा इस अधिकारको साधक स्वतः प्राप्त होजायगा और इस अध्यात्मिक सन्धिको प्राप्त करके उच्च अधिकारी बन जाएगा, तब वेद, स्मृति आदिके आश्रयद्वारा और पिता-माता-गुरुको प्रसन्न करता हुआ कर्म-यज्ञ उपासना-यज्ञ और ज्ञान-यज्ञका यथाविधि साधन करता हुआ सकामसे निष्कामकी सन्धिमें पहुंच जायगा। जैसा कि, श्रीगीतोपनिषत्में कहा है। तदनन्तर वह—

'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

एतान्यापि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

इस गीतोपनिषत्-कथित उन्नततर अधिकारको प्राप्त करता है। उस समय वह परम भाग्यवान् अधिकारी त्रिलोक-पवित्र-कारी बनकर यज्ञ, तप और दानरूपी तीनों कर्मोंको निष्काम हो केवल कर्त्तव्य-बुद्धिसे करता रहता है। तब वह कर्म-बन्धन से छूटकर चाहे याग करे, चाहे अध्ययन करे, चाहे दान करे, चाहे तप करे, चाहे जगत्-कल्याणका कोई कार्य करे, चाहे यज्ञ-साधन करे, चाहे महायज्ञ-साधन करे, वह कर्म करता हुआभी कर्मका अकर्त्ता ही बना रहता है और जन्म-मृत्युरूपी आवागमन-चक्रके फन्देसे निकल जाता है। इस श्रेष्ठतम दशामें पहुंच कर परम भाग्यवान् महापुरुष सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी, सबके स्तवनीय एक अद्वितीय परमात्माको जानकर अपने आत्मामें उसका अद्वैतरूपसे अनुभव करके परमशान्तिके निर्वाण पदको प्राप्त कर लेता है। श्रीभगवान् यम-धर्मराजने इस देव-पदके स्थापनकेसाथ इस यज्ञ-विशेष की प्रवृत्ति कराकर उसका महिमा-प्रचार इस मन्त्र द्वारा किया है॥ १७॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा,
य एवं विद्वाँश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य,
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ १८॥

यः त्रिणाचिकेतः (वारत्रयं नाचिकेताग्निसेवकः) एतत् (यथोक्तं)

त्रयं विदित्वा-नाचिकेतसं (अग्निं) एवं (एवंप्रकारेण) विद्वान् (जानन्) चिनुते (निर्वर्त्तयति) सः पुरतः (शरीरपातात् पूर्वं) मृत्युपाशान् प्रणोद्य (निरस्य) शोकातिगः (दुःखवर्जितः सन्) स्वर्गलोके मोदते (सुखं प्राप्नोति) ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ।

तीनवार नाचिकेत अग्निका सेवक पूर्वोक्त इन तीनोंको जानकर एवं नाचिकेत अग्निको इसप्रकार जानकर जो उसका संपादन करता है, वह मृत्यु-पाशको छिन्न करके सब दुःखोंको अतिक्रम करते हुए स्वर्गलोकमें आनन्द भोग करता है॥ १८॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

इदानीमग्निविज्ञान-चयन-फलमुपसंहरति प्रकरणञ्च, त्रिणाचिकेतः त्रयं यथोक्तं 'या इष्टका यावतीर्वा यथा वा' इत्येतत् विदित्वा अवगम्य यश्च एवम् आत्मरूपेण अग्निं विद्वान् चिनुते निर्वर्त्तयति नाचिकेतमग्निं क्रतुम् स मृत्युपाशान् अधर्माज्ञान-रागद्वेषादि-लक्षणान् पुरतोऽग्रतः पूर्वमेव शरीरपातादित्यर्थः। प्रणोद्य अपहाय शोकातिगो मानसैर्दुःखैर्वर्जित इत्येतत्। मोदते स्वर्गलोके वैराजे विराडात्मस्वरूप-प्रतिपत्त्या ॥१८॥

भाष्यानुवाद।

अब अग्नि-विज्ञान और अग्नि-चयनका फल तथा इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं,—त्रिणाचिकेत अर्थात् तीन वार नचिकेत अग्निका चयनकर्ता जो पूर्वोक्त इष्टकाका स्वरूप, संख्या और संग्रह-प्रणालीको जानकर एवं नचिकेत अग्निको आत्मस्वरूपमें जानकर उसका अनुष्ठान करता है, वह अग्रे अर्थात्

शरीरान्त होनेके पहले ही अधर्म, अज्ञान, और राग-द्वेषादिरूप मृत्युपाश-समूहको छेदन करके मानस दुःखरूप शोकसे रहित हो विराट् स्वरूपको उपलब्ध करके स्वर्गलोकमें अर्थात् विराट्-पदमें आनन्द लाभ करता है ॥ १८ ॥

टीका ।

इससे पहली श्रुति निःश्रेयसपरा है, और यह श्रुति अभ्युदयपरा है । तीन वार नाचिकेता याग करनेवाला महापुरुष कैसे निःश्रेयस प्राप्त करता है; उसका क्रम पहले मन्त्रमें बताया गया है । अब इस मन्त्रमें कहा गया है कि, यदि पूर्व मन्त्रोक्त-दशाको त्रिणाचिकेता प्राप्त न कर सके तोभी वह यदि क्रियाके इष्टकादि भेद जानकर और इस प्रकार नाचिकेत अग्निको जान कर उसका चयन (अनुष्ठान) तीनवार करें, तो वह मृत्यु-पाशको पहलेसे छिन्न करके, शोकरहित होकर स्वर्गलोकमें आनन्द भोग करता है । तीनवार नाचिकेता याग करनेवाले व्यक्तिकी जो पहली दशा होती है, सो पहले मन्त्रमें विस्तारित-रूपसे कहा गया है; परन्तु जो याज्ञिक उस दशाको प्राप्त न कर सके, वहभी इस यज्ञके प्रभावसे बहुकालव्यापी देवलोकको प्राप्त कर सकता है । मनुष्यकी साधारण गति यह है कि, वह स्थूल-शरीरके पातके अनन्तर प्रेतलोक, नरकलोक, पितृलोक अथवा औरभी उन्नत भोगलोकोंमें होकर पुनः इस मृत्युलोकमें आया करता है । किन्तु सम्यक् प्रकारसे तीनवार नाचिकेता-यागका अनुष्ठानकारी व्यक्ति और अधिक न होसके तोभी इस मृत्यु-

लोकमें बार-बार आनेके झगड़ेसे बच जाएगा । और जैवकर्मके अधिकारसे बचकर ऐशकर्मके अधिकारमें पहुंच जाएगा, इतना तो अवश्य ही होगा । ऐसी ही शक्ति भगवान् धर्मराजने इस यागमें रक्खी है । इस मन्त्रमें जो "पुरतः" शब्द आया है, उसका स्वारस्य अतिमधुर है । पूर्वजन्मार्जित असाधारण पुण्यके प्रभावसे महात्मा नचिकेताने यमपुरीमें पहुंचकर भगवान् धर्मराज यमकी कृपा प्राप्त करके स्थायी देव-पदवी प्राप्त की थी; परन्तु तीन बार नाचिकेता नामक यज्ञ करनेसे याज्ञिकको यज्ञकी पूर्त्तिके साथ-ही-साथ ऐसा तीव्र शुभ प्रारब्ध संग्रह हो जाएगा कि, उसका शरीरान्त होनेपर बहुकाल-व्यापी स्वर्ग-सुख मिलना निश्चित हो जायगा यही निश्चय-वाचक "पुरतः" शब्द है ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो,
यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास-
स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

हे नचिकेतः ! ते (तुभ्यं) एष स्वर्ग्यः (स्वर्ग-साधनभूतः) अग्निः (तत्सम्बन्धीयवरः) [दत्तः], यं (वरं) द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः (वृतवान्) [असि] । जनासः (जनाः) एतम् अग्निं तव एव [नाम्ना] प्रवक्ष्यन्ति (व्याहरिष्यन्ति) । [अधुना] हे नचिकेतः तृतीयं (अवशिष्टं) वरं वृणीष्व (प्रार्थयस्व) ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ ।

(नचिकेताको यम कहते हैं,–) हे नचिकेता! स्वर्गका साधन-भूत यह अग्नि-विषयका उपदेश तुमको दिया जिसकी प्रार्थना तुमने दूसरे वरमें की थी। मनुष्यगण तुम्हारे ही नामसे इस अग्निको बुलावेंगे। हे नचिकेता! अब तुम तीसरा वर मांगो ॥ १९ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

एष ते तुभ्यमग्निर्वरो हे नचिकेतः स्वर्ग्यः स्वर्ग-साधनः, यम् अग्निं वरम् अवृणीथाः वृतवान् प्रार्थितवान् असि द्वितीयेन वरेण, सोऽग्निर्वरो दत्तः इत्युक्तोपसंहारः। किंच, एतम् अग्निं तवैव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति जनासो जना इत्येतत्, एष वरो दत्तो मया चतुर्थः तुष्टेन। तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व। तस्मिन् ह्यदत्त ऋणवानहमित्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

भाष्यानुवाद ।

हे नचिकेता! तुमने द्वितीय वरमें जिस अग्नि-विज्ञानकी प्रार्थना की थी, स्वर्ग्य—स्वर्ग-साधन-भूत वह अग्नि-विद्यारूप द्वितीय वर प्रदान किया। ऐसा कह कर इस विषयका उपसंहार मात्र किया है। और इस अग्निको तुम्हारे ही नामसे लोग अभि-हित करेंगे। मैंने प्रसन्न होकर यह चतुर्थ वर प्रदान किया है। हे नचिकेता! (अब) तृतीय वरकी प्रार्थना करो। क्योंकि उसको न देनेसे मैं ऋणी रहूंगा ॥ १९ ॥

टीका ।

महात्मा नचिकेताकी तपस्या तथा पूर्वकर्मोंसे प्रसन्न होकर

भगवान् यम धर्मराजने प्रथम ही तीन वर देनेकी आज्ञा की थी। ततपश्चात् प्रथम वरमें पितृ-भक्तिका परिचय देनेसे पितृ-लोकके अधिपति भगवान् यम-धर्मराज स्वभावसे ही प्रसन्न हुए थे। पितृ-भक्त सन्तानपर पितृलोकके राजा स्वभावसे ही प्रसन्न होंगे, इसमें सन्देह ही क्या है। दूसरे वरमें जब महात्मा नचिकेताने ऊद्र्ध्वगतिशील स्वर्गप्रद अग्निके विषयमें धर्म-जिज्ञासा की, तो भगवान् यम-धर्मराज महात्मा नचिकेताको यथार्थ अधिकारी समझकर औरभी प्रसन्न हुए और अपनी ओरसे एक अतिरिक्त वर देकर उनको देव-श्रेणीमें लेलिया। परन्तु पहले तीन वर नचिकेताको उनकी इच्छाके अनुसार देनेकी आज्ञा होचुकी थी, इस कारण अपने वचनोंकी सत्यताकी रक्षा के लिये ऐसा कहना पड़ा। कहीं महात्मा नचिकेताको यह भ्रम न होजाय कि, तीन वर मिल चुके, दूसरी ओर भगवानके वचनों की असत्यता न होजाय; इस कारण ऐसी आज्ञा करनी पड़ी। धर्माधर्म-विचारसे, पुण्य और पापफल-भोगके विचारसे, मनुष्यकी ऊद्र्ध्व और अधोगतिके विचारसे, कर्म-भोग तथा आवागमन-चक्रके विचारसे मृत्युलोकके लिये भगवान् यमका पद सबसे बड़ा है। इन विचारोंसे वे ही ईश्वररूप हैं। इस कारण अपने वचनोंकी रक्षा करना उनके लिये स्वभाव-सिद्ध है ॥ १६ ॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।

एतद्द विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं,
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

मनुष्ये (प्राणिमात्रे) प्रेते (मृते सति) या (सर्वजनविदिता) इयं विचिकित्सा (संशयः)—अयं (परलोकगामी) [आत्मा] अस्ति इति एके (केचन वादिनः वदन्ति), नास्ति इति च एके (केचित् वदन्ति) अहं त्वया अनुशिष्टः (उपदिष्टः सन्) एतत् (परलोकतत्त्वं) विद्यां (विजानीयाम्)। वराणां (मध्ये) एषः तृतीयः वरः (मया वृतः) ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ।

(नचिकेताने कहा-) मनुष्यके शरीरान्तके बाद कोई कहते हैं आत्मा है; कोई कहते हैं कि, आत्मा नहीं है। यह जो संशय है, मैं आपके द्वारा उपदिष्ट होकर इसको जानूँ, यही मेरा प्रार्थनीय तृतीय वर है ॥ २० ॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

एतावद् व्यतिक्रान्तेन विधि-प्रतिषेधार्थेन मन्त्र-ब्राह्मणेन अवगन्तव्यम्,—यद्वरद्वयं सूचितं वस्तु नाऽऽत्मतत्त्वविषय-याथात्म्यविज्ञानम्। अतो विधि-प्रतिषेधार्थविषयस्य आत्मनि क्रिया-कारक-फलाध्यारोपणलक्षणस्य स्वाभाविकस्याज्ञानस्य संसारबीजस्य निवृत्त्यर्थं तद्विपरीतब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं क्रिया-कारक-फलाध्यारोपणलक्षणशून्यम् आत्यन्तिकनिःश्रेयसप्रयोजनं वक्तव्यम्; इत्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते। तमेतमर्थं द्वितीयवरप्राप्त्याऽपि अकृतार्थत्वं तृतीयवरगोचरं आत्मज्ञानमन्तरेण इत्याख्यायिकया प्रपञ्चयति। यतः पूर्वस्मात् कर्म-गोचरात् साध्य-साधनलक्षणादनित्याद् विरक्तस्य आत्म-

ज्ञानेऽधिकारः इति तन्निन्दार्थं पुत्राद्युपन्यासेन प्रलोभनं क्रियते । नचिकता उवाच—"तृतीयं वर नचिकेतो वृणीष्व" इत्युक्तः सन्; येयं विचिकित्सा संशयः—प्रेते मृते मनुष्ये, अस्तीत्येके अस्ति शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तो देहान्तरसम्बन्ध्यात्मा इत्येके मन्यन्ते, नायमस्तीति चैके—नायमेवंविधोऽस्तीति चैके। अतश्चास्माकं न प्रत्यक्षेण नापिवाऽनुमानेन निर्णयविज्ञानम् एतद्विज्ञानाधीनो हि परः पुरुषार्थ इत्यत एतद् विद्यां विजानीयाम् अहं अनुशिष्टः ज्ञापितस्त्वया। वराणामेष वरस्तृतीयोऽवशिष्टः ॥ २० ॥

भाष्यानुवाद ।

अवतक दोनो वरोंके सम्बन्धसे जो कुछ कहा गया है; वह सब विधिनिषेधात्मक मन्त्र एवं ब्राह्मण ग्रन्थका विषय है, उनमें कोईभी आत्मतत्त्व-विषयक यथार्थ ज्ञान नहीं है। अतएव विधि-निषेधात्मक विषय, जिसमें क्रिया, कारक, एवं उसके फलका अध्यारोप आत्मामें होता है, जीवका स्वभाव-सिद्ध एवं संसारका वीजभूत उस अज्ञानकी निवृत्तिके लिये अव उसके विपरीत, क्रिया, कारक और उसके फलके अध्यारोपसे रहित एवं आत्यन्तिक मुक्तिप्रद ब्रह्म और आत्माके एकत्व-विज्ञानका प्रतिपादन करना चाहिये, इसलिये ग्रन्थका परवर्त्ती भाग प्रारम्भ होता है। तृतीय वरमें देखने योग्य जो आत्मज्ञान है, उसको प्राप्त किये विना द्वितीय वर प्राप्त करकेभी कृतार्थता नहीं होती सोभी आख्यायिका सिद्ध करती है। पूर्वोक्त साध्य-साधनात्मक अनित्य कर्म-फलसे विरत अर्थात् कर्म-फलमें

इच्छा जिसको नहीं है, ऐसा व्यक्ति ही आत्मज्ञानका अधिकारी है। इसलिये उसकी निन्दा करके पुत्रादिका प्रलोभन नचिकेताको दिया जाता है। "हे नचिकेता! तुम तीसरे वरकी प्रार्थना करो" ऐसा कहनेपर नचिकेताने कहा कि, यह जो संशय है कि, कोई कहते हैं—मनुष्यके मृत्युके अनन्तर शरीर, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिसे अलग आत्मा है, पुनः कोई कहते हैं कि, इस प्रकार आत्मा नहीं है। यह विषय प्रत्यक्ष या अनुमान द्वाराभी हम निश्चयरूपसे नहीं जान सकते हैं और मुक्तिरूपी परमपुरुषार्थ इसी विज्ञानके अधीन है, अतएव आपके उपदेशसे मैं इस विद्याको जानूँ, यही मेरा अवशिष्ट तीसरा वर है ॥२०॥

टीका।

चाहे मृत्युलोकका शरीर हो, चाहे पितृलोकका शरीर हो, चाहे असुरलोकका शरीर हो, चाहे देवलोकका शरीर हो, सब स्थलपर ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर विद्यमान रहते हैं। भेद केवल इतना ही रहता है कि, मृत्युलोकमें पृथ्वीतत्त्व प्रधान स्थूलशरीर रहता है, इस कारण पार्थिव नेत्रसे वह दिखाई देता है। देवयोनिके स्थूल शरीर अन्य तत्त्वकी प्रधानता रखते हैं, इस कारण पार्थिव नेत्रवाले मनुष्यगण उनको साधारण दृष्टिसे नहीं देख सकते हैं। परन्तु यह निश्चित है कि, सब स्थलके जीवोंमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर विद्यमान रहते हैं। दूसरी ओर स्थूल शरीर लोकभेदसे विभिन्न प्रकारका होता है, परन्तु सूक्ष्म और कारण शरीर सबका एक

ही ढङ्गका होता है। अतिभाग्यवान् महात्मा नचिकेता अपने अनेक जन्मोंके उग्र पुण्यके प्रभावसे अपने ज्ञानसहित पितृलोकमें पहुँच गये। तदनन्तर ईश्वररूप पितृलोकके अधिपतिकी कृपा प्राप्त की, और उनकी कृपासे विशेष देवपदवीभी प्राप्त की। एकवार ही जो महात्मा इसप्रकार असाधारण अभ्युदयको प्राप्त कर लेवे, तो उसकी आध्यात्मिक उन्नति होना भी स्वतः सिद्ध है। दूसरी ओर धर्म-जिज्ञासाके अनन्तर आत्म-जिज्ञासाभी स्वाभाविक है। शुभकर्मसे उपासना-वृद्धि हुई जिससे दैवी-कृपा प्राप्त हुई। अब ज्ञानाधिकार-प्राप्तिके लिये गुरुकृपा प्राप्त हो रही है। अतः शिष्य गुरुदेवसे आत्म-जिज्ञासा करनेके अभिप्रायसे यह प्रश्न कर रहा है कि, ये तीनों शरीर उपाधिरूप हैं, शरीरके अतिरिक्त परमतत्त्वका उपदेश कृपाकर दीजिये। यही इस मन्त्रका तात्पर्य्य है॥ २०॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा,
न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व,
मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥ २१॥

(यम उवाच) देवैः अपि अत्र (अस्मिन् विषये) पुरा (पूर्वं) विचिकित्सितं (संशयितं)। न हि सुज्ञेयं च (नैव सम्यक् विज्ञातुं शक्य)। धर्मः (जगद् धारकः) एष (आत्मा) अणुः (अणुवत् स्वभावत एव दुर्विज्ञेयः)। [अतः] हे नचिकेतः! अन्यं वरं वृणीष्व (प्रार्थ-

यस्व)। मा (मां)-मा उपरोत्सीः (उपरोधं अतिशयाग्रहं मा कार्षीः) मा (मां प्रति) एनं (वरं) अतिसृज (परित्यज) ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ ।

हे नचिकेता! इस विषयमें देवताओंनेभी पहले शंका की थी। यह आत्मतत्त्व सुगमतासे समझनेयोग्य नहीं है, आत्मा स्वभावसे ही दुर्ज्ञेय है। (अतएव) तुम दूसरा वर मांगो, इस विषयके लिये मुझसे अधिक आग्रह मत करो और इस प्रश्नका परित्याग करो ॥ २१ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

किमयमेकान्ततो निःश्रेयस-साधनात्मज्ञानार्हो न वा इत्येतत्परीक्षणार्थमाह—देवैरपि अत्र एतस्मिन् वस्तुनि विचिकित्सितं संशयितं पुरा पूर्वम्। न हि सुज्ञेयं सुष्ठु ज्ञेयं श्रुतमपि प्राकृतैर्जनैः, यतः अणुः सूक्ष्मः एषः आत्माख्यो धर्मः। अतः अन्यम् असंदिग्धफलं वरं नचिकेतः वृणीष्व। मा मां मा उपरोत्सीः उपरोधं मा कार्षीरधमर्णमिवोत्तमर्णः। अतिसृज विमुञ्च एनं वरं मा मां प्रति ॥ २१ ॥

भाष्यानुवाद ।

नचिकेता मोक्ष-साधन आत्मज्ञानका सच्चा अधिकारी है कि नहीं, इसकी परीक्षाके लिये यम कहने लगे—प्राचीन कालमें देवताओंकोभी इस विषयमें सन्देह हुआ था। आत्मारूप धर्म अतिसूक्ष्म होनेसे अतीव दुर्ज्ञेय है। इसलिये साधारण जन वारम्वार सुनकरभी उस तत्त्वको समझ नहीं सकते हैं। अतएव हे नचिकेता! जिसकी फल-प्राप्तिमें किसी प्रकारकी

आशंका नहीं है, ऐसे किसी वरकी प्रार्थना करो, ऋणदेनेवाला जिसप्रकार ऋणलेनेवालेको वाध्य करता है, उसप्रकार तुम मुझे वाध्य मत करो और हमारे निकट इस वरकी प्रार्थनाका परित्याग करो ॥ २१ ॥

टीका ।

आत्म-ज्ञानरूपी धर्म सबसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म अतिसे अति-दुर्ज्ञेय और साधारण बुद्धिसे अतीत है । जीवके अभ्युदय और निःश्रेयस-प्राप्ति सभी धर्मके अधीन है । धर्म-साधनरूपी यज्ञ-समूहमें ज्ञानयज्ञ सबसे श्रेष्ठ है । और ज्ञानयज्ञमें आत्मज्ञान-प्राप्ति सबसे अतिदुर्ज्ञेय, सूक्ष्मातिसूक्ष्मभावसे पूर्ण और लोक-बुद्धिसे अतीत है। दूसरी ओर विना यथार्थ अधिकारीके आत्मज्ञानका उपदेश देनाभी वेद-विरुद्ध है । इसकारण शिष्यकी परीक्षाके लिये, पात्रापात्र निर्णयके लिये और नचि-केता आत्म-ज्ञानका अधिकारी है कि नहीं, इसको जाननेके लिये भगवान् यम धर्मराजने ऐसी आज्ञाकी है ॥ २१ ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल,
लञ्च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो,
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

मृत्यो ! अत्र (विषये) किल देवैः अपि विचिकित्सितं, त्वं च यत् न सुज्ञेयम् आत्थ (कथयसि) । अस्य (तत्वस्य) वक्ता च त्वादृक्

(त्वत् सदृशः) अन्यः न लभ्यः, [अतः] एतस्य (वरस्य) तुल्यः अन्यः कश्चित् वरः न [अस्ति इति मन्ये] ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ।

(यमकी उक्ति सुनकर नचिकेताने कहा,—) हे मृत्यो! देवताओंनेभी इस विषयमें सन्देह किया था, आपभी इसको दुर्बोध्य कहते हैं। आपके समान वक्ताभी मिलना असम्भव है और इसके समान दूसरा वरभी नहीं है ॥ २२ ॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

एवमुक्तो नचिकेता आह—देवैरत्रापि एतस्मिन् वस्तुनि विचिकित्सितं किलेति भवत एव नः श्रुतम्, त्वञ्च मृत्यो यद् यस्मात् न सुज्ञेयम् आत्म-तत्त्वं आत्थ कथयसि अतः पण्डितैरप्यवेदनीयत्वात् वक्ता चास्य धर्मस्य त्वादृक् त्वत्तुल्योऽन्यः पण्डितश्च न लभ्यः अन्विष्यमाणोऽपि। अयं तु वरो निःश्रेयस-प्राप्तिहेतुः, अतो नान्यो वरस्तुल्यः सदृशोऽस्ति एतस्य कश्चिदपि; अनित्यफलत्वादन्यस्य सर्व्वस्यैवेत्यभिप्रायः ॥ २२ ॥

भाष्यानुवाद।

यमके ऐसा कहनेपर नचिकेताने कहा,—हे मृत्यो! देवताओंनेभी इस विषयमें सन्देह किया था, ऐसा आपसे सुना, और आप यहभी कहते हैं कि, आत्मतत्त्व अतिदुर्ज्ञेय है। अतएव पण्डितोंकेभी दुर्बोध्य होनेसे खोजनेपरभी इस धर्म-तत्त्वका वक्ता आपके समान दूसरा कोई पण्डित नहीं मिलेगा, और यही वर निःश्रेयस-प्राप्तिका कारण है, इस-लिये इसके समान दूसरा कोई वरभी नहीं है। तात्पर्य यह है

कि अन्य सभीका फल जब नाशशील है, तब अन्य कोईभी वर इसके समान नहीं हो सकता है ॥ २२ ॥

टीका ।

महात्मा नचिकेताने अपने सिद्धान्तमें दृढ़ता, चित्तका तीव्र-संवेग और गुरुभक्ति दिखाकर कहा कि, जब देवताओंने ऐसी शंका की थी, तो मेराभी ऐसी जिज्ञासामें अधिकार क्यों न होगा । मेरी इस समय और कोई जिज्ञासा नहीं है और न कोई इच्छा बाकी रह गई है । यह भाव चित्तका तीव्र संवेग-प्रकाशक है । और आत्म-ज्ञानके लिये आप जैसा गुरु और कोई भी नहीं मिल सकता, यह गुरुभक्ति प्रकाशक शब्द है ॥२२॥

शतायुषः पुत्र-पौत्रान् वृणीष्व,
बहून् पशून् हस्ति-हिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व,
स्वयञ्च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥

(मृत्यु नचिकेतसं पुनरपि आह) शतायुषः (शतं वर्षाणि आयूंषि येषां, तान्)—पुत्र-पौत्रान् वृणीष्व (प्रार्थयस्व), तथा बहून् पशून् (गवादीन्), हस्ति-हिरण्यं (हस्ती च हिरण्यं च, तत्), अश्वान् , भूमेः (पृथिव्याः) महत् (विस्तीर्णं) आयतनं (साम्राज्यमित्यर्थः) वृणीष्व । स्वयं च (स्वयमपि) यावत् शरदः (वर्षाणि) [जीवितुं] इच्छसि (तावत्) जीव (शरीरं धारय) ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ ।

हे नचिकेता ! तुम सौ वर्षके आयुवाले पुत्र-पौत्र, अनेक गौ

आदि पशु, हस्ती, सुवर्ण और अश्वसमूह मांग लो । पृथिवी-का विशाल आयतन—साम्राज्यकी प्रार्थना करो । स्वयंभी जितने वर्ष जीवित रहना चाहो, उतना जीवन धारण करो ॥२३॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

एवमुक्तोऽपि पुनः प्रलोभयन्नुवाच मृत्युः—शतायुषः—शतं वर्षाणि आयूंषि येषां तान् शतायुषः, पुत्र-पौत्रान् वृणीष्व । किञ्च, गवादिलक्षणान् बहून् पशून्, हस्तिहिरण्यं; अश्वांश्च । किंच भूमेः पृथिव्याः महत् विस्तीर्णं आयतनं आश्रयं—मण्डलं साम्राज्यं वृणीष्व । किंच सर्वमपि एतदनर्थकं स्वयं चेत् अल्पायुरित्यत आह—स्वयञ्च त्वं जीव धारय शरीरं समग्रेन्द्रिय-कलापं शरदो वर्षाणि यावदिच्छसि जीवितुम् ॥ २३ ॥

भाष्यानुवाद ।

ऐसा कहनेपरभी यम पुनः लोभ दिखाकर कहने लगे—सौ वर्ष परिमाण जिनकी आयु है, ऐसे अर्थात् सौ वर्षतक जीनेवाले पुत्र-पौत्रोंकी प्रार्थना करो, और गौ आदि बहु पशु, हस्ती, सुवर्ण तथा अश्वसमूह एवं पृथिवीका विस्तीर्ण आय-तन आश्रय या मण्डल अर्थात् साम्राज्यकी प्रार्थना करो । स्वयं यदि अल्पायु हो, तो ये सब वृथा हैं, इस कारण कहते हैं कि, तुम स्वयंभी जितने वर्ष जीवित रहना चाहो, उतने वर्षतक जीवन धारण करो अर्थात् सब इन्द्रिय-कलाप-सम्पन्न शरीर धारण करो ॥ २३ ॥

टीका ।

प्रथम तो तत्त्व-जिज्ञासा ही कठिन है । विना विषय-वैराग्यके

और विना बुद्धि परिमार्जित हुये दार्शनिक तत्त्वोंको जिज्ञासु कदापि हृदयङ्गम नहीं कर सकता है। और आत्मज्ञानका अधिकार तो सर्वोपरि है। आत्मज्ञानकी प्राप्ति उसीको हो सकती है कि जो सर्वोत्तम पर वैराग्यका अधिकारी हो। इसकारण गुरुदेवने शिष्यका अधिकार निर्णयके लिये तथा शिष्यकी विषय-वैराग्यकी अवस्था जाननेके लिये ऐसी आज्ञाकी। जब विषयोंमें दोप-दर्शन हो, वह मध्यम वैराग्य कहाता है, जब विषय-भोगमें दुःख अनुभव हो, तब वह उत्तम वैराग्य कहाता है. और जब विषय-भोगमें पूर्ण अरुचि हो जाती है, वह अधिमात्र वैराग्य कहाता है। अधिमात्र वैराग्यका अधिकारी ही आत्म-जिज्ञासा कर सकता है। जब विषयके अस्तित्वका ही लोप चित्तसे हो जाता है, वही अवस्था पर वैराग्यकी है। संसारमें अनधिकारीको अधिकार देनेसे जैसी हानि होती है, उसीप्रकार अध्यात्म जगत्‌मेंभी अनधिकार-चर्चाकरनेसे और अनधिकारीको उपदेश देनेसे लाभके स्थानपर हानि ही होती है। इसी कारण गुरुने ऐसी परीक्षा की॥ २३॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं,
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकाञ्च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि,
कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥२४॥

हे नचिकेतः! यदि एतत्तुल्यं आत्मतत्त्वसदृशं अपरं कंचन) वरं मन्यसे (तदा तदपि) वृणीष्व। [अपि च] वित्तं, चिरजीविकां (चिर

जीवितं) च [वृणीष्व] । वित्त (धनं) च [एतत्तुल्यं वरं मन्यसे नहिं तमपि वृणीष्व इत्यर्थः] महाभूमौ (विस्तीर्णभूमिभागे) त्वम् एधि (राजा भव इत्याशयः) । त्वा त्वां कामानां (दिव्यानां मानुषाणां च काम्यमानानां) कामभाजं (कामभागिनं) करोमि ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ ।

हे नचिकेता! तुम यदि इसके समान कोई दूसरा वर चाहो, तो वहभी मांग सकते हो, तथा दीर्घ-जीवन एवं जीवन-रक्षाके लिये यथेष्ट धनकीभी प्रार्थना कर सकते हो। तुम विस्तृत भूमिमें वास करो अर्थात् विस्तीर्ण भूमण्डलका शासक बनो। मैं तुमको काम्यफलोका भोग-भाजन करता हूं ॥ २४ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

एतत्तुल्यं एतेन यथोपदिष्टेन सदृशं अन्यमपि यदि मन्यसे वरं तमपि वृणीष्व । किंच, वित्तं प्रभूतं हिरण्यरत्नादि, चिरजीविकाञ्च सह वित्तेन वृणीष्वेत्येतत् । किं बहुना, महाभूमौ महत्यां भूमौ राजा नचिकेतस्त्व-मेधि भव । किञ्चान्यत्, कामानां दिव्यानां मानुषाणाञ्च त्वा त्वां काम-भाजं कामभागिनं कामार्हं करोमि सत्यसंकल्पो ह्यहं देवः ॥२४॥

भाष्यानुवाद ।

हे नचिकेता ! तुम यदि इसके समान अर्थात् कहेहुए वरके समान कोई दूसरा वर है, ऐसा समझते हो तो उसके लियेभी प्रार्थना करो। वित्त अर्थात् यथेष्ट सुवर्ण-रत्नादि धनके साथ दीर्घ कालतक जीवनकी प्रार्थना करो। अधिक क्या, हे नचिकेता ! तुम महाभूमि अर्थात् विस्तीर्ण भूमिका राजा

बनो। अधिकन्तु देवता एवं मनुष्यके उपभोगके लिये जितने प्रकारके काम्य पदार्थ हैं, मैं तुमको उन सबोंका भागी अर्थात् कामभोगका अधिकारी करता हूं। सारांश यह है कि, मैं सत्य-संकल्प देवता हूं, इच्छामात्रसे सब कुछ कर सकता हूं ॥ २४ ॥

टीका ।

शिष्यकी परीक्षाके निमित्त विषय-सुखका परिमाण बढ़ाकर द्वितीय बार भगवान् यमधर्मराजने आज्ञा की। और साथ-ही-साथ भगवान्ने अपनेमें ईश्वरत्व-शक्तिका परिचय देकर मनमाने विषय-सुख-प्राप्तिका लोभ दिखाया। क्योंकि, शिष्यकी परीक्षा करनेमें बार-बार परीक्षा करनेकी आवश्यकता होती है, यही इस मन्त्रका वैज्ञानिक रहस्य है ॥ २४ ॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके,
सर्वान् कामाँ श्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या,
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व,
नचिकेतो मरणं माऽनुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

मर्त्यलोके (मृत्युलोके) ये ये कामाः (प्रार्थनीयाः) दुर्लभाः (दुःखेन लब्धुं शक्याः) [तान्] सर्वान् कामान् (भोग्यवस्तूनि) छन्दतः (स्वेच्छानुसारेण) प्रार्थयस्व । इमाः सरथाः (रथस्थाः), सतूर्याः (वादित्रयादि समन्विताः) रामाः (रमयन्ति प्रीणयन्ति पुरुषान् इति रामाः स्त्रियः

अप्सरसो वा) ईदृशाः (एवं विधा रामाः) मनुष्यैः (नरैः) नहि लम्भनीयाः (नैव लभ्याः इत्यर्थः) । हे नचिकेतः ! आभिः (रथाद्युपेताभिः) मत् प्रत्ताभिः (मद्दत्ताभिः स्त्रीभिः) परिचारयस्व (आत्मानं सेवय) मरणं (मरणविषयकं प्रश्नं) माऽनुप्राक्षीः (नैवं पृच्छेत्यर्थः) ॥२५॥

मन्त्रार्थ ।

हे नचिकेता ! मृत्युलोकमें जो जो भोग्य-विषय दुर्लभ हैं तुम स्वेच्छानुसार उनकी प्रार्थना करो । (देखो,) ये स्त्रियां वाद्ययन्त्र लिये हुये रथपर विद्यमान हैं । ऐसे रूप-गुण विशिष्ट रमणीगण मनुष्योंको प्राप्त नहीं होतीं ! मेरे द्वारा दिये हुए इन स्त्रियोंसे तुम अपनी सेवा कराओ । हे नचिकेता! मरण-विषयक प्रश्न मत करो ॥ २५ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

ये ये कामाः प्रार्थनीयाः दुर्लभाश्च मर्त्यलोके, सर्वान् तान् कामान् छन्दतः इच्छातः प्रार्थयस्व । किञ्च, इमाः दिव्या अप्सरसो रमयन्ति पुरुषानिति रामाः, सह रथैर्वर्तन्त इति सरथाः, सतूर्या सवादित्राः ताश्च नहि लम्भनीयाः प्रापणीयाः ईदृशा, एवंविधा मनुष्यैः मर्त्यैः अस्मदादिप्रसादमन्तरेण । आभिः मत्प्रत्ताभिः मया दत्ताभिः परिचारिणीभिः परिचारयस्व आत्मानं—पादप्रक्षालनादिशुश्रूषां कारय आत्मन इत्यर्थः । हे नचिकेतः ! मरणं मरणसम्बद्धं प्रश्नं—प्रेत्यास्ति नास्तीति काकदन्तपरीक्षारूपं मा अनुप्राक्षीः मैवं प्रष्टुमर्हसि ॥ २५ ॥

भाष्यानुवाद ।

मृत्युलोकमें जो जो प्रार्थनीय तथा दुर्लभ हैं, उन सबके

लिये स्वेच्छानुसार प्रार्थना करो। और पुरुषोंको प्रसन्न करने-वाली ये दिव्य अप्सराएँ वाद्य-यन्त्र लेकर रथसहित विद्यमान हैं, ऐसी रमणियाँ मेरे कृपाबिना मनुष्योंको प्राप्त नहीं हो सकती हैं। मेरेद्वारा दिये हुए इन सेविकाओंसे अपनी सेवा कराओ, अर्थात् पैर धुलवाना आदि अपनी शुश्रूषा-कार्य्य कराओ। हे नचिकेता! काकदन्त-परीक्षाकी तरह निष्प्रयोजनीय "मृत्युके बाद आत्मा रहता है या नहीं" यह मरण-सम्बन्धीय प्रश्न करना तुम्हें उचित नहीं है ॥ २५ ॥

टीका।

महात्मा नचिकेता मृत्युलोकसे पितृलोकमें पहुंचे थे। पर-लोकगामी आत्मामें पूर्वापर संस्कारोंका सम्बन्ध अधिक रहता है। पूर्वजन्मकी स्मृतिके साथ-ही-साथ पूर्वजन्मके संस्कार-राशि सामने बने रहते हैं। इस कारण भगवान् यम धर्मराजने मृत्युलोक-सम्बन्धी विषय-सुखकी ओर ही लक्ष्य कराकर शिष्यकी परीक्षा की है। दूसरी ओर यह मृत्युलोक ही कर्म-भूमि है। मृत्युलोकमें जाकर जीव जैसा चाहे, वैसा ऊर्द्ध्वगति-का अधिकार प्राप्त कर सकता है। इस कारण शास्त्रोंमें प्रमाण है कि, देवतागणभी कर्मभूमि भारतवर्षमें जन्म लेकर उत्तमसे उत्तम कर्म-संग्रह करनेकी इच्छा करते हैं। सुतरां इस श्रेणीकी विषय-वासना तो महात्मा नचिकेतामें नहीं रह गयी है, इसकी परीक्षाके लिये ही ऐसी आज्ञा की है। भगवान् यम धर्मराज जब पितृलोक और मृत्युलोक आदिके अधीश्वर हैं तो अपनी

ऐसी शक्तिका प्रयोग अपने अधिकारमें पूर्णरीत्या कर सकते हैं। इस कारण महात्मा नचिकेतामें यदि वैराग्यकी पूर्णता हुई न हो तो उसको आत्मज्ञान न देकर और सब कुछ देनेको प्रस्तुत हुये हैं। तीसरा कारण यह है कि, परीक्षाकी पूर्णता भी तीन बारमें ही होती है। यही इन मन्त्रोंका वैज्ञानिक स्वारस्य है ॥ २५ ॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्,
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव,
तवैव वाहास्तव नृत्य-गीते ॥ २६ ॥

हे अन्तक ! (मृत्यो !) श्वोभावाः (श्वः—आगामिनि दिने स्थास्यति न वा भावः सत्ता येषां, तथाभूताः), मर्त्यस्य (मनुष्यस्य) यदेतत् सर्वेन्द्रियाणां तेजः (वीर्य्यं) जरयन्ति (शिथिली कुर्व्वन्ति)। सर्वमपि जीवितं (आयुः) अल्पमेव (परिमितत्वात्)। वाहाः (अश्वरथादयः) तवैव [सन्तु] नृत्य-गीते च तव [एव स्ताम्] ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ ।

(नचिकेता उत्तर देने लगे,) हे अन्तक—यम ! श्वोभाव अर्थात् कलतक रहेंगे, कि नहीं सोभी सन्देहास्पद है, ये (विषय) मनुष्योंके सब इन्द्रियोंके तेजको जीर्ण कर देते हैं। तथा सब जीवन ही परिमित होनेसे अल्प है। (अतएव) वाह अर्थात् अश्वरथादि वाहनसमूह आपको ही रहे, आपका नृत्य-गीत भी आपको ही रहे ॥ २६ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

मृत्युना एवं प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता महाह्रदवदक्षोभ्य आह,—श्वो भविष्यन्ति न भविष्यन्ति वेति सन्दिह्यमान एव येषां भावो भवनं,-त्वयोपन्यस्तानां भोगानां, ते श्वोभावाः । किञ्च मर्त्यस्य मनुष्यस्य अन्तक हे मृत्यो यदेतत् सर्वेन्द्रियाणां तेजः, तत् जरयन्ति अपक्षयन्ति अप्सरः प्रभृतयो भोगाः अनर्थायैवैते । धर्मवीर्य्यप्रज्ञातेजोयशःप्रभृतीनां क्षपयितृ-त्वात् । यां चापि दीर्घजीविकां त्वं दित्ससि, तत्रापि शृणु,—सर्वं यद् ब्रह्मणोऽपि जीवितं आयुः अल्पमेव, किमुतास्मदादिदीर्घजीविका । अतस्तवैव तिष्ठन्तु वाहाः रथादयः, तथा तव नृत्यगीते च ॥ २६ ॥

भाष्यानुवाद ।

नचिकेता इस प्रकार प्रलोभित होकरभी समुद्रकी तरह अक्षुब्धभावसे कहने लगे,—हे अन्तक ! आपके द्वारा दान की हुई भोग्य-वस्तुओंका भाव अर्थात् अस्तित्व कल रहेगा कि नहीं, सन्देहास्पद है, (अतः) श्वोभाव हैं। और अप्सरा आदि सब भोग्यवस्तु मनुष्यके समस्त इन्द्रियोंका जो तेज (शक्ति) है, उसको जीर्ण करती हैं अर्थात् क्षीण करती हैं। धर्म, वीर्य्य, प्रज्ञा, तेज और यश आदिके क्षयका कारण होनेसे ये सब अनर्थमूलक हैं। एवं आपने जो दीर्घ-जीवन देनेकी इच्छा की, उसके सम्बन्धमेंभी सुनिये,—समस्त जीवन यहाँ-तक कि ब्रह्माकाभी जीवन—आयु जब अल्प है, तब हमलोगो-के दीर्घ-जीवनकी तो बात ही क्या है? अतः रथादि वाहन समूह और नृत्य-गीत आदिभी आपको ही रहे ॥ २६ ॥

टीका ।

महात्मा नचिकेताने गुरुकी परीक्षामें उत्तीर्ण होकर विषयोंके प्रलोभनमें न फँसकर निवेदन किया कि, आपकी कृपासे मैं यह जानता हूँ कि, जितने प्रकारके ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख हैं, वे सब नाशवान् और क्षणभङ्गुर हैं। इसकारण आपकी कृपा जिसपर होती है, उसमें विषय-वैराग्यकी पूर्णता होजानेसे वैषयिक सुखकी इच्छा रह ही नहीं सकती। इसकारण मुझे ऐहलौकिक अथवा पारलौकिक मृत्युलोक अथवा देवलोकके किसीभी सुखकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं है। दूसरा निवेदन यह है कि, सब प्रकारके वैषयिक सुख सब इन्द्रियोंके तेजको जीर्ण करते हैं। इसकारण यदि वैराग्यका सिद्धान्तभी न ग्रहण किया जाय, तो विचारद्वाराभी ऐहलौकिक और पारलौकिक सुखोंमें इच्छा रखना अनुचित है। जीवमात्र ही मरणशील है। चाहे मृत्युलोकके जीव हों, चाहे स्वर्गलोकके जीव हों, प्रारब्धकर्मके भोगके अनन्तर उनके स्थूलदेहका परिवर्त्तन होना, लोकान्तर होना अथवा अवस्थान्तर होना अवश्यम्भावी है। इसकारण वे सभी मरणशील हैं। दूसरी ओर जीवके इन्द्रिय-समूह जितना-जितना विषय-भोगमें रत होते हैं, उतना ही उनके तेजका ह्रास होता है, और उससे आत्म-बलका क्षय हो जाता है। यह पहले ही प्रकाशित हो चुका है, कि जो सर्वव्यापक आत्म-शक्ति जीवको अबाधरूपसे आत्माकी ओर आकर्षित करती रहती है, उसको तेज कहतेहैं। शरीरी जीवमेंभी वह

तेज विद्यमान रहनेसे उसका सम्बन्ध इन्द्रियादियोंसेभी है। पञ्चज्ञानेन्द्रिय और मन, ये इन्द्रियाँ ही हैं। विषयासक्तिके द्वारा जीव जितना-जितना अपनेको विषयोंमें फँसाता है, उतना ही अपने तेजका क्षय करता है। ऐसा होनेसे उसकी अधोगति स्वाभाविक है। यही कारण है कि, जीवमें आवागमन-चक्रकी गति स्थायी बनी रहती है। और उसकी अबाध ऊर्द्ध्वगति वक्र हो जाती है। यदि ऐसा न हो, और साधन तथा ज्ञानार्जन द्वारा महत् पुरुष संयम करें, तो उनमें तेजका स्वाभाविक संरक्षण रहता है। और संयमित इन्द्रिय तथा मन उसके तेजोवृद्धिका कारण बनकर उसके आत्मोन्मुख ऊर्द्ध्वगतिको बनाए रखते हैं। अतः जैसे वैराग्य-दृष्टिसे विषय-सुख हेय है, वैसे ही विचारदृष्टिसेभी विषय-सुख हेय है। हे भगवन् यमधर्मराज! आप ईश्वर हैं, आपके लिये प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों समान है, आप अनेक भोगलोकोंके राजा हैं, आवागमन-चक्रकी गतिको चलानेके लिये आपको कर्मलोक और भोगलोककी रक्षा करनी पड़ती है। इसकारण हे प्रभो! ये सब इन्द्रिय-सुखके भोग्य पदार्थ आपके पास ही रहें। हे गुरो! हमें और कुछ अपेक्षित नहीं है, हमें कृपा करके आत्मज्ञान प्रदान कीजिये ॥ २६ ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो,

लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।

जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

मनुष्यः वित्तेन (धनेन) न तर्पणीयः (आप्यायनीयः), त्वा (त्वां) चेद् अद्राक्ष्म (दृष्टवन्तः स्मः) [तर्हि] वित्तं लप्स्यामहे। त्वं यावत् ईशिष्यसि (याम्येपदे प्रभुः स्थास्यसि) तावत् जीविष्यामः। [तस्मात्] वरस्तु (वरः पुनः) स एव (प्राग् याचित एव) मे (मम) वरणीयः (प्रार्थनीयः) ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ।

मनुष्य धनसे तृप्त नहीं होता है, और यदि आपका दर्शन किया है, तो धन प्राप्त करेंगे ही, तथा आप जबतक यमपदका स्वामी रहेंगे, तबतक निश्चय ही जीवित रहेंगे। (इसलिये) मेरा प्रथमोक्त वर ही प्रार्थनीय है ॥ २७ ॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

किञ्च न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। न हि लोके वित्तलाभः कस्यचित् तृप्तिकरो दृष्टः। यदि नाम अस्माकं वित्त-तृष्णा स्यात्, लप्स्यामहे प्राप्स्यामहे इति एतद् वित्तम् अद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयं चेत् त्वाम्। जीवितमपि तथैव; जीविष्यामः यावद् याम्ये पदे त्वम् ईशिष्यसि--ईशिष्यसे प्रभुः स्याः। कथं हि मर्त्यः त्वया समेत्य अल्पधनायुर्भवेत्? वरस्तु मे वरणीयः स एव, यदात्मविज्ञानम् ॥ २७ ॥

भाष्यानुवाद।

मनुष्य यथेष्ठ धन प्राप्त करकेभी कभी तृप्त नहीं होता।

क्योकि, धन प्राप्त करके जगत्में किसीको तृप्त होते देखा नहीं गया । हमें यदि धनकी तृष्णा होगी तो, अवश्य प्राप्त करेहींगे, यदि आपका दर्शन किया है। चिरायु होनेके सम्बन्धमें भी ऐसा ही है। जबतक आप यमलोकके शासक ईश्वर रहेंगे, तबतक हम अवश्य ही जीवित रहेंगे। आपका साक्षात्कार करके मनुष्य कैसे निर्धन और अल्पायु हो सकता है? इसकारण आत्म-विज्ञानरूपी वही वर मेरा प्रार्थनीय है ॥ २७ ॥

टीका ।

यदि यह विचार किया जाय कि, जबतक जीवसत्ता है, तबतक कुछ-न-कुछ विषयकी आवश्यकता होती ही है, तौभी आप जैसे ईश्वरके दर्शन हुए हैं और आपकी कृपा प्राप्त हुई है, इससे हमारा अभाव रहेहीगा नहीं और जबतक आप अपने पदपर स्थित हैं, तबतक हम जैसे आपके अधीन पदधारियोंका जीवित रहनाभी निश्चित ही है। अतः किसी ओरभी कोई चिन्ताकी बात नहीं है और न आवश्यकता ही है। इसकारण हमें केवल पूर्व प्रार्थित वर ही अपेक्षित है ॥ २७ ॥

अजीर्य्यताममृतानामुपेत्य,—
जीर्य्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन् वर्ण-रति-प्रमोदान्,
अतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

[हे मृत्यो !] क्वधःस्थः (कुः पृथिवी, अधः अन्तरिक्ष लोकापेक्षया, तस्यां तिष्ठतीति क्वधःस्थः) को जीर्य्यन् मर्त्यः (जरा-मरणशीलः जनः) अजीर्य्यतां (जरा-रहितानां) अमृतानां (देवानां) उपेत्य (उपगम्य) प्रजानन् (विद्वान् सन्) वर्ण-रतिप्रमोदान् अभिध्यायन् (चिन्तयन्) अतिदीर्घे जीविते रमेत (न कोऽपीत्यर्थः) ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ ।

(नचिकेता पुनः कह रहे हैं—हे मृत्यो !) कौन जरा-मरण-शील संसारी मनुष्य जरा-मरण-रहित देवताओंका नैकट्य लाभ करके अप्सरादि वर्ण-रति-प्रमोदसमूहको क्षणस्थायी और अनित्य जानकरभी अतिशय दीर्घायु होनेमें आनन्द अनुभव करता है ? ॥ २८ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यतश्च अजीर्य्यतां वयोहानिमप्राप्नुवतां अमृतानां सकाशं उपेत्य उपगम्य आत्मन उत्कृष्टं प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्यम् तेभ्यः प्रजानन् उपलभ-मानः स्वयन्तु जीर्य्यन् मर्त्यः—जरामरणवान्, क्वधःस्थः—कुः पृथिवी, अधश्चान्तरिक्षादिलोकापेक्षया, तस्यां तिष्ठतीति क्वधःस्थः सन् कथमेव-मविवेकिभिः प्रार्थनीयं पुत्र-वित्त-हिरण्याद्यस्थिरं वृणीते । "क्व तदास्थः" इति वा पाठान्तरम् । अस्मिन् पक्षे च एवमक्षरयोजना—तेषु पुत्रादिषु आस्था आस्थितिः तात्पर्य्येण वर्त्तनं यस्य, स तदास्थः । ततोऽधिकतरं पुरुषार्थं दुष्प्रापमपि प्रापिपयिषु क्व तदास्थो भवेत् ?-न कश्चित् तदसारज्ञः तदर्थी स्यादित्यर्थः । सर्वो हि उपर्य्युपर्य्येव बुभूषति लोकः तस्मान्न पुत्र-वित्तादिलोभैः प्रलोभ्योऽहम् । किञ्च अप्सरःप्रमुखान् वर्ण-रतिप्रमोदान्

अनवस्थितरूपतया अभिध्यायन् निरूपयन् यथावत् अतिदीर्घे जीविते को विवेकी रमेत ? ॥२८॥

भाष्यानुवाद ।

अजीर्य्यत् अर्थात् जरा-रहित अमृतरूपी देवताओंके निकट उपस्थित होकर उनसे अपना अन्य प्रकारका श्रेष्ठ प्रयोजन प्राप्त करना चाहिये, इसको समझकर तथा स्वयं जीर्य्यत् मर्त्य—जरा-मरण-शील और कधःस्थ होकर—"कु" का अर्थ पृथिवी है, वह अन्तरिक्षके नीचे है, इस लिये उसको "अधः" कहते हैं, उस पृथिवी-तलमें रहकर मनुष्य किसप्रकार अज्ञानियोंका प्रार्थनीय और अनित्य पुत्र-वित्त एवं सुवर्णादि विषयकी प्रार्थना कर सकता है ? (कधःस्थकी जगह) "क तदास्थः" ऐसा पाठान्तरभी है । इस पक्षमें इसका शब्दार्थ इसप्रकार है—उन पुत्रादिकोंमें आस्था—स्थिति अर्थात् तन्मयरूपसे अवस्थिति जिसकी है, वही तदास्थ है । उन पुत्रादिकोंसेभी अधिक एवं दुर्लभ पुरुपार्थ पानेका इच्छुक कहाँ "तदास्थ" होता है ? तात्पर्य्य यह है कि, जो लोग सार वस्तुको नहीं जानते हैं, वे ही इन विषयोंके प्रार्थी हुआ करते हैं । क्योंकि सभी लोग उत्तरोत्तर उन्नत होना चाहते हैं । इसकारण मैं पुत्रादिकोंके प्रलोभनमें भूलनेवाला नहीं हूं । वर्ण-रति-प्रमोद-परायण अप्सरादिके स्वरूपको यथार्थरूपसे अर्थात् उत्पत्ति और विनाश-शील जानकरभी कौन विवेकी व्यक्ति अतिदीर्घ कालतक जीवन-धारणमें अपनेको सुखी समझता है ? ॥ २८ ॥

टीका ।

सारांश निवेदन यह है कि, आपकी कृपासे जरा-मरणशील मृत्युलोकसे जरा-रहित तथा अमृतरूपी उच्च देवलोकमें पहुँच कर आप जैसे ईश्वरका सान्निध्य और कृपाप्राप्त करके पुनः विवेकी पुरुषको कैसे लोक-प्रसिद्ध एषणाओंमें और वैषयिक सुखोंमें इच्छा रह सकती है ? कदापि नहीं। महात्मा नचिकेता गुरुकी परीक्षामें उत्तीर्ण हुए। प्रथम उन्होने विषयोंकी क्षण-भङ्गुरता और विषय-भोगमें इन्द्रियोंके असंयमसे तेज-हानिके द्वारा वैराग्य और ज्ञानकी परीक्षा दी। तदनन्तर दूसरे मन्त्रमें शरीर-यात्राके समय कुछ-न-कुछ विषयोंकी अवश्यम्भावी आवश्यकता होनेपरभी ज्ञानी कैसे उनमें उपेक्षा रखकर परा वैराग्यका अधिकारी हो सकता है, और केवल कर्त्तव्यबुद्धिद्वारा कर्मयोगकी अवस्थाको प्राप्त कर सकता है, सो गुरुके सन्मुख निवेदन करके अपने ज्ञान-वैराग्य उभयकी सिद्धि बताई। और इस तीसरे मन्त्रमें देवपद-महिमा और देवलोकका महत्व दिखाकर अपने वैराग्य और ज्ञान-विषयक परीक्षाका उपसंहार किया ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो !
यत् साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योऽयं वरो गूढ़मनुप्रविष्टो,
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥

इति कठोपनिषदि प्रथमाध्याये प्रथमा वल्ली समाप्ता ॥ १ ॥ १ ॥

हे मृत्यो ! यस्मिन् (विषये) इदं (आत्मा अस्ति न वेति) यत् (यस्मात्) विचिकित्सन्ति (सन्दिहते जनाः) तत् (तदेव आत्मतत्त्वं) महति साम्पराये (परलोकविषये) नः (अस्मभ्यं) ब्रूहि (उपदिश) । योऽयं वरः (आत्मतत्त्वोक्तिप्रार्थनरूपः) गूढ़ं (गूढ़त्वं गोप्यताम्) अनुप्रविष्टः (प्राप्तः) तस्मात् (वरात्) अन्यं (वरं) नचिकेता न वृणीते इति ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ ।

हे मृत्यो ! जिस परलोक-विषयमें लोग यह सन्देह करते हैं, उसीका उपदेश आप हमें दीजिये, आत्मतत्त्व-विषयक जिस वरको आप बहुत छिपा रहे हैं, नचिकेता उसके सिवाय दूसरा वर नहीं चाहता ॥ २६ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

अतो विहाय अनित्यैः कामैः प्रलोभनं, यत् मया प्रार्थितं—यस्मिन् प्रेते इदं विचिकित्सनं विचिकित्सन्ति अस्ति नास्तीत्येवं प्रकारम् हे मृत्यो ! साम्पराये परलोक-विषये महति महत् प्रयोजन-निमित्ते आत्मनो निर्णय-विज्ञानं यत् तद् ब्रूहि कथय नोऽस्मभ्यम् । किं बहुना, योऽयं प्रकृत आत्मविषयो वरो गूढ़ं गहनं दुर्विवेचनं प्राप्तोऽनुप्रविष्टः तस्मात् वरादन्यम् अविवेकिभिः प्रार्थनीयम् अनित्यविषयं वरं नचिकेता न वृणीते मनसाऽपीति श्रुतेर्वचनमिति ॥ २९ ॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य्य गोविन्दभगवत् पूज्यपाद शिष्य श्रीमदाचार्य्य श्रीशङ्कर भगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये प्रथमवल्ली-भाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥

भाष्यानुवाद ।

अतएव अनित्य काम्य-फल सम्बन्धीय प्रलोभनको प त्याग कर जो मेरा प्रार्थित है—जिसके मरनेपर, है, न है, इस प्रकारका जो संशय है अर्थात् लोग शंका करते है हे मृत्यो! परलोक-विषयक महत् प्रयोजन-सिद्धिके लिये उसी आत्मतत्त्व-विज्ञानका उपदेश हमें दीजिये। और अधिक विस्तारसे क्या प्रयोजन? यह जो प्रकृत आत्म-विषयक वर है, जो अत्यन्त गहन और जिसका विचार करना अत्यन्त कठिन है, जो अनुप्रविष्ट है, उसके अतिरिक्त अविवेकी पुरुषोंका प्रार्थनीय, अनित्य विषयका वर नचिकेता मनसेभी नहीं चाहता है। यह अंश श्रुतिकी उक्ति है ॥ २६ ॥

भाष्यानुवाद समाप्त ।

टीका ।

आत्मज्ञान-प्राप्तिके लिये क्या-क्या आवश्यकता होती है, और जिज्ञासुको कैसा योग्य होना चाहिये, पूर्व मन्त्रोंमें सूत्र रूपसे यही इङ्गित किया गया है। वैराग्यमें जबतक जिज्ञासु निष्णात न हो, तबतक आत्मज्ञान-जिज्ञासामें ही उसका अधिकार नहीं होता है। जैसे दिनमें रातका अभाव हो जाता है और जबतक अन्धकार रहता है, तबतक प्रकाशका अस्तित्व अनुभव नहीं होता, उसी रीतिपर विषय-राग-रहित अन्तःकरण हुए विना आत्म-जिज्ञासा असम्भव होती है। और उसीप्रकार अन्तःकरण जबतक विषय-कालिमासे कलंकित

रहता है, तबतक उसमें आत्मज्ञानकी स्वच्छता प्रतिफलित नहीं होती। विषय-राग-रहित अन्तःकरण ही प्रथम तत्त्वज्ञानका अधिकारी होता है। तब ज्ञान और वैराग्यकी सिद्धि होती है। इसीकारण भगवान् शङ्करने स्वयं कहा है कि—"ज्ञान-वैराग्य सिद्ध्यर्थं भिक्षां देहि च पार्वती।"

विषय-वैराग्य और तत्वज्ञानमें सिद्धिप्राप्त अधिकारी आत्मज्ञानका जिज्ञासु हो सकता है। परन्तु इस उन्नत अवस्थाको प्राप्त करनेपरभी आत्म-जिज्ञासु आत्मज्ञानका अधिकार तभी यथार्थरूपसे प्राप्त कर सकता है, जब भूतकालको भूल जाय और भविष्यत्‌की चिन्तासे एकवार ही रहित हो जाय। दूसरीओर केवल कर्त्तव्यपरायण होकर जिज्ञासु कर्मयोगके पूर्ण अधिकारको प्राप्त कर लेवे और एकमात्र आत्मानुसन्धान और स्वानुभव-प्राप्तिके निमित्त ही अनन्य-भक्तियुक्त होकर श्रीगुरु-शरणापन्न हो सके। इसी उच्चतम अधिकारको प्राप्त करके महात्मा नचिकेताने भूलोकके ईश्वर, धर्माधर्म-फलदाता, जगत्-शासक, परमज्ञानी गुरुदेव भगवान् यमधर्मराजसे विनम्र प्रार्थनाकी कि, हमें और कुछभी अपेक्षित नहीं है, केवल पारलौकिक गतिकी पूर्णता-ज्ञापक आत्मज्ञानकी अपेक्षा है। वह आत्मज्ञान प्रदान करके कृतकृत्य कीजिये ॥ २६ ॥

प्रथम अध्यायके प्रथम वल्लीकी टीका समाप्त।

द्वितीया वल्ली ।

—:*:—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते-
उभे नानार्थे पुरुषꣳ सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु-
भवति, हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥ ३० ॥ १ ॥

[यम आह]—श्रेयः (निःश्रेयसं) अन्यत् (पृथक्), प्रेयः उत (प्रियतरं दारपत्यादि काम्यमानं वस्त्वपि) अन्यत् एव । ते उभे (श्रेयः प्रेयसी) नानार्थे (भिन्न प्रयोजने) पुरुषं (देहिनं) सिनीतः (बध्नीतः) । तयोः (श्रेयः प्रेयसोर्मध्ये) श्रेयः (ब्रह्मविद्यां) आददानस्य (उपासीनस्य) साधु (भद्रं, संसारमोचनरूपं कल्याणं) भवति । य उ (यः पुनः) प्रेयः (दारापत्यादि कामं) वृणीते (उपादत्ते) [सः] अर्थात् (परमपुरुषार्थात्) हीयते (हीनो भवति) ॥ ३० ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ ।

भगवान् यमराजने कहा,—श्रेय निश्चय ही प्रेयसे अलग है; एव प्रेयभी उससे पृथक् है । दोनोंका प्रयोजनभी भिन्न-भिन्न है । दोनों ही पुरुषको आवद्ध करते हैं । दोनोंमें श्रेयको ग्रहण-करनेवालेका शुभ होता है । और जो प्रेयको ग्रहण करता है, वह परम पुरुषार्थसे च्युत हो जाता है ॥ ३० ॥ १ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

परीक्ष्य शिष्यं विद्या-योग्यताञ्च अवगम्याह,—अन्यत् पृथगेव श्रेयो निःश्रेयसं, तथा अन्यदुताप्येव प्रेयः प्रियतरमपि; ते प्रेयः श्रेयसी उभे नानार्थे भिन्न-प्रयोजने सती पुरुषमधिकृतं वर्णाश्रमादिविशिष्टं सिनीतः बध्नीतः, ताभ्यां विद्याविद्याभ्यां आत्मकर्त्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वः पुरुषः । श्रेय-प्रेयसोर्हि अभ्युदयामृतत्वार्थी पुरुषः प्रवर्त्तते । अतः श्रेयः प्रेयःप्रयोजन-कर्त्तव्यतया ताभ्यां वद्ध इत्युच्यते सर्वः पुरुषः । ते यद्यपि एकैकपुरुषार्थ सम्बन्धिनी विद्याविद्यारूपत्वात् विरुद्धे । इत्यन्यतरापरित्यागेन एकेन पुरुषेण सहानुष्ठातुमशक्यत्वात् तयोर्हित्वा अविद्यारूपं प्रेयः, श्रेय एव केवलम् आददानस्य उपादानं कुर्व्वतः साधु शोभनं शिवं भवति । यस्तु अदूरदर्शी विमूढ़ो हीयते वियुज्यते अस्मादर्थात् पुरुषार्थात् पारमार्थिकात् प्रयोजनान्नित्यात् प्रच्यवत इत्यर्थः । कोऽसौ य उ प्रेयो वृणीते उपादत्ते इत्येतत् ॥ २० ॥ १ ॥

भाष्यानुवाद ।

(यमराज) शिष्यकी परीक्षा करके और उसके विद्या-ग्रहणकी योग्यताको देखकर कहने लगे,—श्रेयः अर्थात् निःश्रेयस प्रेयसे पृथक् है, उसीप्रकार प्रेयभी श्रेयसे पृथक् है । वे दोनों ही विभिन्न-विभिन्न प्रयोजनके साधक होकर, वर्णाश्रमादि धर्म-विशिष्ट पुरुषको आवद्ध करते हैं । उन्हीं विद्याविद्या-रूपी श्रेय और प्रेयके द्वारा समस्त पुरुष अपने कर्त्तव्यमें नियुक्त होता है, क्योंकि, जो मोक्षाकांक्षी हैं वे श्रेय-पथमें और जो अभ्युदयाकांक्षी हैं, वे प्रेय-पथमें प्रवृत्त हुआ करते हैं ।

अतः श्रेय एवं प्रेयके लिए ही पुरुषकी प्रवृत्ति होती है। इसकारण पुरुषमात्रको उन दोनोंके द्वारा आवद्ध कहा गया है। यद्यपि वे एक-एक पुरुषार्थकी साधिका हैं, (क्योंकि) विद्या और अविद्याका स्वरूप परस्पर विरुद्ध हैं; इस कारण एक ही व्यक्ति उन दोनोंमेंसे किसी एकका परित्याग न करके कदापिभी दोनोंका साधन एकसाथ नहीं कर सकता है। जो व्यक्ति उन दोनोंमेंसे अविद्यारूप प्रेयको परित्याग करके केवल श्रेयको ग्रहण करता है, उसका कल्याण होता है। किन्तु जो अदूरदर्शी मूढ़ है, वह नित्य पारमार्थिक पुरुषार्थ-रूप प्रयोजनसे वियुक्त होता है अर्थात् मोक्षसे विच्युत हो जाता है। यह कौन है? जो श्रेयको छोड़कर प्रेयको ग्रहण करता है॥ ३०॥ १॥

टीका।

विना वासना-क्षयके निःश्रेयस असम्भव है। वासना-क्षयके साथ-ही-साथ मनोनाश होकर ऋतम्भरा प्रज्ञाका उदय होता है, और इसी दशामें आत्मज्ञानका उदय होना सम्भव है। दूसरीओर प्रेय अर्थात् इन्द्रिय-सुखेच्छा, ऐहलौकिक और पारलौकिक सुखेच्छा आदि, और श्रेय अर्थात् निःश्रेयसकी इच्छा। यद्यपि प्रथम इच्छा अर्थात् विषयादिकी इच्छा अशुभ है और श्रेय अर्थात् मुक्तिकी इच्छा शुभ है, परन्तु दोनों अवस्थामें ही न मनोनाश होता है और न वासना-क्षय होता है। इसकारण दोनो ही जीवको वान्धते हैं। विषय-सुख

अर्थात् अभ्युदयकी जो इच्छा है, वह अविद्या-जनित होनेके कारण जीवको आवागमन-चक्रमें निरन्तर घुमाती रहती है। परन्तु निःश्रेयसकी जो इच्छा है, वह विद्याकी कृपा-जनित होनेके कारण आवागमन-चक्रसे मुमुक्षुको बचा देनेका मार्ग प्राप्त कराती है, और क्रमशः तत्त्वज्ञानका उदय कराकर वासना-रहित स्वस्वरूप-पदकी ओर अग्रसर करती है। यही कारण है कि, प्रेयकी इच्छा अशुभ है और श्रेयकी इच्छा परम-कल्याणप्रद है ॥ ३० ॥ १ ॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः,
तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि ेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योग-क्षेमाद्‌ वृणीते ॥३१॥२॥

श्रेयश्च प्रेयश्च (द्वे एव) मनुष्यम् एतः (प्राप्य तिष्ठतः) धीरः (ज्ञानी) तौ (श्रेयः प्रेयः शब्दितौ) सम्परीत्य (सम्यक् आलोच्य) विविनक्ति (पृथक् करोति)। धीरः (धीमान्) प्रेयसः (प्रियतमान् दारापत्यादि कामान्) अभि (अवज्ञाय) श्रेयः (ब्रह्मविद्यां) वृणीते । मन्दः (अल्पबुद्धिः) योग-क्षेमाद् (योगक्षेमनिमित्तं) प्रेयः (धनादि) वृणीते (प्रार्थयते) ॥ ३१ ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ ।

श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्यको प्राप्त होते हैं, बुद्धिमान् विचार करके दोनोंको पृथक् करता है। तथा प्रेयको परित्याग

करके श्रेयको ही ग्रहण करता है और मन्दबुद्धि जन योग-क्षेम के लिये प्रेयको ग्रहण करता है ॥ २१ ॥ २ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यद्युभे अपि कर्त्तुं स्वायत्ते पुरुषेण, किमर्थं प्रेय एवादत्ते बाहुल्येन लोक इति उच्यते,—सत्यं स्वायत्ते, तथाऽपि साधनतः फलतश्च मन्दबुद्धिनां दुर्विवेकरूपे सती व्यामिश्रीभूते इव मनुष्यम् एतः पुरुषम् आ+इतः आप्नुतः श्रेयश्च प्रेयश्च । अतो हंस इवाम्भसः पयः, तौ श्रेयः प्रेयःपदार्थौ सम्परीत्य सम्यक् परिगम्य मनसा सम्यक् आलोच्य गुरुलाघवं विविनक्ति—पृथक् करोति धीरो धीमान् । विविच्य च श्रेयो हि श्रेय एव अभिवृणीते यसोऽभ्यर्हितत्वात् श्रेयसः । कोऽसौ?—धीरः । यस्तु मन्दोऽल्पबुद्धिः, स सदसद्विवेकासामर्थ्यात् योगक्षेमाद् योगक्षेमनिमित्तं शरीराद्युपचय-रक्षण-निमित्तमित्येतत्, प्रेयः पशु-पुत्रादि लक्षणं वृणीते ॥ २१ ॥ २ ॥

भाष्यानुवाद ।

श्रेय और प्रेय दोनोंका ही अनुष्ठान करना यदि पुरुषके इच्छाधीन है, तो अधिकांश लोग प्रेयको ही क्यों ग्रहण करते हैं? (शंका निवृत्तिके लिये) कहते हैं—दोनों ही स्वायत्त हैं, तथापि श्रेय और प्रेय साधनरूपसे और फलरूपसे, दोनो अवस्थामें ही परस्पर मिश्रितकी तरह पुरुषको प्राप्त होते हैं। इस कारण प्राकृत जन उनका विवेचन नहीं कर सकते हैं। सुतरां धीर व्यक्ति जलसे दुग्धको अलग करके ग्रहण करनेवाले हंसके समान श्रेय और प्रेय दोनों पदार्थोंका अच्छीतरहसे विचार करके दोनोंके गुरुत्व और लघुत्वको पृथक्-पृथक् कर देते हैं।

इसप्रकार विचार करनेके अनन्तर श्रेयको प्रेयकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझकर श्रेयको ही ग्रहण करते हैं। वे कौन हैं?—धीर व्यक्ति। और जो अल्पबुद्धि हैं, वे सदसद्-विवेक-सामर्थ्यके अभावसे योग-क्षेमके लिये अर्थात् शरीरकी वृद्धि-रक्षा आदिके लिये पशु-पुत्रादिरूप प्रेयकी प्रार्थना करते हैं ॥३१॥२॥

टीका।

जिज्ञासुओंके हृदयमें प्रायः ऐसा प्रश्न उठता है कि, पूर्व जन्मार्जित प्रारब्ध-संस्कारद्वारा जब जीवकी प्रवृत्ति कर्ममें होती है, तो जीव कैसे अपनेको अधर्मसे बचाकर धर्म-पक्षमें अग्रसर करनेमें समर्थ होता है। यदि ऐसा माना जाय कि, मनुष्य सदा प्रारब्धके वेगसे विवश रहता है, तो ऐसा मानने-पर शुभाशुभ कर्म करके शुभ और अशुभगतिका प्राप्त करना जीवके लिये असम्भव हो जायगा। अतः जीवमें प्रवृत्ति चाहे कैसी ही हो, शुभाशुभ कर्मके आरम्भ करनेमें जीव अवश्य ही स्वाधीन है। यही कारण है कि,जीवको उसके शुभाशुभ कर्मका फल अवश्य भोगना पड़ता है। उसी शैलीके अनुसार प्रेय और श्रेय, दोनोंकी वासनाएं जीवमें मिली-जुली होकर उठा करती हैं ।।कर्म और उपासनाके द्वारा पूतात्मा, श्रद्धालु धीर व्यक्ति अविद्यादेवी और विद्यादेवी दोनोंके प्रभावको भली-भांति समझकर अपने विवेकद्वारा विद्याकी कृपा प्राप्त करके श्रेय-मार्गका ही अनुसरण करते हैं। और क्रमशः विषय-राग-रहित अन्तःकरण होकर तत्त्वज्ञानकी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि

द्वारा अन्तमें आत्मज्ञान प्राप्त करके परम कल्याणरूपी निःश्रेयस-पदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३१ ॥ २ ॥

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँ्श्च कामान्,
अभिध्यायन् नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैताँ्सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो,
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥३२॥३॥

हे नचिकेतः! स त्वं (मया प्रलोभ्यमानोऽपि) प्रियान् (सम्बन्ध-वसात् प्रीतिप्रदान् दारा-पुत्रादीन्), प्रियरूपान् च (स्वभावतो रमणीयान् च) कामान् (काम्य-मानान्) अभिध्यायन् (अस्थिरतया चिन्तयन्) अत्यस्राक्षीः (त्यक्तवानभूरित्यर्थः)। वित्तमयीं (धनप्रायाम्) एतां (सन्निहिततरां) सृङ्कां (मालां) न अवाप्त (न स्वीकृतवान् असि)। बहवो मनुष्याः यस्यां मज्जन्ति (आसक्ता भवन्ति) ॥३२॥३॥

मन्त्रार्थ ।

(यमराज पुनः प्रशंसा करते हैं—) हे नचिकेता! तुमने स्वभाव-सौन्दर्य्यादिसे रमणीय काम्य-विषयोंको अनित्य जानकर त्याग किया है। बहुमूल्य वित्तमयी यह सृङ्का तुमने नहीं प्राप्त की, जिसमें बहु मनुष्य निमग्न हो रहे हैं ॥३२॥३॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

स त्वं पुनः पुनर्मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान् पुत्रादीन् प्रियरूपांश्च अप्सरः प्रभृति-लक्षणान् कामान् अभिध्यायन् चिन्तयन्—तेषां अनित्यत्वासारत्वादिदोषान् हे नचिकेतः! अत्यस्राक्षीः अतिसृष्टवान् परित्यक्त-

वानसि; अहो बुद्धिमत्ता तव । न एतां अवाप्तवानसि सृङ्कां सृतिं कुत्सितां मूढ़जनप्रवृत्तां वित्तमयीं धनप्रायाम् । यस्यां सृतौ मज्जन्ति सीदन्ति वहवः अनेके मूढ़ा मनुष्याः ॥३॥३॥

भाष्यानुवाद ।

(यमने कहा,—) हे नचिकेता ! मेरे वार-वार प्रलोभन देने-परभी प्रिय पुत्रादि और प्रियरूप अप्सरादि भोग्य-विषयोंके अनित्यत्व तथा असारत्वादि दोषोंको देखकर तुमने उनका त्याग किया है; यह तुम्हारी बड़ी बुद्धिमत्ता है। मूढ़ जनकी प्रवृत्तिकर धन-बहुल कुत्सित (निन्दनीय) यह सृङ्का तुमने प्राप्त नहीं की, जिसमें अनेक मूढ़ जन निमग्न हो रहे हैं॥३॥३॥

टीका ।

गुरु और शिष्यका पारस्परिक सम्वन्ध अति गभीर विज्ञान से पूर्ण है। परम कृपालु गुरुदेव अपनी गुरुशक्तिद्वारा विनम्र, अहङ्कार-राग-रहित, श्रद्धालु, और लघु शक्ति-विशिष्ट शिष्यको अपनी ओर नानाप्रकारसे आकर्षण करके अभ्युदय और निःश्रेयसका मार्ग वताया करते हैं। अभ्युदयके अधिकारी शिष्यको अनुशासनद्वारा अग्रसर करना पड़ता है, परन्तु श्रेष्ठ अधिकारी मुमुक्षुको जब गुरुदेव निःश्रेयस-मार्गका अधिकारी समझ लेते हैं, तब उसको सफल-काम समझकर उत्साहित करते हैं। अहङ्कार-रहित, विनम्र, गुरुभक्त, मुमुक्षु शिष्यकी प्रतिभाके उद्बोधनके लिये उसको उत्साहित करना गुरुके लिये स्वभाव-सिद्ध है। इसी शुभ अभिप्रायसे श्रीभगवान् यम

धर्म-राजने नचिकेताको ये प्रशंसा-सूचक उत्साह-जनक आदेश किये ॥३२॥३॥

दूरमेते विपरीते विषूची,
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये,
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥३३॥४॥

या अविद्या ज्ञाता, या च विद्या (अमृतत्व-साधनं) [ज्ञाता] एते दूरं (अतिशयेन) विपरीते (अन्योऽन्य पृथक् स्वभावे) विषूची (विरुद्ध फल हेतु)। नचिकेतसं त्वा (त्वां) विद्याभीप्सिनं (विद्याभिकांक्षिणं) मन्ये (जानामि)। [यतः] बहवः कामाः [त्वां] न अलोलुपन्त (श्रेयःपथात् न विचालितं कृतवन्त इत्यर्थः) ॥३३॥४॥

मन्त्रार्थ।

जो अविद्या और विद्यारूपसे परिज्ञात हुईं, ये दोनो ही अत्यन्त विपरीत स्वभाव और विरुद्ध-फलप्रद हैं। मैं तुमको विद्याभिलाषी समझता हूँ; क्योकि बहु काम्य-विषयभी तुमको प्रलोभित नहीं कर सके ॥ ३३ ॥ ४ ॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

"तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति, हीयतेऽर्थात् य उ प्रेयो वृणीते" इत्युक्तम्। तत् कस्मात् ? यतो दूरं दूरेण महता अन्तरेण एते विपरीते अन्योऽन्यव्यावृत्तरूपे विवेकाविवेकात्मकत्वात् तमः प्रकाशाविव। विषूची विषूच्यौ नानागती भिन्नफले संसार-मोक्षहेतुत्वेन इत्येतत्। के ते ? इत्यु-

च्यते—या च अविद्या प्रेयोविषया, विद्येति च श्रेयोविषया ज्ञाता निर्ज्ञाता अवगता पण्डितैः । तत्र विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं नचिकेतसं त्वामहम् मन्ये । कस्मात्? यस्मात् अविद्वद्बुद्धिप्रलोभिनः कामाः अप्सरः प्रभृतयो बहवोऽपि त्वा त्वां न अलोलुपन्त न विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयो मार्गात् आत्मोपभोगाभिवाञ्छा सम्पादनेन । अतो विद्यार्थिनं श्रेयोभाजनं मन्ये इत्यभिप्रायः ॥ ३३ ॥ ४ ॥

भाष्यानुवाद ।

पहले कहा गया है कि, "उन दोनोंमेंसे श्रेयको ग्रहण करनेवालेका कल्याण होता है और प्रेयको ग्रहण करनेवाले परम पुरुषार्थरूपी मोक्षसे भ्रष्ट होते हैं ।" ऐसा क्यों? क्योंकि ये दोनों अत्यन्त विपरीत भावापन्न हैं अर्थात् दोनोंका पार्थक्य बहुत अधिक है; श्रेय विवेकरूप है और प्रेय अविवेकरूप है, इसलिये प्रकाश और अन्धकारके समान दोनों विरुद्ध भावापन्न हैं। एक संसार और दूसरा मोक्षका कारण है। इसलिये दोनोंही विषूची अर्थात् विभिन्न फल-प्रद हैं। वे कौन हैं? पण्डितगण जिनको प्रेयका विषय अविद्या और श्रेयका विषय विद्या करके जानते हैं। नचिकेता! तुमको मैं उनमेंसे विद्याभिलाषी समझता हूं। क्योंकि अज्ञानियोंका चित्ताकर्षक अप्सरादि बहुप्रकारके भोग्य-विषय तुमको लुभा नहीं सके। अर्थात् आत्मभोगकी इच्छा उत्पन्न करके श्रेय-पथसे तुमको विच्युत नहीं कर सके। इसीकारण मैं तुमको विद्यार्थी—श्रेयपथका अधिकारी समझता हूं ॥ ३३ ॥ ४ ॥

टीका।

सृष्टि-प्रपञ्चका रहस्य समझकर विद्या और अविद्याका स्वरूप समझनेयोग्य है। ब्रह्म-शक्ति जगज्जननी महामाया साम्यावस्थासे वैषम्यावस्थाको प्राप्त होते ही त्रिगुणमयी हो जाती है। उससमय वह दो स्वतन्त्र रूपोंको धारण करती है, एक तमः प्रधान और दूसरा सत्त्वप्रधान रूपको धारण करती है। अज्ञानजननी, तमोमयी, जीवको बन्धनमें डालनेवाली अविद्यादेवी और ज्ञान-जननी, सत्त्वमयी, जीवको मुक्तिपदमें पहुंचानेवाली विद्यादेवी कहाती है। अविद्याका निलय सप्त अज्ञानभूमि है और विद्याका निलय सप्त ज्ञानभूमि है। अविद्या-देवी आवागमन-चक्र और सुख-दुःखमय सृष्टि-प्रपञ्चको स्थायी रखती है और विद्यादेवी जीवको मुक्तिपदकी ओर अग्रसर करके स्वस्वरूपकी उपलब्धि कराती है। श्रीगुरुदेव शिष्यको परीक्षो-त्तीर्ण देखकर उसकी प्रतिभा-वृद्धिके लिये तथा उसके सात्त्विक ज्ञान और सात्त्विक धृतिकी उत्पत्तिके लिये उसको उत्साहित कर रहे हैं। शिष्यके विषय-वैराग्यकी प्रशंसा करके उसको विद्या-कृपाभिलाषी परमभाग्यवान् बताते हैं ॥ ३३ ॥ ४ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः,
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा-
अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥३४॥५॥

अविद्यायां अन्तरे (मध्ये) वर्त्तमानाः स्वयं धीराः (स्वयमेव धीमन्त

इति वदन्तः) पण्डितम्मन्यमानाः (आत्मानं पण्डितं च अवगच्छन्तः), दन्द्रम्यमाणाः (वक्रगतयः, कुटिल स्वभावाः) मूढ़ा (अविवेकिनः) परियन्ति परिगच्छन्ति । अन्धेन एव नीयमानाः (परिचालिताः) अन्धाः यथा ॥ ३४ ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ ।

अविद्यामें विद्यमान जो स्वयं ही अपनेको धीर और पण्डित समझते हैं, वक्रगतिके अवलम्बनकरनेवाले ऐसे मूढ़गण भटकते रहते हैं। जैसे अन्धे अन्धेके द्वारा ही चालित होकर भटकते हैं ॥ ३४॥५ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

ये तु संसारभाजो जनाः अविद्यायां अन्तरे मध्ये घनीभूते इव तमसि वर्त्तमानाः वेष्टयमाना पुत्रपश्वादितृष्णापाशशतैः, स्वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति मन्यमानाः अन्यर्थं कुटिलां अनेकरूपां गतिं गच्छन्तो जरा-मरण-रोगादिदुःखैः परियन्ति परिगच्छन्ति मूढ़ा अविवेकिनः, अन्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमानाः विषमे पथि यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थमृच्छन्ति तद्वत् ॥ ३४ ॥ ५ ॥

भाष्यानुवाद ।

जो मनुष्य संसारभागी और प्रगाढ़ अन्धकारकी तरह अविद्यामें विद्यमान पुत्र-पशु-सम्बन्धीय सैकड़ों तृष्णाओंके द्वारा जकड़ेहुए होकरभी स्वयं, अपनेको धीर, ज्ञानी और पण्डित अर्थात् शास्त्रज्ञ समझते हैं, अन्ध जिस प्रकार अन्य अन्धके द्वारा दुर्गम पथमें चालित होकर महान् अनर्थ अर्थात् क्लेशको

प्राप्त होते हैं; उसी प्रकार ऐसे विवेकहीन मूढ़जन जरा, मरण और रोगादि-जनित नाना दुःखोंमें अत्यन्त वक्र विविध कर्म-गति लाभ करतेहुए महान् अनर्थको प्राप्त होते हैं ॥३४॥५॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

ये तु संसारभाजो जनाः अविद्यायां अन्तरे मध्ये घनीभूते इव तमसि वर्तमानाः वेष्ट्यमानाः पुत्रपश्वादितृष्णापाशशतैः, स्वयंधीरा प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्र-कुशलाश्चेति मन्यमाना स्ते दन्द्रम्यमाना अत्यर्थं कुटिलां अनेकरूपां गतिं गच्छन्तो जरा-मरण-रोगादिदुःखैः परियन्ति परिगच्छन्ति मूढ़ा अविवेकिनः, अन्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमानाः विषमे पथि यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थमृच्छन्ति, तद्वत् ॥ ३४॥५ ॥

भाष्यानुवाद ।

जो संसारी मनुष्य प्रगाढ़ अन्धकारकी तरह अविद्यामें विद्यमान पुत्र-पशु-सम्बन्धीय सैकड़ों तृष्णाओंके द्वारा घिरे हुए होकरभी स्वयं अपनेको धीर, ज्ञानी और पण्डित अर्थात् शास्त्रज्ञ समझते हैं; अन्धे जिस प्रकार अन्य अन्धेके द्वारा दुर्गम पथमें चालित होकर महान् अनर्थ अर्थात् क्लेशको प्राप्त होते हैं, उसीप्रकार ऐसे विवेक-हीन मूढ़जन जरा, मरण और रोगादिजनित नाना दुःखोंमें अत्यन्त वक्र विविध कर्म-गति लाभ करतेहुए महान् अनर्थको प्राप्त होते हैं ॥३४॥५॥

टीका ।

जिसप्रकार रात्रिका अनुभव किये विना दिनका गौरव अनुभवमें नहीं आता है, जिसप्रकार अन्धकारका अनुभव

किये विना प्रकाशका महत्त्व समझमें नहीं आता, उसीप्रकार विद्याका महत्त्व तभी जिज्ञासुके अनुभवमें आ सकता है, जब जीवके अज्ञानकी दशाका स्वरूप विचारनेमें आवे। इसीकारण अविद्या-जनित, जीवको बन्धनकरानेवाली दशाको अनुभव करानेके लिये इस मन्त्रकी प्रवृत्ति है। ज्ञानके विरुद्ध विपरीत सुझानेवाली शक्तिको अविद्या कहते हैं। अनित्य वस्तुमें नित्यताका अनुभव करना, असत्य पदार्थमें सत्यका भान होना आदि विपरीत अनुभव जिस शक्तिके द्वारा होकर सृष्टि-प्रवाहकी रक्षा होती है, उसी महाशक्तिका नाम अविद्या है। इसी अविद्या-शक्तिके प्रभावसे मनुष्यशरीरादि अनित्य पदार्थोंको नित्य मानकर, ऐहलौकिक और पारलौकिक अस्थायी विषय-सुखोंको चिरस्थायी मानकर अपनी वासनाओंको बढ़ाता-हुआ आवागमन-चक्रमें सदा भ्रमण करता रहता है, और इस मृत्यु-लोकमें नाना प्रकारका परिणामदुःख आदिको भोगता हुआ मृत्यु-मुखमें पतित होता है। एवं पुनः पुनः नरक, स्वर्ग, प्रेत आदि लोकोंमें भटकता हुआ पुनः मृत्युलोकमें आता है तथा पुनः इसीप्रकारसे जन्म-मृत्युके चक्रको स्थायी रखता है। दूसरीओर अज्ञान-जननी अविद्यासे ग्रसित रहकर अपनेको ज्ञानी, पण्डित और धीर समझता है। इस प्रकारसे अज्ञानसे चालित होकर असत्पथमें चलता हुआ क्षणभङ्गुर विषयासक्तिमें रत रहकर बार-बार अधोगतिको प्राप्त होता रहता है। तात्पर्य यह है कि, विद्याकी गति जिसप्रकार निरवच्छिन्न, ज्ञानमय

स्वस्वरूपकी ओर रहती है, उसीप्रकार अविद्याकी गति निरवच्छिन्न, अज्ञानमय विषय-सुखकी ओर रहती है। अज्ञानी मनुष्यगण अविद्याके प्रभावसे अपने आपको ज्ञानी मानकर अन्धा व्यक्ति जैसा दूसरे अन्धे व्यक्तिको विपथगामी करता है, वे स्वयं विपथगामी होकर गुरुतर क्लेश पाते रहते हैं ॥३४॥५॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं,
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी,
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥३५॥६॥

साम्परायः (परलोकः) बालम् (बालक सदृशं अविवेकिनमिति यावत्) वित्तमोहेन मूढ़म् (अज्ञान-तमसाच्छन्नम् अतएव) प्रमाद्यन्तं (प्रमादोपेतं जनं) प्रति न भाति (प्रतीति-विषयो न भवति)। अयं (दृश्यमानएव) लोकः (मृत्युलोकः) अस्ति, परः (आमुष्मिकः स्वर्गादिः) न अस्ति इति मानी (इत्येवं मननशीलः) पुनःपुनः मे (मम यमस्य) वशम् (अधीनतां) आपद्यते ॥३५॥६॥

मन्त्रार्थ ।

जो प्रमादग्रस्त, धन-मोहमें विमूढ़ और अविवेकी है, उसके निकट साम्पराय अर्थात् परलोक-साधन प्रतिभात नहीं होता है। यह लोक ही है, परलोक नहीं है, ऐसा समझनेवाला व्यक्ति पुनः पुनः मेरी अधीनताको प्राप्त करता है ॥३५॥६॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

अतएव मूढ़त्वात्, न साम्परायः प्रतिभाति । सम्परेयत इति

सम्परायः परलोकः, तत्प्राप्ति-प्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः साम्परायः, स च बालम् अविवेकिनं प्रति न भाति न प्रकाशते नोपतिष्ठत इत्येतत् । प्रमाद्यन्तं प्रमादं कुर्वन्तं पुत्र-पश्वादिप्रयोजनेषु आसक्तमनसं, तथा वित्त-मोहेन वित्तनिमित्तेन अविवेकेन मूढं तमसाच्छन्नम् सन्तं, अयमेव लोकः—योऽयं दृश्यमानः स्त्र्यन्नपानादि-विशिष्टः, नास्ति परः अदृष्टो लोकः इत्येवं मननशीलो मानी पुनः पुनः जनित्वा वशं अधीनतां आपद्यते मे मृत्योर्मम । जनन-मरणादि-लक्षणदुःख-प्रबन्धारूढ एव भवतीत्यर्थः । प्रायेण ह्येवंविध एव लोकः ॥ २५॥६ ॥

भाष्यानुवाद ।

अतः मूढ़ होनेसे साम्पराय प्रतिभात नहीं होता है । शरीरान्तके बाद जो सम्यक्‌रूपसे प्राप्त किया जाय, उसको सम्पराय कहते हैं । ऐसा सम्पराय-प्राप्ति ही जिसका प्रयोजन है, शास्त्रोक्त ऐसे साधन-विशेषको "साम्पराय" कहते हैं । वह साम्पराय बालक अर्थात् अविवेकी प्रमादी—जिसका मन पुत्र-पशुआदिमें आसक्त है, और जो वित्त-जनित मोहसे विमूढ़ तमसाच्छन्न है, ऐसे व्यक्तिके निकट प्रतिभात नहीं होता अर्थात् प्रकाश नहीं पाता है । स्त्री-अन्नपानादिविशिष्ट दृश्यमान यह लोक ही है, इसके अतिरिक्त परलोक कोई वस्तु नहीं है, ऐसा समझनेवाला अभिमानी व्यक्ति बारम्बार जन्म ग्रहण करके मृत्युरूपी मेरी अधीनताको प्राप्त करता रहता है, अर्थात् जन्म-मरणादिरूप दुःख-प्रवाहको प्राप्त करता है । मनुष्य प्रायः इसी अधिकारके होते हैं ॥ ३५॥६ ॥

टीका ।

यह पहले ही कहा गया है कि, चतुर्दशभुवनोंमेंसे भूलोकके चार खण्ड हैं, यथा—पितृलोक, नरकलोक, प्रेतलोक और मृत्युलोक । इन्हीं चारों खण्ड-विशिष्ट भूलोकके अधिपति और शासक भगवान् यम धर्मराज हैं, जिनकी सत्ता साधारणतः ईश्वरसत्तारूपसे प्राकृत जनोंको अनुभूत होती है । यह भूलोक चतुर्दश भुवनोंका केन्द्र है । यह पहले ही कह चुके हैं कि, ऐशकर्म-गतिको प्राप्त करके अथवा प्रवल पुण्यके प्रभावसे कोई जीव किसी उच्चतर देवलोक अथवा असुरलोकमें चला भी जाय, तो पुण्य-क्षयके अनन्तर पुनः उसको भगवान् यम धर्मराजके अधिकारमें आना पड़ता है । क्योंकि उनके अधिकारके अन्तर्गत ही यह कर्मभूमि मृत्युलोक है । तात्पर्य्य यह है कि, चाहे साधारण जीव आवागमन-चक्रके द्वारा पितृलोक तक पहुँचे, अथवा असाधारण पुण्यके द्वारा अन्य उच्च भोगलोकोंमें पहुँचे, जबतक उसका अन्तःकरण अविद्याग्रसित रहता है, तबतक उसको अवश्य ही लौट-लौट कर भगवान् यम धर्मराजके अधिकारमें आना पड़ता है । सदसद् विवेकहीन, ज्ञानराज्यके बालक, अविद्या-ग्रसित अविवेकीजन, विद्याशक्तिसे एकबार ही वञ्चित रहकर पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदिके अधीन हो शरीरको और दृश्यमान लोकको ही सब कुछ मानते हैं तथा शरीरसे परे एवं दृश्य-प्रपंचसे परे कुछ है, अथवा हो सकता है, इसको अनुभव करनेमें असमर्थ रहते

हैं । देहात्मवादी अज्ञानी स्थूलदेहके अवसानमें और कुछ नहीं रहता है, ऐसा मानते हैं। देहातिरिक्त आत्मवादी सूक्ष्म लोकोंका कुछ-कुछ अनुभव करते हैं। आत्मातिरिक्त शक्तिवादी अज्ञानी पण्डितम्मन्य जन सूक्ष्म दैवराज्यका अल्पमात्र अनुभव करतेहुए एक जड़शक्तिका अनुमानमात्र करते हैं। दूसरी ओर दैवराज्यमें पहुँचेहुए जीवोंको जब पुण्य-भोगके अनन्तर पुनः मृत्युलोकमें आना पड़ता है, तो आवागमन-चक्रकी सन्धिरूपी उच्च अधोलोकोंमें जाने-आनेको ही परलोक समझते हैं। अतः शरीरोंसे परे, स्थूल प्रपंचसे परे, सृष्टिसे परे अथवा सृष्टिके आधारभूत नित्य, निर्विकार अद्वैत आत्मपदका अनुमान करना तो दूर रहा, उसके अस्तित्वतकको अविवेकी जन अविद्या-प्रभावसे अनुभव नहीं कर सकते हैं। अविद्याके दुर्दमनीय महान् प्रभावका ही यह कारण है। इसी कारणसे जीवोंको वार-बार भगवान् जगत्-शास्ता यम धर्मराजके शासनके अधीन आना पड़ता है। यही भगवान् यमराजके पदगौरवकी महिमा है और दूसरीओर अविद्या-शक्तिका अतुलनीय एवं महान् प्रभाव है ॥ ३५॥६ ॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः,
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्योऽस्य वक्ता, कुशलोऽस्य लब्धा,
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥३६॥७॥

यः (आत्मा) बहुभिः (जनैः) श्रवणाय अपि (श्रोतुम् अपि) न

लभ्यः, शृण्वन्तोऽपि बहवः (अनेके , और वक्ता दोनोंका यथा अस्य (आत्मनः) वक्ता (यथावत् तत्त्वरूनोंमेंसे एककोभी श्रयो- अस्य लब्धा (प्राप्ता) कुशलः (निपुण एव) इ विषयकी धारणा आत्मदर्शिभि यथावदनुशिक्षितः) ज्ञाता (बोद्धा) प्रदेष्टा सद्गुरु इत्यर्थः) ॥ ३६॥७ ॥ पा यथार्थ यदि

मन्त्रार्थ ।

बहुत जिसको सुनभी नहीं पाते और सुनकरभी बहुतें लोग जिसको जान नहीं सकते हैं, क्योकि, इसके वक्ता विरल होते हैं। कुशल व्यक्ति ही इसका लब्धा होता है एवं निपुण आचार्य्यके द्वारा शिक्षाप्राप्त इसका ज्ञाताभी विरल होता है ॥ ३६॥७ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यस्तु श्रेयोऽर्थी, सहस्रेषु कश्चिदेव आत्मविद् भवति, त्वद्विधः; यस्मात् श्रवणायापि श्रवणार्थं श्रोतुमपि यो न लभ्य आत्मा बहुभिः अनेकैः, शृण्वन्तोऽपि बहवः अनेके अन्ये यम् आत्मानं न विद्युः न विदन्ति अभागिनः असंस्कृतात्मानो न विजानियुः। किञ्च, अस्य वक्तापि आश्चर्य्यः अद्भुतवदेव अनेकेषु कश्चिदेव भवति। तथा श्रुत्वापि अस्य आत्मनः कुशलो निपुणः एवानेकेषु लब्धा कश्चिदेव भवति। यस्मात् आश्चर्य्यो ज्ञाता कश्चिदेव, कुशलानुशिष्टः कुशलेन निपुणेनाचार्य्येणानुशिष्टः सन् ॥ ३६॥७ ॥

भाष्यानुवाद ।

निःश्रेयसचाहनेवाला तुम्हारे समान आत्मज्ञ सहस्रोंमें कोई होता है; क्योंकि बहुत लोग आत्माके विषयमें सुनभी

हैं। देहात्मवादी अज्ञानी स्थूल सुनकरभी जाननेमें समर्थ नहीं रहता है, ऐसा मानते हैं अपवित्र चित्त व्यक्ति उसको जान-लोकोंका कुछ-कुछ ऐसी बात इसके वक्ताभी आश्चर्यभूत अर्थात् अज्ञानी पण्डित एक होता है, उसीप्रकार आत्मतत्त्व सुनकर करतेहुए गुण व्यक्ति ही उसका लब्धा-प्राप्तकरनेवाला होता और ऐसा व्यक्तिभी अनेकोंमें कचित् होता है। क्योंकि कुशल आचार्यके द्वारा शिक्षित व्यक्ति ही इसको जाननेमें समर्थ होता है, ऐसा ज्ञाताभी कचित् होता है॥ ३६॥७॥

टीका।

शरीरकी परावस्था और सृष्टिकी परावस्थाके विषयमें जिज्ञासा करनेकी शक्ति और अनुसन्धान करनेकी इच्छा तथा उसके अधिकारकी प्राप्ति मनुष्य-लोकके उच्चाधिकारीकी तो बात ही क्या है, पितृलोकआदि देवलोंकोमेंभी कैसा दुलर्भ है, सो पहलेके मन्त्रोंसे प्रकाशित होचुका है। यह मन्त्र कहता है कि, ऐसा ही विरल भाग्यवान् अधिकारी होता है, जिसको आत्मज्ञान-विषयक-विज्ञान सुननेका अवसर मिलता हो। क्योंकि प्रायः सबही जीव अविद्याके फन्देमें पड़कर विषयमें फँसे ही रहते हैं और आत्मजिज्ञासाकी तो बात ही क्या है, तत्त्व-जिज्ञासाकाभी अवसर उनको नहीं मिलता है। जब चित्तमें ऐसी उच्च जिज्ञासाकी प्रवृति ही नहीं होती है, तो ऐसी बातोंके सुननेका अवसर मिल ही नहीं सकता है। यदि सुकृतिवश कभी जिज्ञासा-बुद्धि हुई और कहींसे कुछ सुननेका अव-

सरभी मिल गया तो श्रोता और वक्ता दोनोंका यथा योग्य मेल न मिलनेसे अथवा दोनोंमेंसे एककीभी अयोग्यता रहनेसे सुनकरभी ऐसे उच्च विषयकी धारणा नहीं होती है। एकओर तो आत्मज्ञानका उपदेष्टा सद्गुरु संसारमें अतिदुर्लभ है, और दूसरीओर आत्मज्ञानका यथार्थ जिज्ञासु और मर्म समझनेका अधिकारीभी दुर्लभ है। यदि जगद्गुरु भगवान्की कृपासे आत्मतत्त्ववेत्ता सद्गुरुका दर्शन शिष्यको मिलभी जाय तौभी शिष्यकी यदि यथेष्ठ योग्यता न हो तो फलसिद्धि नहीं होती है। प्रथम तो श्रीगुरुके दर्शन होनेपरभी उनमें श्रद्धा और अनन्यता होना दुर्लभ है। यदि शिष्य श्रद्धालु हुआ तौभी जबतक कर्म, उपासनादि की परिपक्व दशाको प्राप्त होकर शिष्य साधन-चतुष्टय-सम्पन्न नहीं होसके, और जबतक शिष्यमेंसे स्थूल शरीरका मल, सूक्ष्म शरीरका विक्षेप और कारण शरीरका आवरण दूर होकर स्थूल शरीर, मन और बुद्धि तीनो ही शुद्ध न हो तबतक श्रीगुरुदेव से आत्मज्ञान सुननेपरभी उसकी धारणा ठीक नही कर सकेगा और न आत्मज्ञानका स्वानुभव प्राप्त कर सकेगा। जगद्गुरुके प्रतिनिधिरूप श्रीगुरुदेवमें शिष्यके प्रारब्धानुसार तीन तरहके अधिकार देखनेमें आते हैं। कोई गुरु केवल शास्त्रज्ञ ही दिखाई पड़ते हैं, कोई तत्त्वज्ञ दिखाई पड़ते हैं और किसी विरलेही गुरुमें ब्रह्मज्ञत्वका अधिकार प्रकट होता है। सुतरां ब्रह्मज्ञ गुरुका दर्शन होना अत्यन्त दुर्लभ है। दूसरीओर शिष्य

का ब्रह्मतत्त्व सुननेमात्रका अधिकार कितना कठिन है सो वेदान्तशास्त्र-कथित साधन-चतुष्टयके लक्षणोंसे सुसिद्ध है। तदनन्तर ब्रह्मज्ञ गुरुका उपदेश साधन-चतुष्टय-सम्पन्न शिष्यको यदि सुननेकाभी सौभाग्य प्राप्त हुआ तोभी उसके मनन और निदिध्यासनका अधिकार औरभी कठिन है। इसी कारण मन्त्रमें ऐसा कहागया है ॥ ३६ ॥ ७ ॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष,
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति,
अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥३७॥८॥

एष (आत्मा) अवरेण (प्राकृतबुद्धिशालिना) नरेण (मनुष्येण) प्रोक्तः (उपदिष्टः) सु (सम्यक् यथावत्तथा) विज्ञेयो न (भवति)। बहुधा (अस्ति नास्ति इत्याद्यनेकप्रकारेण) चिन्त्यमानः (त्वात्)। अनन्यप्रोक्ते (अपृथक्दर्शिना आचार्य्येण उपदिष्टे) अत्र (आत्मनि) गतिः (पूर्वोक्तो विकल्पः) नास्ति (न प्रसरति)। अणुप्रमाणात् (अणुपरिमाणतोऽपि) अणीयान् (अतिसूक्ष्मः) अतर्क्यः (तर्कस्याविषयः) ॥३७॥८॥

मन्त्रार्थ।

प्राकृत मनुष्यके द्वारा उपदिष्ट होनेपर आत्मा सम्यक्-रूपसे ज्ञान-गोचर नहीं होता है; क्योंकि (अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार इसको) लोग नाना प्रकारसे समझते हैं। जिनको ब्रह्मके विषयमें अनन्य अद्वैत अनुभव प्राप्त हो चुका है,

ऐसे आचार्य्यके द्वारा इस आत्माका उपदेश प्राप्त होनें पर (वितर्ककी) गतिकी सम्भावना नहीं है। यह आत्मा अणुसेभी अणु—सूक्ष्मातिसूक्ष्म, और अतर्क्य अर्थात् तर्कसे अतीत है ॥२७॥८॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

कस्मात् ? न हि नरेण मनुष्येण अवरेण प्रोक्तोऽवरेण हीनेन प्राकृतबुद्धिना इत्येतदुक्त एष आत्मा, यं त्वं मां पृच्छसि, न हि सुष्ठु सम्यक् विज्ञेयो विज्ञातुं शक्यः, यस्मात् बहुधा—अस्ति, नास्ति, कर्त्ता, अकर्त्ता शुद्धोऽशुद्ध इत्याद्यनेकधा चिन्त्यमानो वादिभिः। कथं पुनः सुविज्ञेयः ? इत्युच्यते—अनन्यप्रोक्ते अनन्येन अपृथगदर्शिना आचार्य्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्ते उक्ते आत्मनि गतिः अनेकधा—अस्ति, नास्तीत्यादिलक्षणा चिन्ता गतिरत्रास्मिन्नात्मनि नास्ति न विद्यते, सर्वविकल्पगतिप्रत्यस्तमितरूपत्वादात्मनः। अथवा, स्वात्मभूते अनन्यस्मिन् आत्मनि प्रोक्ते—अनन्यप्रोक्ते गतिः अत्र अन्यस्यावगतिर्नास्ति ज्ञेयस्यान्यस्याभावात्। ज्ञानस्य ह्येषा परानिष्ठा, यदात्मैकत्वविज्ञानम्। अतोऽवगन्तव्याभावात् न गतिरत्रावशिष्यते। संसारगतिर्वात्र नास्ति, अनन्य आत्मनि प्रोक्ते नान्तरीयकत्वात् तद्विज्ञानफलस्य मोक्षस्य। अथवा, प्रोच्यमानब्रह्मात्मभूतेनाचार्य्येण अनन्यतया प्रोक्ते आत्मनि अगतिः अनवबोधोऽपरिज्ञानमत्र नास्ति। भवत्येवावगतिस्तद्विषया श्रोतुः "तदस्म्यऽहमिति" आचार्य्यस्येवेत्यर्थः। एवं सुविज्ञेय आत्मा आगमवता आचार्य्येण अनन्यतया प्रोक्तः इत्यर्थः। इतरथा अणीयान् अणुप्रमाणादपि सम्पद्यत आत्मा। अतर्क्य अतर्क्यः स्वबुद्ध्याभ्यूहेन, केव-

लेन तर्केण तर्क्यमाणेऽणुपरिमाणे केनचित् स्थापिते आत्मनि ततो ह्यणुतरमन्योऽभ्यूहति, ततोऽप्यन्योऽणुतममिति न हि कुतर्कस्य निष्ठा क्वचिद् विद्यते ॥३७–८॥

भाष्यानुवाद ।

ऐसा क्यों ? तुम मुझसे जिस आत्माके विषयमें पूछते हो वह आत्मा अवर-हीन, साधारण बुद्धि-सम्पन्न मनुष्यके द्वारा कथित होनेपर सम्यक्रूपसे विज्ञेय—जाननेयोग्य नहीं होता है । क्योंकि वादिगण इसके विषयमें है, नहीं है, कर्त्ता, अकर्त्ता, शुद्ध है, अशुद्ध है, इत्यादि नानाप्रकारसे समझते हैं । पुनः कैसे सम्यक्रूपसे जाना जाता है, सो कहते हैं,—जो अनन्य अर्थात् अद्वैतदर्शी हैं और प्रतिपाद्य ब्रह्म जिनका आत्मस्वरूप है अर्थात् आत्मा और ब्रह्ममें जो अभेदभाव दर्शन करते हैं, ऐसे आचार्य्यके द्वारा कथित होनेपर "है, नहीं है" इत्यादि अनेक प्रकारकी चिन्ताकी गति नहीं रहती है । क्योंकि सब प्रकारके विकल्पका नाश ही आत्माका स्वरूप है । अथवा अनन्यरूपसे आत्माका उपदेश प्राप्त होनेपर अन्य ज्ञातव्य विषयका अभाव हो जानेसे जगत्में अन्यकी अवगति—प्रतीति नहीं रह जाती है । क्योंकि आत्माका एकत्व-विज्ञान ही ज्ञानकी पराकाष्ठा है । (आत्मामें एकत्व ज्ञान उदय हो जानेपर ज्ञान की परिसमाप्ति हो जाती है ।) अतएव ज्ञातव्य विषयका ही अभाव हो जानेसे ज्ञानकाभी शेष हो जाता है । अथवा "गतिरत्र नास्ति" का अर्थ यह हो सकता है कि, संसारकी गति नहीं

रह जाती है। क्योंकि आत्मा और ब्रह्म अनन्य अर्थात् एक ही है, इस विज्ञानका अवश्यम्भावी फल मोक्षलाभ है। अथवा जिन्होने वक्ष्यमाण ब्रह्मको आत्मारूपसे अनुभव किया है, ऐसे आचार्य्यके द्वारा उस आत्मतत्त्वकी व्याख्या होनेसे, उस विषयमें पुनः अनवगति अर्थात् ज्ञानका अभाव नहीं रहता और आचार्य्यकी तरह श्रोता कोभी "मैं ब्रह्मसे अनन्य या अपृथक् हूं" ऐसा ज्ञान अवश्य उत्पन्न होता है। निष्कर्ष यह है कि, ऐसे वेदविद् आचार्य्यके द्वारा अनन्यरूपसे अभिहित होनेसे आत्माका सम्यक्ज्ञान प्राप्त होता है। अन्यथा आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थात् दुर्ज्ञेय होजाता है। केवल अपनी बुद्धि की सहायतासे तर्कद्वारा विचार करनेसेभी यथार्थ ज्ञानका उदय नहीं होता है। क्योंकि एक व्यक्ति तर्ककी सहायतासे आत्माको अणु-परिमाण सिद्ध करे तो दूसरा उससेभी सूक्ष्म अणु कहकर तर्क कर सकता है, अन्य कोई उसकी अपेक्षाभी सूक्ष्मतम अणु सिद्ध कर सकता है। क्योंकि तर्कका कहीं कभी विश्राम अथवा अन्त नहीं है ॥३७॥८॥

टीका।

ब्रह्मज्ञान-प्राप्तिके उपयोगी गुरु कैसा होना चाहिये, उसको लक्ष्य करानेके लिये कहा गया है कि, जिसको आत्मज्ञान-प्राप्ति नहीं हुई है, जिसको स्वरूपकी उपलब्धि नहीं हुई है, जिसको अद्वैत ब्रह्मसद्भाव प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे व्यक्तिद्वारा उपदेश होनेपर जिज्ञासुको कदापि आत्माकी प्राप्ति नहीं होसकती

है । आत्माका स्वरूप वाणी, मन और बुद्धिसे अतीत है; क्योंकि ये सब प्रकृतिजन्य हैं और वह प्रकृतिसे अतीत है। शास्त्रोंमें आत्माका स्वरूप जहां-जहां वर्णित है, वह शब्दद्वारा वर्णित है, और शास्त्रके अवलम्बनसे अथवा अपने विचारसे जो प्राकृत मनुष्य उसका वर्णन करते हैं वह शब्दद्वारा ही करते हैं। शब्दसे अर्थका बोध होता है, अर्थसे भाव समझमें आता है, और वह आत्मा भावातीत है। इस कारण यदि आत्मज्ञानका उपदेष्टाने स्वयं स्वस्वरूपकी उपलब्धि न की हो तो उनका वह उपदेश आत्मज्ञान-प्राप्ति नहीं करा सकता है। प्रथमतो नानाप्रकार शब्दजालमें बुद्धि फँस जाएगी, यदि कुतर्क उत्पन्न हुआ तो तर्क-जालसे बुद्धि नष्ट हो जायगी, आगे जाकर अर्थजालमेंभी फँस जासकती है। इसप्रकारसे बुद्धि बहु शाखायुक्त होजानेसे ब्रह्मभाव अनुभवमें असमर्थ रहती है। यह ऊपर कहा ही गया है कि, ऐसे प्राकृत उपदेष्टाका अवलम्बन शब्द है। इस कारण शब्दातीत पदका अनुभव करना और कराना अन्धेके द्वारा अन्धेके मार्ग-प्रदर्शनकी न्याईं हो जाता है। परन्तु गुरुदेव स्वयं आत्मज्ञानी और ब्रह्मज्ञ हों, तो वे अपने ब्रह्मसद्भावमें स्थित रहकर उसके अनुरूप अर्थ-बोधक जो शब्दका प्रयोग करेंगे, वह अवश्य ही शिष्यके आत्मज्ञान-प्राप्तिका परम सहायक होगा। इस रहस्यमय विषयको औरतरहसेभी समझ सकते हैं कि, प्राकृत जनोंके लिये लक्ष्यकी ओर जानेका अव-

लम्बन केवल शब्द होता है क्योंकि वे नीचेकी ओरसे ऊपरकी ओर जानेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु स्वानुभव-प्राप्त सिद्ध-पुरुष ब्रह्मसद्भावमें स्थित रहकर स्वानुभव-जन्य शब्दोंके प्रयोगद्वारा शिष्यको उपदेश देते हैं। सुतरां ऐसे आत्मज्ञानी गुरुके उपदेशसे न वितर्ककी सम्भावना है, न भ्रमकी सम्भावना है॥ ३७ ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया,
प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ !
यां त्वमापः, सत्यधृतिर्वतासि,
त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥३८॥९॥

हे प्रेष्ठ ! (प्रियतम !) त्वं यां (मतिं) आपः (प्राप्तवानसि) एषा मतिः तर्केण (स्वबुद्धिपरिकल्पितेन विचारेण) न आपनेया (प्राप्या भवति) अन्येन ("ब्रह्मणोऽनन्योऽहमिति" जानता) प्रोक्ता (तदुपदेश जन्या सती) सुज्ञानाय (सम्यक् ज्ञानाय) (भवति) । हे नचिकेतः ! (त्वं) सत्यधृतिः (सत्यसंकल्पः) असि (भवसि) वत (अनुकम्पायां) त्वादृक् (त्वत्तुल्यः) प्रष्टा (पृच्छकः) नो भूयात् (नःभवेत्)॥ ३८ ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ ।

हे प्रियतम ! तर्कद्वारा यह मति नहीं प्राप्त की जाती, जिसको तुमने प्राप्त की है। अनन्य अर्थात् ब्रह्मात्म-दर्शीके द्वारा उपदिष्ट होनेसे ही यह यथायथ रूपसे जानी जाती है। हे नचिकेता ! तुम सत्यधृति हो। तुम्हारे समान (मेरे और भी) जिज्ञासु हों ॥ ३८ ॥ ९ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

अतोऽनन्यप्रोक्ते आत्मनि उत्पन्ना येयमागमप्रतिपाद्या आत्ममतिः, नैषा तर्केण स्वबुद्ध्यभ्यूहमात्रेण आपनेया नापनीया न प्रापनीयेत्यर्थः। नापनेतव्या वा नोपहन्तव्या। तार्किको ह्यनागमज्ञः स्वबुद्धिपरिकल्पितं यत्किञ्चिदेव कल्पयति। अतएव च येयमागमप्रसूता मतिः अन्येनैव आगमाभिज्ञेन आचार्य्येणैव तार्किकात् प्रोक्ता सती सुज्ञानाय भवति, हे प्रेष्ठ! प्रियतम! का पुनः सा तर्कागम्या मतिरिति? उच्येत—यां त्वं मतिं मद्वर प्रदानेन आपः प्राप्तवानसि। सत्या अवितथविषया धृतिर्यस्य तव, स त्वं सत्यधृतिः, वतासीत्यनुकम्पयन्नाह मृत्युर्नचिकेतसम् वक्ष्यमाणविज्ञानस्तुतये। त्वादृक् त्वत्तुल्यो नोऽस्मभ्यं भूयात् भवतात् भवतु अन्य पुत्रः शिष्यो वा प्रष्टा। की दृक्? यादृक् त्वं हे नचिकेतः प्रष्टा ॥३८॥९॥

भाष्यानुवाद ।

इसकारण अनन्य आचार्य्यके द्वारा कथित होनेपर जो यह श्रुति-प्रतिपाद्य आत्ममति उत्पन्न होती है, वह केवल अपनी बुद्धिसे उत्पन्न तर्कद्वारा प्राप्त नहीं की जासकती है। अथवा इसको निहत नहीं करनी चाहिये। वेद्-ज्ञान-शून्य तार्किकगण अपनी बुद्धिके अनुसार जो कुछ कल्पना करते हैं। अतएव, हे प्रियतम! वेदवित् आचार्य्यके उपदेश के द्वारा ही आगम-प्रसूता (वेदसे उत्पन्न) यह मति सम्यक् रूपसे हृदयंगमयोग्य होती है। तर्कसे अगम्य वह मति क्या है, सो कहते हैं—मेरे वरदानके फलसे जिस मतिको तुमने प्राप्त की है। तुम सत्य-धृति हो अर्थात् तुम्हारी धारणाशक्ति सत्य

यथार्थ विषयमें उत्पन्न हुई है। आगे कथितहोनेवाले विज्ञान की प्रशंसाके लिये "बत" और "असि" शब्दको प्रयोग करके यम नचिकेताके प्रति कृपा दिखाते हुए कहते हैं कि, मेरे निकट मेरा अन्य पुत्र या शिष्यभी तुम्हारे समान जिज्ञासु हो। कैसा जिज्ञासु हो? कहते हैं—हे नचिकेता! तुमने मेरे निकट जैसा प्रश्न किया है ऐसे अन्यभी करें ॥ ३८ ॥ ९ ॥

टीका।

ब्रह्म-जिज्ञासाका विघ्न कहकर जिज्ञासुको निर्विघ्न करने के अभिप्रायसे इस मन्त्रमें इङ्गित किया गया है कि, तर्कके द्वारा यह मति नहीं प्राप्त होती है। आत्मज्ञानका विघ्न तर्क है। इसीकारण धीशका वाहन तर्करूपी चूहा है। धीश भगवान् गणनायक आत्मानुसन्धान-विषयिनी-बुद्धिके प्रेरक और अधिष्ठाता हैं। सुबुद्धिका नाशकारी कुतर्क-जाल है। जिसप्रकार चूहा बिना कारण सब पदार्थोंको काटकर नष्ट करता है, उसी-प्रकार कुतर्क सुबुद्धिका नाशक है। वाहनरूपसे कुतर्क अधीन होनेसे तब सुबुद्धिका विकाश बना रहता है। अतः जिज्ञासु लक्ष्य-भ्रष्ट और पथ-भ्रष्ट न हो, इसकारण इस मन्त्रमें स्पष्ट कर दिया गया है कि, आत्मजिज्ञासामें कुतर्कका लेशमात्र नहीं होना चाहिये। विघ्नका निराकरण करनेके साथ-ही-साथ कहा गया है कि, ऐसी ब्रह्मानुगामिनी मति पूर्वकथित लक्षण-युक्त ब्रह्मज्ञ सद्गुरुके उपदेशद्वारा ही केवल प्राप्त हो सकती है। अतः ब्रह्मजिज्ञासुको सर्वथा कुतर्कत्यागपूर्वक गुरु-वाक्य

का अनुसरण करना उचित है। यदि शिष्य योग्य और गुरु-भक्त हो, तो उसकी क्रमोन्नतिके लिये उत्साहित करना हितकर है, इसकारण भगवान् यम धर्मराज शिष्य नचिकेतासे कहते हैं कि, तुम योग्य शिष्य हो और गुरु-कृपाप्राप्त करके ऐसी ब्रह्मविषयिणी मति प्राप्त की है। तुममें सात्त्विक धृति प्रतिष्ठित है, तुम सत्य धृतिवान हो। धृति धर्मका प्रथम लक्षण है। धृतिवान् व्यक्ति ही धर्मात्मा हो सकता है। जिसप्रकार सर्वोत्तम धर्मका अन्तिम फल आत्मज्ञान-प्राप्ति है, उसीप्रकार सात्त्विक धृति जब साधकमें प्रतिष्ठित होजाती है, तभी वह स्वस्वरूप उपलब्धि करनेका अधिकारी बनता है। शिष्यपर पूर्ण प्रसन्नता दिखाकर गुरु कहते हैं कि, जगत्का कल्याण तभी है, जब तुम्हारे जैसे जिज्ञासु हमें औरभी हों ॥ ३८ ॥ ९ ॥

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं,
नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥३९॥१०॥

शेवधिः (निधिः कर्मफललक्षणः) अनित्यं (अनित्यः) इति अहं जानामि। हि (यस्मात्) ध्रुवं (शाश्वतं तत् ब्रह्म) अध्रुवैः (अनित्यैः) नहि प्राप्यते। ततः (तस्मात् हेतोः) मया अनित्यैर्द्रव्यै (चयन-साधनैः) नाचिकेतः अग्निः (इष्टकाचितिस्थोऽग्निः) चितः (आराधितः)। (तेनच) नित्यं (आपेक्षिकनित्यं याम्यपदं) प्राप्तवानस्मि ॥ ३९ ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ।

शेवधि अर्थात् कर्म-फल अनित्य है, यह मैं जानता हूं। अनित्य साधनद्वारा ध्रुव अर्थात् नित्य उस आत्माको प्राप्त नहीं किया जा सकता है, इसीकारण, अनित्य द्रव्यमय-साधनोंके द्वारा नाचिकेत-अग्नि चयन करके मैंने नित्य को प्राप्त किया है॥ ३९॥१०॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

पुनरपि तुष्ट आह—जानाम्यहं शेवधिः निधिः कर्म-फल-लक्षणः निधिरिव प्रार्थ्यत इति। असौ अनित्यं अनित्य इति जानामि। नहि यस्माद् अनित्यैः अध्रुवैः नित्यं ध्रुवं तत् प्राप्यते परमात्माख्यः शेवधिः। यस्तु अनित्य-सुखात्मकः शेवधिः, स एव अनित्यैः द्रव्यैः प्राप्यते हि यतः, ततः तस्मात् मया जानताऽपि नित्यम् अनित्य साधनै नं प्राप्यत-इति नाचिकेतः चितः अग्निः अनित्यैः द्रव्यैः पश्वादिभिः स्वर्गसुख-साधनभूतोऽग्निः निर्वर्त्तित इत्यर्थः। तेनाहं अधिकारापन्नो नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यं आपेक्षिकं प्राप्तवानस्मि॥ ३९॥१०॥

भाष्यानुवाद।

यम प्रसन्न होकर पुनः कहने लगे—शेवधिका अर्थ निधि है। कर्मफलभी निधिकी तरह प्रार्थित होता है, इसकारण कर्मफलकोभी "निधि" कहा जाता है। इसकी अनित्यता मैं जानता हूं। जिसकारण अध्रुव—अनित्यके द्वारा नित्य उस परमात्मानामक शेवधिको प्राप्त नहीं किया जा सकता है,

और जिसहेतु जो अनित्य-सुखात्मक शेवधि है, वही अनित्य द्रव्योंके द्वारा प्राप्त किया जाता है; इसीकारण यह जानकर भी मैंने अनित्य पशुआदि द्रव्योके द्वारा स्वर्ग-साधन-भूत नाचिकेत अग्निको चयन किया है, और उसके द्वारा अधिकार प्राप्त करके आपेक्षिक (अन्य की अपेक्षा स्थायी) नित्य स्वर्गाख्य इस यमपद को प्राप्त किया है ॥ ३६॥१० ॥

टीका ।

भगवान् यम धर्मराज जीवके कर्म-फलदाता हैं। वे ही जीव को शरीरान्त होनेपर उसके किये हुए कर्मोंका फल विधान करते हैं और शुभाशुभ लोकोमें भेजते हैं। अतः वे कर्म और कर्म-फलके ज्ञाता होंगे, इसमें सन्देह ही क्या है। इसकारण शिष्यके लक्ष्यको दृढ़ करनेके अर्थ कहते हैं कि, कर्मफल अनित्य है, यह मैं जानता हूं। और यहभी मैं जानता हूं कि, अनित्य पदार्थके द्वारा 'तत्' पदवाच्य नित्य ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। यदि ऐसी शंका हो कि, याग-यज्ञादिभी अनित्य है और याग-यज्ञादिरूपी धर्मबलसे ही चिरस्थायी यमपदरूपी ईशपदकी प्राप्ति कैसे हुई है, ऐसी शंकाओंके समाधानमें भगवान् कहते हैं कि, मैंने उग्र पुण्यरूपी नाचिकेताआदि याग साधनके बलसे चिरस्थायी यमपदरूपी ईशपदको प्राप्त किया है, परन्तु सूक्ष्म विचारद्वारा यही सिद्ध होगा, कि प्रबल शुभ कर्मसे प्राप्त यमपद आपेक्षिक नित्य होनेपरभी अनित्य ही है ॥ ३६॥१० ॥

कामस्याऽऽप्तिं जगतः प्रतिष्ठां,
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां, दृष्ट्वा
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥४०॥११॥

हे नचिकेतः ! (त्वं) धृत्या (धैर्य्येण) धीरः (धीमानसन्) कामस्य (अभिलषितार्थस्य) आप्तिं (समाप्तिं) जगतः प्रतिष्ठां (आश्रयं) क्रतोः (यज्ञस्य) अनन्त्यम् (अनन्त फलम्) अभयस्य पारं (परां निष्ठां) स्तोममहत् (स्तोमं स्तुत्यं, महत् अणिमाद्यैश्वर्यं) उरुगायं (प्रसस्तं), प्रतिष्ठां (आत्मन उत्तमां गतिं च) दृष्ट्वा (विचार्य्य) अत्यस्राक्षीः (त्यक्तवानसि) ॥ ४० ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ ।

हे नचिकेता ! तुमने अभिलषित विषयकी पराकाष्ठा, जगत्की प्रतिष्ठा, यज्ञका अनन्त फल और निर्भय, प्रशंसनीय एवं महत् अणिमादि सिद्धि तथा अपनी उत्तम गति-लाभ, ये सभी अपने धैर्य्य-गुणके द्वारा विचारकर त्याग किया है ॥ ४० ॥ ११ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

त्वं तु कामस्य आप्तिं समाप्तिं, अत्र हि सर्वे कामाः परिसमाप्ताः, जगतः साध्यात्माधिभूताधिदैवादेः, प्रतिष्ठां आश्रयं सर्वात्मकत्वात्, क्रतोः उपासनायाः फलं हैरण्यगर्भं पदं अनन्त्यम् आनन्त्यम् । अभयस्य पारं परां निष्ठाम् । स्तोमं स्तुत्यं, महत्—अणिमाद्यैश्वर्य्याद्यनेकगुणसहितम्, स्तो-

मञ्च तन्महच्च निरतिशयत्वात्—स्तोम महत् । उरुगायं विस्तीर्णां गतिम् । प्रतिष्ठां स्थितिमात्मनः अनुत्तमामपि दृष्ट्वा, धृत्या धैर्य्येण धीरो धीमान् सन् नचिकेतः! अत्यस्राक्षीः—परमेवाऽऽकाङ्क्षन् अतिसृष्टवान् असि सर्वमेतत् संसारभोगजातम् । अहो बत अनुत्तमगुणोऽसि ! ॥ ४० ॥ ११ ॥

भाष्यानुवाद ।

हे नचिकेता! तुमने अपने धैर्य्यके द्वारा धीर होकर जिसमें सब कामनाओंकी समाप्ति होती है, उस कामाप्ति, अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूप समस्त जगत्की प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय, क्योंकि यही सर्वात्मक है, सर्वभय-निवृत्तिकी पराकाष्ठा, स्तोम—प्रसंशनीय, महत्—अणिमादि अनेक ऐश्वर्य्योंसे युक्त सबसे बड़ा होनेसे स्तोम-महत् और उरूगाय—विस्तीर्ण गति, उपासनाका फल, अनन्त हिरण्यगर्भ पद और प्रतिष्ठा अर्थात् अपनी अत्युत्तम गति, ये सब तुमने विचारपूर्वक परित्याग किया है । अर्थात् परमपद लाभ करनेकी अभिलाषा से इन सब संसार भोग्य-विषयोंको तुमने त्याग किया है। बड़ा आनन्दका विषय है कि, तुम अत्युत्तम गुण सम्पन्न हुए हो ॥ ४० ॥ ११ ॥

टीका ।

शिष्यकी योग्यता प्रतिपादनार्थ, मोक्षपदके उपयोगी अधिकार निर्णयार्थ, और जिज्ञासुका लक्ष्य स्थिर करनेके अर्थ, उसका उत्साह वर्द्धनार्थ धर्म-पारदर्शी भगवान् यम धर्मराजने महात्मा नचिकेतासे कहा कि, तुमने अपने पूर्वकृत धर्मानुष्ठान

द्वारा शुद्ध मन हो यावत् वासनाओंकी सीमा देखकर उसको त्याग किया है। जगत्की प्रतिष्ठा जो उसके अध्यात्म अधिदैव और अधिभूतरूपमें है, सर्वत्र इस त्रिभावात्मक सृष्टिके रहस्य को समझकर अपने भावतत्त्वकी पराकाष्ठाको प्राप्तिद्वारा उसका त्याग कर दिया है। जितने प्रकारके यज्ञ हैं, निष्काम अन्तःकरण होनेसे उन सबका फल देखकर तुमने त्याग किया है। भय उत्पन्न होनेका कारण क्या है; आहार, निद्रा, भय, मैथुन, ज्ञान और सुखेच्छा, ये छः वृत्तियां जीवके सहजात हैं। भय स्वभावसिद्ध अज्ञानज है। ज्ञानद्वारा सर्वप्रकारका भय नष्ट होता है। वह तटस्थज्ञान है। तटस्थज्ञानसे परे आत्मपद की स्थिति है। अतः तुमने अभय-स्थानको देखकर उसकाभी त्याग किया है। अणिमा, लघिमा, महिमाआदि ये ऐशी शक्तियां जो सिद्धात्माओंमें प्रकट होती हैं, उनका पार देखकर उसकोभी त्याग किया है। अपनी उच्चसे उच्चतर और उच्चतम गतिके प्रतिष्ठा-स्थान देखकर सबका त्याग कर दिया है। हे धीर नचिकेता! धर्म-वृत्तियोमेंसे सर्वोत्तम वृत्ति धैर्य्य है। अतः सात्त्विक धृतिके द्वारा तुमने इन सबका त्याग करके अति उन्नत अधिकारको प्राप्त किया है ॥ ४० ॥ ११ ॥

तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं,
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं,
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥४१॥१२॥

दुर्दर्शं (दुःखेन द्रष्टुं शक्यं), गूढम् (अनभिव्यक्त स्वरूपम्) अनुप्रविष्टं (सर्वजगदन्तः प्रविष्टं), गुहाहितं, गह्वरेष्ठं पुराणं (सनातनं) तं देवं अध्यात्मयोगाधिगमेन मत्वा (ज्ञात्वा) धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ ४१॥१२ ॥

मन्त्रार्थ ।

दुर्दर्श—दुर्ज्ञेय, गूढ़, सर्वभूतोंके अभ्यन्तरमें प्रविष्ट केसब गुहामें अवस्थित, गह्वरमें अधिष्ठानकरनेवाला, सनातन और स्वयं प्रकाशरूप उस परमात्माको अध्यात्म-योगद्वारा जानकर धीर व्यक्ति हर्ष और शोकको त्याग करता है ॥ ४१॥१२ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यं त्वं ज्ञातुमिच्छसि आत्मानं, तं दुर्दर्शं—दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शं, अतिसूक्ष्मत्वात् । गूढं गहनम् अनुप्रविष्टं प्राकृतविषयविकार-विज्ञानैः प्रच्छन्नमित्येतत् । गुहाहितं—गुहायां बुद्धौ हितं निहितं स्थितं, तत्रोपलभ्यमानत्वात् । गह्वरेष्ठं—गह्वरे विषमे अनेकानर्थसङ्कटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम् । यत एवं गूढमनुप्रविष्टो गुहाहितश्च, अतोऽसौ गह्वरेष्ठः, अतो दुर्दर्शः । तं पुराणं पुरातनम् अध्यात्मयोगाधिगमेन—विषयेभ्यः प्रति-संहृत्य चेतस आत्मनि समाधानं अध्यात्मयोगः, तस्याधिगमः, प्राप्तिः तेन मत्वा देवं आत्मानं धीरो हर्षशोकौ आत्मन उत्कर्षापकर्षयोरभावात् जहाति ॥ ४१॥१२ ॥

भाष्यानुवाद ।

तुम जिस आत्माके विषयमें जानना चाहते हो, वह आत्मा दुर्दर्श अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण अति कष्टसे

उसका दर्शन होता है; गूढ़ और अनुप्रविष्ट है अर्थात् लौकिक विषयोंके विकारके विज्ञानसे ढका हुआ है। गुहाहित अर्थात् बुद्धिरूपी गुहामें अवस्थित है, क्योकि बुद्धिमें ही उसकी उपलब्धि होती है। अनेक प्रकारके अनर्थ-संकुलमे अवस्थान करनेसे गह्वरेष्ठ है। जिसहेतु इसप्रकार गूढ़, अनुपविष्ट, गुहाहित अर्थात् बुद्धिरूपी गुहामें निहित है, इसलिये वह गह्वरेष्ठ है और इसीकारण दुर्दर्श है। पुराण—पुरातन देव उस आत्माको अध्यात्म-योगाधिगमद्वारा—विषय समूहोंसे चित्तको हटाकर आत्मामें एकाग्र करनेका नाम अध्यात्मयोग है, उसके अधिगम अर्थात् प्राप्तिके द्वारा जानकर धीर व्यक्ति हर्ष और शोकको परित्याग करता है। क्योंकि, आत्मामें उत्कर्ष या अपकर्ष, कुछ भी नहीं है ॥४१॥१२॥

टीका।

शिष्यकी मति और धृतिको परिशुद्ध कराकर उसकी बुद्धिको युक्त करानेके लिये भगवान् कहते हैं कि, आत्मा दुर्दर्श है। जीवकी बुद्धि प्रथम साधारणतः शरीरमें फँसी रहती है। बुद्धि कुछ मार्जित होनेपर शरीरसे मन सूक्ष्म है, ऐसा अनुभव होता है। जब बुद्धि और उन्नत भूमिमें पहुंचती है, तब ही तत्त्वज्ञानी पुरुष मनसे बुद्धिकी सूक्ष्मता अनुभव करता है। परन्तु उन्नत तत्त्वज्ञानी ही अनेक परिश्रमसे स्वानुभव प्राप्त करके जान सकता है कि, आत्मा बुद्धिसे परे हैं। अतः अति कठिनतासे आत्माका स्वानुभव प्राप्त होता है, इसकारण

वह दुर्दर्श है। वह आत्मा बुद्धिसे परे हैं, इतना जानने परभी मन, वाणी और बुद्धिसे परे स्थित आत्मा कैसा है, यह अनुभव प्राप्त करना बहुत ही कठिन है, इस कारण वह गूढ़ है। वह आत्मा कारण-ब्रह्म और कार्य्य-ब्रह्मरूपसे एक ही है, वह एक अणुसे लेकर पिण्ड और ब्रह्माण्ड सबमें व्यापक है और सबसे अलग है, इस कारण वह अनुप्रविष्ट है। जैसे मोतीकी लड़ीमें सूत पिरोया रहता है, उसीप्रकार सब जीवके हृदय-गुहामें आत्माका विकाश रहकर उसका मार्ग-प्रदर्शक होता है। दूसरीओर बुद्धि स्वच्छ तत्त्व है, इसकारण शुद्ध बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति अपनी गुहामें आत्मज्योतिका दर्शन करके आत्मानुसन्धानमें सफल होते हैं। अब जिज्ञासुके हृदयमें यह शंका उठ सकती है कि, हृदय-गुहा और बुद्धि-गुहा, इन दोनोंका स्वतन्त्र-स्वतन्त्र अनुभव क्या है? इसका समाधान यह है कि, चतुर्विध भूतसङ्घसे लेकर मनुष्यादि उन्नत जीवतकमें जो निज हितचिन्तन अन्तःकरणद्वारा होता है, वही हृदय-गुहामें गुप्त आत्मशक्ति-विकाशका परिचायक है; दूसरीओर जब तत्त्वज्ञानी महापुरुष अपनी निर्मल बुद्धिमें आत्माकी चित्सत्ताका विकाश अनुभव करते हैं, वह बुद्धि-गुहाका परिचायक है। इसप्रकारसे आत्मा गुहाहित है। वह आत्मा अनुप्रविष्ट है गुहाहित है, इसकारण वह गह्वरेष्ठ है। जब गह्वरेष्ठरूपसे आत्माका अनुसन्धान गुहामें पाते हैं और अनुप्रविष्टरूपसे उसका अनुसन्धान बहिर्जगत्‌मेंभी

पाते हैं, तब कार्य्यब्रह्म और कारणब्रह्मकी एकता अनुभव किये बिना आत्माका यथार्थ स्वरूप स्वानुभवमें नहीं आ सकता है, इसकारण वह गह्वरेष्ठ है। वह आत्मा अनादि होनेसे पुराण है। सात्त्विक धृतिसम्पन्न महापुरुष जीवात्मा और परमात्मा इन दोनोंका एकीकरणरूपी अध्यात्मयोगकी सिद्धिके द्वारा अर्थात् राजयोग-सिद्धिद्वारा उस आत्माको जानकर हर्ष-शोक परित्याग करता है। अर्थात् सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित होकर स्वरूपस्थित हो जाता है॥ ४१॥१२॥

एतत् श्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः,
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेनमाप्य।
समोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा,
विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये॥ ४२॥१३॥

मर्त्यः (मनुष्यः) एतत् (ब्रह्म) श्रुत्वा, धर्म्यं अणुं (सूक्ष्मं) प्रवृह्य सम्परिगृह्य (आत्मभावेन सम्यक् उपादाय) स एनं मोदनीयं (आत्मानं) आप्य (प्राप्य) मोदते, (हि) निश्चये लब्ध्वा, नचिकेतसं, त्वां, प्रति, सद्म (ब्रह्मस्थानं) विवृतं (अपावृत द्वारं) मन्ये (जानामि)॥ ४२॥१३॥

मन्त्रार्थ।

जो मनुष्य इस ब्रह्मतत्त्वको सुनकर धर्म्य इस सूक्ष्म आत्मा को देहादिसे पृथक् करके सम्यक्रूपसे आत्मस्वरूपमें प्राप्त करता है, वह आनन्दरूप इस आत्माको लाभ करके अवश्य

ही आनन्द लाभ करता है। नचिकेताके लिये—तुम्हारे लिये ब्रह्मसदनका द्वार (मैं) खुला हुआ समझता हूं ॥ ४२॥१३ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

किञ्च, एतदात्मतत्त्वं, यदहं वक्ष्यामि, तत् श्रुत्वा आचार्य्यसकाशात् सम्यगात्मभावेन परिगृह्य उपादाय मर्त्त्यो मरणधर्मा धर्मादनपेतं धर्म्यं प्रवृह्य उद्यम्य पृथक् कृत्य शरीरादेः, अणुं सूक्ष्मं एतमात्मानमाप्य प्राप्य, स मर्त्त्यो विद्वान् मोदते मोदनीयं हर्षणीयमात्मानं लब्ध्वा। तदेतदेवंविधं ब्रह्मसद्म भवनं नचिकेतसं त्वां प्रति अपावृतद्वारं विवृतं अभिमुखीभूतं मन्ये; मोक्षार्हं त्वां मन्ये इत्यभिप्रायः ॥ ४२ ॥ १३ ॥

भाष्यानुवाद ।

यह आत्मतत्त्व जिसको मैं कहूँगा, मरणधर्मशील मनुष्य उसको गुरुके निकट सुनकर, ततपश्चात् स्वीय आत्मरुपमें उसको अनुभव करके और धर्मसम्मत, सूक्ष्म इस आत्माको शरीरादिसे पृथक् करके मोदनीय अर्थात् आनन्दका कारण-भूत उस आत्माको प्राप्त करके आनन्द लाभ करता है। ऐसे ब्रह्म-निकेतनकाद्वार नचिकेताके लिये—तुम्हारे लिये खुला है ऐसा समझता हूँ अर्थात् उस ब्रह्मसद्मको तुम्हारे अभीमुखी-भूत समझता हूं। अभिप्राय यह है कि, तुमको मोक्षका अधि-कारी समझता हूं ॥ ४२ ॥ १३ ॥

टीका ।

शिष्यका उत्साहवर्द्धन और सात्त्विक धृतिकी पूर्णताके लिये इस मन्त्रमें उपदेश दिया है। शिष्य नचिकेता धर्म-बलसे ही

धर्म-पुरीमें पहुँचा है, धर्म-बलसे ही भगवान् धर्मराजके दर्शन और उनकी कृपा प्राप्तकी है, धर्म-बलसे ही देवत्व प्राप्त किया है, धर्म-बलसे ही नाचिकेत-अग्निका अधिदैवपद प्राप्त किया है, धर्म-बलसे ही धर्मराजका शिष्यत्व प्राप्त किया है, और धर्म-बलसे ही आत्मजिज्ञासाका अधिकारी बना है। अतः पूर्व कथित आत्माका लक्षण सुनकर उसकी उपलब्धिके लिये धर्मकी आवश्यकता न समझ लेवे, इस कारण भगवान् यम धर्मराजने धर्म्य विशेषण दिया है। वह आत्मपद धर्मसे अनपेत है। जैसे विद्या ज्ञान-प्रदायिनी है, वही विद्या तुरीयदशामें स्वस्वरूप प्रकाशित करके अहंममेतिवत् लय हो जाती है, उसीप्रकार धर्म प्रथमदशामें अभ्युदय और अन्तिम दशामें निःश्रेयस प्रदान करके अनादि अनन्त ब्रह्म-शक्तिमें प्रतिष्ठित रहता है। आत्माके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावगम्य होनेसे अणुशब्दका प्रयोग हुआ है। जो भाग्यवान् जिज्ञासु गुरुकृपा प्राप्त करके उनसे ऐसे आत्मसम्बन्धीय ज्ञान प्राप्त करता हुआ आत्माको तीनों शरीर और पञ्चकोषांसे पृथक् करके सम्यक्रूपसे आत्मस्वानुभव प्राप्त करता है, वह परमानन्दमय परमात्माको लाभ करके परमानन्दमय होजाता है। हे प्रियशिष्य! तुम्हारे लिये उस ब्रह्म-निकेतनका द्वार मैं खुला समझता हूं॥ ४२॥ १३॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मा-
दन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च,
यत्तत् पश्यसि, तद्वद ॥ ४२ ॥ १४ ॥

धर्मात् अन्यत्र, अधर्मात् अन्यत्र (धर्माधर्मातीतमिति यावत्)। अस्मात् कृताकृतात् (कृतं कार्य्यं, अकृतं कारणं, तस्मात्) अन्यत्र (तदुभयविलक्षणमिति यावत्)। भूतात् (अतीतात्) च भव्यात् (आगामिनश्च) अन्यत्र (तत्त्रितयविलक्षणमिति यावत्) तत् (प्रसिद्धं) यत् (वस्तु) पश्यसि (जानासि) तद् वद (मह्यमिति शेषः) ॥४२॥ ॥१४॥

मन्त्रार्थ

(नचिकेताने कहा—) धर्म और अधर्मसे अतीत, कार्य्य और कारणसे अतीत, भूत और भविष्यसेभी पृथक् जो वस्तु आप जानते हैं सो कहिये ॥ ४२ ॥ १४ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

एतत् श्रुत्वा नचिकेताः पुनराह—यद्यहं योग्यः प्रसन्नश्चासि भगवन् मां प्रति; अन्यत्र धर्मात् शास्त्रीयात् धर्मानुष्ठानात्, तत् फलात् तत्कारकेभ्यश्च पृथग्भूतमित्यर्थः । तथा अन्यत्र अधर्मात् विहिताकरणरूपात् पापात्, तथा अन्यत्रास्मात् कृताकृतात् । कृतं कार्य्यं, अकृतं कारणम्, अस्मादन्यत्र, किञ्च, अन्यत्र भूताच्च अतिक्रान्तात् कालात्, भव्याच्च भविष्यतश्च, तथा अन्यत्र वर्तमानात् । कालत्रयेण यन्न परिच्छिद्यत इत्यर्थः । यत् ईदृशं वस्तु सर्वव्यवहारगोचरातीतं पश्यसि जानासि, तद् वद मह्यम् ॥ ४२ ॥ १४ ॥

भाष्यानुवाद ।

यह सुनकर नचिकेता पुनः बोले, भगवन्! मैं यदि योग्य हूं और आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं, तो धर्म अर्थात् शास्त्रोक्त धर्मानुष्ठान,

उसके फल और साधनसे पृथक्, अधर्मसे पृथक्, कार्य्य-कारण दोनोंसे पृथक्, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, कालत्रयसे अपरिच्छिन्न, सर्वप्रकारके लौकिकव्यवहारसे अगोचर जिस वस्तुका आप दर्शन करते हैं अर्थात् जानते हैं; उसको मुझसे कहिये॥४३॥१४॥

टीका।

यह मन्त्र शिष्यकी आत्म-जिज्ञासा-सम्बन्धीय चित्तके तीव्र संवेगका प्रकाशक है, और साथ-ही-साथ शिष्य स्थिर लक्ष्य है, यह भी प्रकाशित करता है। ब्रह्मपद एक, अद्वितीय और सृष्टि-राज्यसे परे होनेसे नचिकेताने अपने प्रश्नमें मन्त्र कथित विशेषणोंका प्रयोग किया है ॥४३॥१४॥

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति,
तपाँसि सर्वाणि च यद्द वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति,
तत्ते पद ँसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥४४॥१५॥

सर्वे वेदाः यत् पदं आमनन्ति (प्रतिपादयन्ति) सर्वाणि तपांसि च यद् वदन्ति (यत् प्राप्तये विहितानि) यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति (आचरन्ति), तत् पदं ते (तुभ्यं) संग्रहेण (सङ्क्षेपेण) ब्रवीमि— "ओम्" इति एतत्। (तत् पदं ओम् इत्युच्यत इत्यर्थः) ॥४४॥१५॥

मन्त्रार्थ।

सारे वेद जिस पदका प्रतिपादन करते हैं, सब तपस्याएं जिसकी प्राप्तिके लिये होती हैं, जिसकी प्राप्तिकी इच्छासे लोग

ब्रह्मचर्य्यका आचरण करते हैं, मैं उस पदको संक्षेपसे कहता हूं—ओम् ही वह पद है ॥ ४४ ॥ १५ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

इत्येवं पृष्टवते मृत्युरुवाच पृष्टं वस्तु विशेषणान्तरञ्च विवक्षन्—सर्वे वेदाः यत् पदं पदनीयं गमनीयं अविभागेन अविरोधेन आमनन्ति प्रतिपादयन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति यत् प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासलक्षणं अन्यद् वा ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चरन्ति, तत् ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातुमिच्छसि संग्रहेण संक्षेपतो ब्रवीमि, ओमित्येतत् । तदेतत्पदं यत्‌बुभुत्सितं त्वया, यदेतदोमिति ओम्‌शब्दवाच्यं ओम् शब्दप्रतीकञ्च ॥ ४४॥१५ ॥

भाष्यानुवाद ।

इसप्रकार प्रश्नकर्त्ताके जिज्ञासित वस्तु और उसके अन्यान्य विशेषणके उपदेशकरनेके अभिप्रायसे यम कहने लगे कि, सब वेद जिसको प्राप्तव्यरूपसे प्रतिपादन करते हैं, सब तपस्याओंका अनुष्ठान जिसकी प्राप्तिके लिये किया जाता है, और जिसकी प्राप्तिकी इच्छासे ही गुरुकुल-वासरूपी अथवा अन्य प्रकारके ब्रह्मचर्य्यका आचरण लोग करते हैं, तथा तुम जिसको जाननेकी इच्छा करते हो, उस पदको मैं संक्षेपसे तुमको कहता हूं—"ओम्" यही वह पद है । जो तुम्हारा बुभुत्सित अर्थात् जो तुम समझना चाहते हो, वह 'ओम्' शब्दवाच्य और ब्रह्मप्रतीक 'ओम्' शब्द ये दोनों ही वही पद है ऐसा समझना चाहिये ॥४४॥१५॥

टीका।

प्रत्येक कल्पमें जितना ज्ञान-पुञ्जका प्राकट्य होता है, वह श्रुतिरूपमें सृष्टिके प्रारम्भदशामें प्रकाशित होता है। वेद नित्य और ज्ञानमय हैं। सुतरां वेदकी कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, और ज्ञानकाण्ड-सम्बन्धीय यावत् प्रवृत्ति आत्मपदकी ओर ही अग्रसर होती है। शारीरिक, वाचनिक और मानसिक जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसको रोककर अपने अधीन करके लक्ष्य विशेषपर नियोजित करनेके उपयोगी बनानेको तप कहते हैं। धर्मके तीन अङ्ग हैं। यथा, यज्ञ तप और दान। तप धर्म अन्य दोनों धर्मोंका परम सहायक है। विना तपके अन्य दोनों धर्म सर्वाङ्गपूर्ण नहीं हो सकते हैं। इसकारण तपकी महिमा सर्वोपरि है। उस तपकी प्रवृत्ति आत्माके निमित्त ही है। प्रथम तो धर्मका ही अन्तिम लक्ष्य निःश्रेयस है और द्वितीयतः तपधर्म कायिक, वाचनिक और मानसिक प्रवृत्तिका नियामक होनेसे आत्मस्वरूपके स्वानुभव प्राप्त करनेमें साक्षात्‌रूपसे सहायक है। इसकारण मन्त्रमें "तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति" यह पद आया है। ब्रह्मचर्य्यव्रत वीर्य्यधारणमूलक है। मन, वायु और वीर्य्य ये तीनों अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपसे सम्बन्धयुक्त होनेके कारण वीर्य्यको अधीन कर लेनेसे ब्रह्मचर्य्यव्रतद्वारा वायु और मन स्वतः ही अधीन हो जाते हैं, तव अन्तःकरण ब्रह्मचिन्तनके उपयोगी बनता है। इसकारण मन्त्रमें ब्रह्मचर्य्यकी महिमा कही गयी है। उस ब्रह्मपदका वाचक एकमात्र ओङ्कार ही हो सकता

है। सगुण और निर्गुण ब्रह्मके जितने प्रकारके वाचक हैं और हो सकते हैं, वे सब लौकिक या अलौकिकभावमूलक अवश्य ही होंगे। परन्तु 'ओम्' ऐसा नहीं है। शब्दात्मक 'ओम्' ध्वन्यात्मक प्रणवके साथ एकत्व सम्बन्धसे युक्त है और प्रणवका लयस्थान ब्रह्मपद है। अहंममेतिवत् ब्रह्मप्रकृति जब ब्रह्मसे व्यक्त होती है, उससमय प्रथम त्रिगुण हिल्लोलकी जो ध्वनि है, वही प्रणव है। सृष्टिकी लयावस्थामें यावत् सृष्टि प्रणवमें लय होती है, प्रणव ब्रह्मप्रकृतिमें लय होता है और प्रकृति स्वस्वरूपमें लय होती है। अतः ओंकार ही वह ब्रह्मपद है। क्योंकि वाच्य-वाचकरूपसे प्रणवका अभेदत्व सिद्ध है। इसकारण गुरु सबसे प्रथम शिष्यको ब्रह्ममन्त्रका उपदेश देकर वाचकसे वाच्यका स्वरूप निर्देश कर रहे हैं ॥४४॥१५॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥४५॥१६॥

एतत् (ओंकाररूपं) अक्षरं एव हि ब्रह्म । एतदेव हि अक्षरं परम्, एतदेव हि अक्षरं ज्ञात्वा यः (अधिकारी) यत् इच्छति (कामयते) तस्य तत् (सिध्यतीति) ॥४५॥१६॥

मन्त्रार्थ ।

यह अक्षर ही ब्रह्म है। यही अक्षर ही परब्रह्मस्वरूप है। इसी अक्षरको जानकर जो जिसकी इच्छा करता है उसको वही (सिद्ध होता है) ॥४५॥१६॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

अत एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म अपरं, एतद्ध्येवाक्षरं परं च । तयोर्हि प्रतीकमेतदक्षरम् । एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा उपास्यब्रह्मेति यो यदिच्छति परमपरं वा, तस्य तद्भवति । परं चेत्–ज्ञातव्यम् अपरं चेत्–प्राप्तव्यम्॥४५॥१६॥

भाष्यानुवाद ।

अत एव यह अक्षर ही अपर ब्रह्म है, यह अक्षर ही परब्रह्म है। क्योंकि यह अक्षर ही उक्त दोनों प्रकारके ब्रह्मका प्रतीक है। इस अक्षररूपी ब्रह्मकी उपासना करके जो जिसे—पर या अपरको चाहता है, वही उसको सिद्ध होता है। अर्थात् यदि परब्रह्म ज्ञातव्य हो और यदि अपर ब्रह्म प्राप्तव्य हो तो दोनों ही सिद्ध होता है ॥ ४५ ॥ १६ ॥

टीका ।

गुरुदेव भगवान् यमधर्मराज शिष्य नचिकेताको ब्रह्ममन्त्रका उपदेश पहले श्रुतिमें देकर अब मन्त्रकी महिमा वर्णन कर रहे हैं। परमात्मा एक और अद्वितीय होनेपरभी भक्तके अधिकारके अनुसार दो भावोंके द्वारा ज्ञानी भक्तके स्वानुभव गम्य हैं। वे दोनों रूप एक सगुण ब्रह्म और एक निर्गुण ब्रह्म हैं,जो पर और अपर ब्रह्म कहाते हैं। सच्चिदानन्दमय स्वरूप जिस पदका स्वानुभव सृष्टिसे परे है, सृष्टिके एकवार ही लय हो जाने पर जो स्वानुभव प्राप्त होता है, जिस अनुभवके समय ब्रह्मप्रकृति यावत् सृष्टि-प्रपञ्च-सहित अव्यक्त होकर स्वस्वरूपमें विलीन हो जाती है, वही गुणातीत चिन्मयपद निर्गुण ब्रह्म या

परब्रह्म शब्दवाच्य है। और जब सृष्टिका अनुभव बना रहता है, अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरी जगज्जननी ब्रह्म-प्रकृति व्यक्तावस्थामें रहकर सृष्टि-स्थिति और लयकार्यमें प्रवृत्त रहती हैं, उससमय स्वप्रकृति-लीला-ईक्षण-कारी जो परमात्माका द्रष्टाभाव है, वही सगुण ब्रह्म या 'अपरब्रह्म पद वाच्य है। यही स्वप्रकृति-आलिङ्गित परमात्मा ही ईश्वर कहाते हैं। ब्रह्म-वाचक प्रणव स्वयं ब्रह्मरूप है। जैसा कि, पहले श्रुतिमें कहा गया है। वही सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म भी है। ऐसे प्रणवको जानकर जो जैसी इच्छा करता है, उसको वही प्राप्त होता है, ऐसा जो इस श्रुतिमें कहा गया है, सो अतिरहस्य पूर्ण है। वाच्यवाचकमें अभेदत्व होनेसे प्रणवतत्त्ववेत्ता महापुरुष जैसी इच्छा करें, वैसे ही लोकातीत गतिको प्राप्त करते हैं। प्रणवका उपासक यदि सगुण ब्रह्मकी इच्छा करे तो सगुणगति-को प्राप्त करता है, और यदि निर्गुण ब्रह्मकी इच्छा करे तो निर्गुण गतिको प्राप्त करता है। सगुणपञ्चोपासनाके सालोक्य, सारूप्य आदि गति सगुण उपासनाकी मानी गई हैं। और जीवन्मुक्तकी सहज गति आदि निर्गुण उपासनाकी गति मानी गई है। प्रण-वका उपासक जैसी इच्छा रक्खे, वैसी ही ऊर्द्ध्वगति अवश्य ही प्राप्त कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं। जब प्रसङ्ग निःश्रे-यसका है, जब प्रसङ्ग आत्मज्ञानका है, और प्रसङ्ग अद्वैत स्वस्व-रूपका है, तो पर और अपरब्रह्मका वर्णन क्यों किया गया? इस श्रेणीकी शंकाका समाधान यह है कि, प्रथम तो ब्रह्मवाचक

प्रणवकी महिमाका यह मन्त्र है । वह प्रणव सगुण और निर्गुण दोनों भावोंका वाचक है; दूसरी बात यह है कि, पर और अपर ब्रह्मका भाव, ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिका भाव तथा कार्य्य एवं कारण ब्रह्मका भाव जीवन्मुक्तके अन्तः-करणमेंभी रहना स्वतःसिद्ध है । तीसरी बात यह है कि, चाहे मुक्तात्मा सहजगतिको प्राप्त करके इस मृत्युलोकमें इसी शरीरमें ही जीवन्मुक्ति-पदको प्राप्त करले, चाहे ऐशगतिको प्राप्त करके देवकोटिमें पहुंच कर आत्मज्ञान प्राप्त करता हुआ अग्रसर हो ब्रह्मीभूत होजाय अथवा शुक्लगति-को प्राप्त करके क्रमशः सूर्य्यमण्डल-भेदनद्वारा स्वस्वरूपमें लय होजाय, जबतक वह विदेह अद्वैतपदको प्राप्त न करे, तबतक उसको स्वरूप और तटस्थज्ञानकी दशामें यथाक्रम परब्रह्म और अपर ब्रह्मका अनुभव बना ही रहेगा । अतः इसप्रकारकी शंकाका अवसर नहीं है ॥४५॥१६॥

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥४६॥१७॥

एतत् (ओंकाररूपं) आलम्बनं श्रेष्ठं (परब्रह्मप्राप्तिसाधनानां मध्ये प्रशस्यतमम्) । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥४६॥१७॥

मन्त्रार्थ ।

यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही परम आलम्बन है । इस आल-म्बनको जानकर ब्रह्मलोकमें पूज्य होता है ॥४६॥१७॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यत एवमत एतद् आलम्बनं एतद् ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानां श्रेष्ठं प्रशस्य-

तमम्। एतदालम्बनं परं अपरञ्च, परापरब्रह्मविषयत्वात्। अतः एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते। परस्मिन् ब्रह्मणि अपरस्मिंश्च ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदु-पास्यो भवतीत्यर्थः ॥४६॥१७॥

भाष्यानुवाद।

जिसहेतु ऐसा है अर्थात् यही अक्षर पर और अपर ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन है, इसकारण ब्रह्मप्राप्तिके सब आलम्बनोंमें यही श्रेष्ठ अर्थात् प्रशंसनीय आलम्बन है। और यही आलम्बन पर एवं अपर ब्रह्म-विषयक होनेसे पर तथा अपर है। अतः इस आलम्बनको जानकर (साधक) ब्रह्मलोकमें पूजित होता है। परब्रह्ममें या अपर ब्रह्ममें स्वयं ब्रह्मरूप होकर ब्रह्मवत् उपास्य होता है॥४६॥१७॥

टीका।

ब्रह्मप्रकृतिकी 'अहं ममेतिवत्' दो अवस्थाएं होती हैं। एक व्यक्तावस्था और दूसरा अव्यक्तावस्था। जैसे एक गायक जब गाता है, तब उसकी गानशक्ति उसमें व्यक्त होती है और जब वह गायक गान नहीं करता है, तब उसकी गानशक्ति उसमें अव्यक्त रहती है। ठीक उसीप्रकार सृष्टिप्रपञ्च जब नहीं रहता है तब ब्रह्मप्रकृति ब्रह्ममें लय हो कर अव्यक्त हो जाती है। और जब सृष्टिका त्रिगुणप्रवाह चलता रहता है, तब ब्रह्मप्रकृति ब्रह्ममें व्यक्ता दिखाई पड़ती है। अतः ब्रह्मप्रकृतिके व्यक्त होतेही उसी आदि अवस्थाके साथ प्रणवका साक्षात् सम्बन्ध है। जहां कुछ कार्य्य है, वहां अवश्य कम्पन होगा, और जहां कम्पन है वहां

अवश्य ही शब्द होगा; अतः ब्रह्मप्रकृतिके प्रथमहिल्लोलसे जो शब्द हुआ वही प्रणवरूप ओङ्कार है। योगी जब प्रकृतिको सूक्ष्मातिसूक्ष्म दशामें अन्तःकरणको पहुंचाता है तब ध्वन्यात्मक प्रणव उसको स्वतः सुनाई देता है, उसका मुहँसे उच्चारण नहीं हो सकता है। वह अध्यात्मप्रणव है। उस ध्वनिका प्रतिशब्द जो मुहँसे उच्चारित होता है और जो अ, उ, म, के संयोगसे वर्णात्मक हो जाता है, वह अधिभूत प्रणव है। वह प्रणव सगुण और निर्गुण ब्रह्मका स्वाभाविक वाचक होनेसे सब भगवन्नामोंमें श्रेष्ठ, सब मन्त्रोंमें श्रेष्ठ और सर्वव्यापक सत्ताविशिष्ट है। इसकारण उसकी गति और शक्ति अव्याहतहै। अतः उसका आलम्बन सबसे श्रेष्ठ है और साधकके अन्तःकरणको सर्वत्र पहुंचा सकता है। प्रणवके आलम्बनसे योगी ब्रह्मप्रकृतिकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म दशामें अन्तःकरणको पहुंचाकर अहंतत्त्व और महत्तत्त्वसे परे अस्मिता और अविद्यासे परे, द्वैतसृष्टि-प्रपञ्चसे परे जाकर प्रथम अवस्थामें ब्रह्मप्रकृतिमें और तत्पश्चात् ब्रह्मप्रकृति महामायाकी कृपासे ब्रह्मीभूत हो सकता है। इसकारण प्रणवके परे कोई आलम्बन नहीं है और वही परमपद-प्राप्तिका कारण है। इसप्रकारसे योगिराज प्रणवके आलम्बनके रहस्यको जानकर ब्रह्मपदको प्राप्त कर सकता है ॥४६॥१७॥

न जायते म्रियते वा विपश्चित्,

नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥४७॥१८॥

न जायते (न उत्पद्यते) म्रियते वा (न च नश्यति) अयं (आत्मा) कुतश्चित् (कारणात्) न बभूव, कश्चित् (अन्यः) न बभूव। पुराणः (सनातनः)। अजो नित्यः (जन्म-मरणरहितः) शाश्वतः (अविकारश्च) अयं (आत्मा) शरीरे (आत्मन उपाधिभूते देहे) हन्यमाने (सति,स्वयं) न हन्यते (न हिंस्यते इति) विपश्चित् (आत्मज्ञः) (निश्चिनोति) ॥४७॥१८॥

मन्त्रार्थ ।

आत्मतत्त्वज्ञ व्यक्ति (समझते हैं कि) यह आत्मा न जन्म लेता है, न मरता है, न यह किसीसे होता है और न इससे कोई होता है। इसलिये यह आत्मा अज—जन्मरहित, नित्य, शाश्वत—निर्विकार और पुराण अर्थात् सनातन है। देहके निहत होनेपर यह निहत नहीं होता है ॥४७॥१८॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

अन्यत्र धर्मादित्यादिना पृष्टस्य आत्मनोऽशेषविशेषरहितस्य आलम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन चोङ्कारो निर्दिष्टः। अपरस्य च ब्रह्मणो मन्द-मध्यमप्रतिपत्तॄन् प्रति । अथेदानीं तस्योङ्कारालम्बनस्याऽऽत्मनः साक्षात्स्वरूपनिर्दिधारयिषया इदमुच्यते—न जायते नोत्पद्यते, म्रियते वा न म्रियते च, उत्पत्तिमतो वस्तुनोऽनित्यस्यानेको विक्रियाः, तासामाद्यन्ते जन्म-विनाशलक्षणे विक्रिये इहाऽऽत्मनि प्रतिषिध्येते प्रथमं सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थं "न जायते म्रियते वा" इति। विपश्चित् मेधावी सर्वज्ञः, अपरिलुप्तचैतन्यस्वभावात्। किञ्च,

नायमात्मा कुतश्चित् कारणान्तरात् बभूव । स्वस्माच्च आत्मनो न बभूव कश्चिदर्थान्तरभूतः । अतोऽयमात्मा अजो नित्यः, शाश्वतोऽपक्षयविवर्जितः । यो ह्यशाश्वतः, सोऽपक्षीयते । अयन्तु शाश्वतः अत एव पुराणः पुराऽपि नव एवेति । यो ह्यवयवोपचयद्वारेण अभिनिर्वर्त्यते, स इदानीं नवो यथा—कुम्भादिः, तद्विपरीतस्तु आत्मा पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः । यत एवम्, अतो न हन्यते न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे, तत्स्थोऽप्याकाशवदेव ॥४७॥१८॥

भाष्यानुवाद ।

"अन्यत्र धर्मात्" इत्यादिके द्वारा जिस निर्विशेष आत्माके विषयमें जिज्ञासा हुई थी, उसके आलम्बन और प्रतीकत्वरूपसे ओंकारका निर्देश हुआ है । तथा मध्यम एवं अधम अधिकारीके लियेभी अपरब्रह्मके आलम्बन और प्रतीकत्वरूपसे ओंकार निर्दिष्ट हुआ है । अनन्तर अब उस ओंकारका आलम्बनभूत आत्माका साक्षात् स्वरूप निर्धारण करनेकी इच्छासे यह कहते हैं—विपश्चित् सर्वज्ञ ज्ञानी, स्थिर चैतन्य स्वभाव होनेसे ऐसा समझते हैं कि,—यह आत्मा न जन्म लेता न मरता है । उत्पत्तिशील वस्तुमात्रको ही अनेक प्रकारके विकार होते हैं, उनमेंसे जन्म और मरण दो विकारोके प्रतिषेधसे ही अन्य सब विकारोंका प्रतिषेध हो जाता है । इसीकारण यहां "न जायते म्रियते वा" कहनेसे प्रथम जन्म एवं मरणरूप आदि और अन्तके दो विकारोका प्रतिषेध किया गया है । यह आत्मा अन्य किसी कारणसे उत्पन्न नहीं हुआ है, इस आत्मासे भी

दूसरा कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ है। अत एव यह आत्मा अज—जन्मरहित, नित्य और शाश्वत—क्षयरहित है। क्योंकि जो शाश्वत नहीं है, वह क्षयको प्राप्त होता है। यह आत्मा शाश्वत है, अत एव पुराण है अर्थात् पहलेभी नूतन ही था; क्योंकि अवयवकी वृद्धिके द्वारा जो वस्तु निष्पन्न होती है वही "इस समय नूतन" कही जाती है—जैसे घट इत्यादि। आत्मा ठीक उसके विपरीत है। आत्मा ऐसा है, इसकारण शस्त्रादि-द्वारा शरीरके निहत होनेपरभी शरीरगत आकाशकी तरहआत्मा निहत नहीं होता है ॥४७॥१८॥

टीका।

पहले मन्त्रोंमें वाचकका स्वरूप निर्णय करके अब वाच्यका स्वरूप निर्णय किया जाता है। पहली श्रुतिमें मन्त्रका स्वरूप निर्णय करके अब मन्त्र-प्रतिपाद्य स्वस्वरूपका निर्णय किया जाता है। शिष्यकी बुद्धि अविचलितरूपसे अद्वैतभावापन्न परब्रह्मके स्वानुभवमें पहुँचे, इसकारण कहा गया है कि, वह आत्मा जन्म-मरणरूप प्राकृतिक प्रपञ्चसे परे हैं। किसीसे उत्पन्न होना और किसीको उत्पन्न करनारूपी जो द्वैत सगुण क्रिया है, उससेभी वह परे है। इस कारण वह अज अर्थात् अनादि और अनन्त है। वह एक और अद्वितीयरूपसे नित्यस्थित है। आत्माका अनुभव प्रकृतिराज्यसे परे है। अतः प्रकृतिमें जो अशाश्वतका लक्षण है, सो उसमें नहीं है और प्रकृतिमें जो नव-नव विकार-लक्षण है, सो उसमें नहीं है। क्योंकि वह शाश्वत और पुराण

है । संसारमें जीवन-मरणका प्रश्न सबसे बड़ा है । उस जीवन-मरणका सम्बन्ध केवल शरीरके साथ है, शरीर प्राकृतिक है, उसमें अवस्थान्तर होनेसे यौवन-जरा आदिका विकार दिखाई देता है और एक भोग-पुञ्जकी परिसमाप्ति तथा दूसरे भोग-पुञ्जके प्रारम्भमें जो एक शरीरका नाश और दूसरे शरीरका ग्रहण होता है, इससेभी वह परे है । जिस प्रकार घर अथवा मठ नष्ट हो-जानेपर सर्वव्यापक आकाश जो घरमें और मठमेंभी स्थित था, वह जैसा था, वैसा ही रहता है, उसी प्रकार आत्मा नित्य स्थित है ॥४७॥१८॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुँ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥४८॥१९॥

हन्ता (हननकारी जनः) चेत् (यदि) हन्तुं (हनिष्यामि एनम् इति) मन्यते (चिन्तयति), हतः (तथा) चेत् (यदि) हतं (आत्मानं अन्येन विनाशितं) मन्यते, (तर्हि) तौ उभौ न विजानीतः । अयं (आत्मा) न हन्ति, न हन्यते ॥४८॥१९॥

मन्त्रार्थ ।

हननकर्त्ता यदि समझे कि, मैं हनन करूँगा और हत व्यक्ति यदि समझे कि, मैं हत हुआ हूँ, तो वे दोनों ही आत्माको, नहीं जानते हैं । क्योंकि यह आत्मा न तो हनन करता है, न दूसरे-के द्वारा हत होता है ॥४८॥१९॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

एवम्भूतमप्यात्मानं शरीरमात्रात्मदृष्टि र्हन्ता चेद् यदि मन्यते चिन्तयति इच्छति हन्तुं—हनिष्याम्येनमिति, योऽप्यन्यो हतः,सोऽपि चेत् मन्यते हतमात्मानं—हतोऽहमिति, उभावपि तौ न विजानीतः स्वात्मानम् । यतो नायं हन्ति अविक्रियत्वादात्मनः, तथा न हन्यत आकाशवदविक्रियत्वादेव । अतोऽनात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारो न ब्रह्मज्ञस्य श्रुतिप्रामाण्यात् न्यायाच्च धर्माऽधर्माद्यनुपपत्तेः ॥४८॥१९॥

भाष्यानुवाद ।

ऐसे आत्माकोभी केवल शरीरको ही आत्मारूपसे जाननेवाला हननकारी व्यक्ति यदि ऐसा समझे कि "मैं इसका वध करूंगा" पुनः जो हत हुआ है, यदि वहभी "मैं हत हुआ हूं" ऐसा समझे, तो वे दोनों ही अपने आत्माको नहीं जानते हैं। क्योंकि आत्मा अविक्रिय होनेसे किसीका वध नहीं करता है और उसी प्रकार आकाशकी तरह निर्लिप्त होनेसे किसीका वध्यभी नहीं होता है। अत एव आत्मज्ञानविहीन व्यक्तिके लिये ही धर्माधर्मादिमय संसारका अस्तित्व है। जो आत्मज्ञ हैं, उनके लिये नहीं हैं। क्योंकि श्रुति-प्रमाण और न्यायसे जाना जाता है कि आत्मामें धर्माधर्मादि सम्भव नहीं है ॥४८॥१९॥

टीका ।

पूर्व श्रुतिने जब स्पष्ट कर दिया कि आत्मा न जन्मता है न मरता है। क्योंकि वह शाश्वत है तो पुनः इस मन्त्रके आविर्भावकी आवश्यकता क्या थी? क्योंकि वेदमें अनावश्यक शब्दों-

की सम्भावना नही है । इसप्रकारकी शंकाके समाधानके साथ-साथ मन्त्रार्थभी सरल हो जायगा । अभ्युदय और निःश्रेयस-साधक धर्मकी प्रवृत्ति दो श्रेणीके प्रवाहमें प्रवाहित होती है । उन्हीं दोनों प्रवाहोके अनुसार स्वस्वरूप-प्राप्तिके कारणभूत दो तरहके तेज जगत्में प्रसिद्ध हैं, यथा एक ब्रह्मतेज दूसरा क्षात्र-तेज । दोनोंकी अन्तिम क्रियाभी योग और युद्धरूपसे प्रसिद्ध है । अतः ब्रह्मतेज-विशिष्ट अधिकारीकेलिये पूर्वमन्त्र और क्षात्र-तेज-विशिष्ट अधिकारीकेलिये यह मन्त्र प्रयुक्त हुआ है । जब आत्मा शाश्वत, अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक और अविकृत-भावसे नित्यस्थित है, तो धर्माधर्मकी सब क्रियाओ और उनके फलसे आत्मा अलग है । अतः यदि कोई समझे कि, मैं अमुकको मारूंगा अथवा यदि कोई समझे कि; मैं अमुकसे आहत हुआ तो दोनो ही आत्माको नहीं जानते हैं यह निश्चय है ॥४८॥१९॥

अणोरणीयान् महतो महीयान्,
आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको,
धातु-प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥४९॥२०॥

अणोः (सूक्ष्मात् परमाणुप्रभृतेः) अणीयान्, महतः महीयान् (अति-महान्) आत्मा (पूर्वोक्तलक्षणः), अस्य जन्तोः (प्राणिनः) गुहायां (हृदये) निहितः (नियतं स्थितः) । अक्रतुः (वीतरागः) वीतशोकः (विगत-दुःखः सन्) धातुः प्रसादात् आत्मनः तं (पूर्वोक्तं) महिमानं पश्यति (साक्षात् करोति) ॥४९॥२०॥

मन्त्रार्थ ।

अणुसेभी अतिसूक्ष्म, महत्‌सेभी अतिमहत् आत्मा प्राणियोंके हृदयरूपी गुहामें निहित है। निष्काम और शोकरहित व्यक्ति धातुकी प्रसन्नतासे उस आत्माकी महिमाको देखता है। ॥४६॥२०॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

कथं पुनरात्मानं जानातीत्युच्यते—अणोः सूक्ष्माद् अणीयान् श्यामाकादेरणुतरः। महतो महत्परिमाणान् महीयान् महत्तरः पृथिव्यादेः। अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु, तत् तेनैवात्मना नित्येनात्मवत् सम्भवति। तदात्मना विनिर्मुक्तमसत् सम्पद्यते। तस्मादसावेवात्मा अणोरणीयान् महतो महीयान् सर्वनामरूपवस्तूपाधिकत्वात्। स चात्मा अस्य जन्तोः ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहित आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः। तम् आत्मानं दर्शन-श्रवण-मननविज्ञानलिङ्गं अक्रतुरकामो दृष्टादृष्टबाह्यविषयोपरतबुद्धिरित्यर्थः। यदा चैवं तदा मन आदीनि करणानि धातवः शरीरस्य धारणात् प्रसीदन्तीति, एषां धातूनां प्रसादात् आत्मनो महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितं पश्यति "अयमहमस्मि" इति साक्षात् विजानाति; ततो वीतशोको भवति ॥४९॥२०॥

भाष्यानुवाद ।

पुनः आत्मज्ञगण आत्माको कैसे जानते हैं सो कहा जाता है,—श्यामाका शस्यविशेष आदि अणु या सूक्ष्म पदार्थसेभी अणियान् अर्थात् सूक्ष्म और पृथिव्यादि महत् पदार्थसेभी आत्मा महत्तर है, अर्थात् अणु या महत् जो कोई पदार्थ है, वह सभी

उस नित्य आत्माद्वारा सत्तावान् है और उसके न होनेसे असत् हो जाता है। अत एव यही आत्मा समस्त नाम और रूपात्मक उपाधियुक्त होनेसे अणुसेभी अणु और महत्सेभी महत् है। वही आत्मा ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्त समस्त प्राणियोंके हृदयरूपी गुहामें निहित है, अर्थात् आत्मरूपसे अवस्थित है। जब मनुष्य अक्रतु—अकाम अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक विषयोंसे वासनारहित होता है, तब उसके धातु अर्थात् शरीर-धारक मन आदि इन्द्रियां प्रसन्न होती हैं। इन्हीं धातुओंकी प्रसन्नतासे "यह मैं हूं" इसप्रकारसे आत्माका साक्षात्कार करता है, अर्थात् कर्म-जनित वृद्धिक्षयरहित आत्माकी महिमाका दर्शन करता है अनन्तर वीतशोक अर्थात् शोक-दुःखरहित हो जाता है। ॥ ४६ ॥ २० ॥

टीका।

आत्मज्ञानी महापुरुष आत्माका स्वानुभव किस प्रकारसे प्राप्त करते हैं, सो कहा जाता है। विषय-राग-जाल-जड़ित वुद्धि विषयके अवलम्बनसे ही विचारमें प्रवृत्त हो सकती है। इसकारण जबतक ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूपी त्रिपुटि रहती है, अर्थात् जबतक तटस्थज्ञानका उदय बना रहता है, तबतक अहंतत्त्व और महत्तत्त्वकी सहायतासे ही विचार-निष्पत्ति होती है। इसकारण इस मन्त्रमें स्वरूप अनुभवकेलिये "अणोरणीयान् महतो महीयान्" पदका प्रयोग हुआ है। वुद्धि जब तटस्थज्ञानके अवलम्बनसे आत्मानुसन्धानमें प्रवृत्त होती है, तब वह

एकओर अणुसे अणुभावमें पहुंचकर थकित हो जाती है दूसरीओर महत्‌से महत्‌भावमें पहुंचकर थकित हो जाती है। इस गहनविषयको इसप्रकारसेभी समझ सकते हैं कि, जब आत्मानुसन्धानकारी तत्त्वज्ञानी सूक्ष्मसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञेयको देखता हुआ आगे बढ़ता है तो अन्तमें परमाणुमें जाकर थकित हो जाता है। इसीप्रकार जब वह बड़ेसे बड़े विषयका विचार करता हुआ एक ब्रह्माण्डसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी धारणामें पहुंचता है, तबभी उसकी बुद्धि थकित हो जाती है। तटस्थ ज्ञानके इस प्रकारसे थकित होनेपर तब स्वस्वरूपका स्वानुभव प्राप्त हो सकता है। इसकारण ऐसा कहा गया है। सृष्टि-प्रपञ्चमें जितने श्रेणीके जीव हैं, सबकी हृदयगुहा और बुद्धि-गुहामें वह आत्मा स्थित है। निम्न श्रेणीके जीव उस आत्माका अनुभव प्राप्त ही नहीं कर सकते हैं, परन्तु तौभी वह आत्मा हृदयस्थित होकर उसके इन्द्रियोंको और बुद्धिस्थित होकर उसके विचारोंको चेतनता पहुंचाता है। जब तत्त्वज्ञानी महात्माओंकी हृदयगुहामें सगुणभाव और बुद्धिगुहामें निर्गुणभाव का अनुभव होता है, तब उन्नत ज्ञानी-महात्मा ऐहलौकिक और पारलौकिक सब प्रकारके विषयसुखकी वासनासे उपराम होजाते हैं। और उनके स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरके सब धातु आत्मप्रसादको प्राप्त करते हैं। ऐसे महात्मा ही आत्माका स्वानुभव प्राप्त करके सर्वदा और सर्वथा उसकी महिमाका दर्शन करते हैं। तब वे स्वतः ही शोकादि द्वन्द्वोंसे

रहित हो जाते हैं ॥ ४९ ॥ २० ॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥५०॥२१॥

आसीनः (अचल एव सन्) दूरं व्रजति, (गच्छति) शयानः (उपरतक्रियश्च सन्) सर्वतः याति । मदामदं (मदो हर्षः, अमदः हर्षाभावः तद्विशिष्टं, एवं विरुद्धधर्मवन्तं) देवं (प्रकाशमानं) तं (आत्मानं मदन्यः (मां विना) कः ज्ञातुं (विज्ञातुं) अर्हति (शक्नोति) ॥ ५० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ ।

(जो) एक स्थानपर अवस्थित रहकरभी दूरगामी और शयान अर्थात् क्रिया-रहित होकरभी सर्वत्रगामी है, मद (आनन्द) और अमद (निरानन्द) रूप उस देवको मेरे सिवाय और कौन जान सकता है ॥ ५० ॥ २१ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः, यस्माद् आसीनः अवस्थितोऽचल एव सन् दूरं व्रजति, शयानो याति सर्वत, एवमसौ आत्मा देवो मदामदः समदोऽमदश्च सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्मवान् अतोऽशक्यत्वाज् ज्ञातुं कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति । अस्मदादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः पण्डितस्य सुविज्ञेयोऽयमात्मा स्थितिगतिनित्यानित्यादिविरुद्धानेकविधधर्मोपाधिकत्वाद् विरुद्धधर्मवत्त्वाद् विश्वरूप इव चिन्तामणिवदवभासते । अतो दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयति, कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हतीति । करणानामुपशमः शयनं,

करणजनितस्यैकदेशविज्ञानस्योपशमः शयानस्य भवति । यदा चैवं केवल-सामान्यविज्ञानत्वात् सर्वतो यातीव, यदा विशेषविज्ञानस्थः स्वेन रूपेण स्थित एव सन् मन आदिगतिषु तदुपाधिकत्वात् दूरं व्रजतीव । स चेहैव वर्त्तते ॥ ५० ॥ २१ ॥

भाष्यानुवाद ।

अन्यथा यह आत्मा कामनापरायण साधारण पुरुषोंके लिये दुर्विज्ञेय अर्थात् अत्यन्त कष्टसे जानने योग्य है । क्योंकि यह आसीन (बैठे हुए) अर्थात् निश्चल रहकरभी दूर जाता है और शयान (सोए हुए) रहकरभी सर्वत्र जाता है। स्वयं प्रकाशरूप यह आत्मा समद और अमद अर्थात् आनन्द और निरानन्दरूप विरुद्धधर्मवान् है । अतएव उस मदामद देवको मेरे सिवाय और कौन जान सकता है ? तात्पर्य्य यह है कि, स्थिति, गति, नित्यत्व और अनित्यत्व आदि बहु प्रकारके विरुद्ध धर्मोपाधिक और विरुद्धधर्मवान् होनेके कारण "चिन्तामणि" की तरह बहु रूपमें भासमान आत्मा एकमात्र हम जैसे सूक्ष्म बुद्धि-सम्पन्न पण्डितके लिये ही सम्यक् जानने योग्य है सर्वसाधारणकेलिये नहीं। इसकारण "मेरे सिवाय और कौन जान सकता है" इस वाक्यद्वारा आत्माका दुर्विज्ञेयत्व प्रदर्शन कराया गया है। शयनका अर्थ इन्द्रियोंका उपशम है। सोए हुये व्यक्तिके इन्द्रिय-जनित एकदेशीय विज्ञानका उपशम हो जाता है । आत्मा जब विशेष ज्ञानसे उपरत होता है, तो केवल साधारण ज्ञानरहने से मानो सर्वतोभावसे गमन करता है, और जब स्वरूपमें अव-

स्थित रहकर ही विशेष विज्ञानयोग्य होता है, तब मन आदि इन्द्रियोंकी गतिके साथ साथ तदुपाधिक आत्माभी मानो दूर गमन करता है। वस्तुतः आत्मा यहीं रहता है, कहींभी नहीं जाता है ॥ ५० ॥ २१ ॥

टीका।

आत्मा, जिसका स्वरूप मन और वाणीसे अतीत है, उसको नानाप्रकारसे समझानेका प्रयत्न कर रहे हैं। वह आत्मा एक देश-विशेषमें स्थित रहकरभी दूरसे दूर स्थानमें पहुंचता है। इसका तात्पर्य्य यह है कि, सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् परमात्माका स्वानुभव पहले अपने शरीरके आज्ञाचक्ररूपी देशमें होता है, वे ही गीता आदि शास्त्रोंमें कूटस्थ कहेगये हैं और सांख्य-आदि शास्त्रोंमें पुरुष कहे गये हैं। अतः कूटस्थित आत्मा जब मन-को चेतनयुक्त करके कार्य्यकारी बनाता है तो दूरसे दूर स्थानपर पहुँचता है और जब योगके अनुसार संयम-क्रियाका सहायक होता है, तो दूर-दर्शन, दूर-श्रवण आदि अलौकिक क्रियाओंकी निष्पत्ति होती है। आत्मा सर्वव्यापक और निष्क्रिय है। जो कुछ क्रिया होती है, सो त्रिगुणमयी प्रकृतिमें होती है। परन्तु प्रकृतिका जो परिणाम होता है, वह पुरुषकेलिये और पुरुषके आश्रयसे होता है, इसकारण आत्मा निष्क्रिय होनेपरभी सर्वत्र गमन करता है, ऐसा कह सकते हैं। स्वरूपस्थित आत्म-तत्त्व वेत्ता भगवान् यम धर्मराज जगद्गुरुरूपसे भाग्यवान् शिष्य नचिकेताको कहते हैं कि, उस मद और अमद देवरूपी आत्मा

को मेरे सिवाय और कौन जान सकता है; अर्थात् जगद्गुरुही उसको जानते हैं और जगद्गुरुपदस्थित श्रीगुरुदेवही ऐसा कह सकते हैं। मदामद शब्द हर्ष और उसके अभावरूपी द्वन्द्वका समता-बोधक है। अथवा इस गहन विषयको ऐसाभी समझ सकते हैं कि, मदामद शब्द महामायाके वैभव प्रकाशनार्थ सगुण और निर्गुण इन दोनों भावोका बोधक है। सगुण अवस्थामें निज प्रकृति-आलिङ्गित होकर मदयुक्त होते-हुए अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड-नायक बनते हैं और निर्गुण अवस्थामें वे ही परमात्मा अमद होकर प्रकृतिसे अतीत रहते हैं ॥ ५० ॥ २१ ॥

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥५१॥२२॥

अनवस्थेषु (नश्वरेषु) शरीरेषु अवस्थितं, अशरीरं (तत् शरीरनिमित्तक-विकारवर्जितं) महान्तं (देशतः कालतः गुणतश्च अपरिच्छिन्नं) विभुं (सर्वव्यापिनं) आत्मानं मत्वा (ज्ञात्वा) धीरो (धीमान्) न शोचति ॥५१॥२२॥

मन्त्रार्थ ।

नश्वर शरीरमें अवस्थित स्वयं शरीर-रहित, महत् और विभु आत्माको जानकर धीरव्यक्ति शोक नहीं करते हैं ॥५१॥२२॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

तद्विज्ञानाच्च शोकात्यय इत्यपि दर्शयति—अशरीरं स्वेन रूपेण आकाशकल्प आत्मा, तम् अशरीरं, शरीरेषु देव-पितृ-मनुष्यादिशरीरेषु अनवस्थेषु

अवस्थितिरहितेषु अनित्येषु अवस्थितं—नित्यमविकृतमित्येतत् । महान्तं महत्त्वस्य आपेक्षिकत्वशङ्कायामाह—विभुं व्यापिनम् आत्मानम् । आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रदर्शनार्थम्; आत्मशब्दः प्रत्यगात्मविषय एव मुख्यः, तमीदृशमात्मानं मत्वा "अयमहम्" इति धीरो धीमान् न शोचति । न ह्येवंविधस्याऽऽत्मविदः शोकोपपत्तिः ॥५१॥२२॥

भाष्यानुवाद ।

उसको जाननेसे शोकका अवसान हो जाता है, सोभी दिखाते हैं,—आत्मा स्वरूपतः आकाशवत् है, इसकारण अशरीरी है । पुनः अनवस्थित अर्थात् अस्थायी और अनित्य देव, ऋषि एवं मनुष्यादि शरीरमें अवस्थित होकरभी नित्य अविकृत और महत् है। आपेक्षिक महत्त्वके विषयमें शंका निवारणकेलिये कहते हैं,—विभु अर्थात् सर्वव्यापी उस आत्माको जानकर "मैं यह हूं" ऐसा अवगत होकर धीर व्यक्ति शोक नहीं करता है । क्योंकि ऐसे आत्मज्ञ व्यक्तिकेलिये शोककरना सम्भव नहीं होता है । "आत्मा" शब्दका मुख्य अर्थ प्रत्यगात्मा है । प्रत्यगात्मा स्वभावसे ही ब्रह्मसे अनन्य या अपृथक् है, इसी भावके द्योतनार्थ यहां "आत्मा" शब्दका प्रयोग हुआ है ॥५१॥२२॥

टीका ।

शरीरी मनुष्यादिको शरीर सम्बन्धसे ही भ्रम और शंकाएं हुआ करती हैं। इसकारण आत्मज्ञान-प्राप्तिके निमित्त कहा गया है कि शरीर अलग है, आत्मा अलग है। शरीर नष्ट हो जाता है। नित्य स्थित आत्मा नाशवान् शरीरमें कूटस्थस्वरूपसे

विराजमान रहनेपरभी वस्तुतः अशरीरी है। यद्यपि वह आत्मा एक और अद्वितीय होनेसे महत्‌शब्दवाच्य है, परन्तु प्रत्येक शरीरमें कूटस्थरूपसे उसका अनुभव होनेसे सर्वव्यापक विभुशब्दसे शंकाका निराकरण किया गया है। प्रत्यगात्माके निज शरीरमें प्रथम अनुभवमें अथवा शरीरके संयोग-वियोगकी सन्धिमें भ्रम और प्रमादके निराकरणकेलिये कहा गया है कि, धीरव्यक्ति ऐसे शरीरसे निर्लिप्त, नित्यस्थित और विभु आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानकर शोकको प्राप्त नहीं होते हैं। यदि यह शंका हो कि, प्रत्यगात्माका निज शरीरमें प्रथम अनुभव कैसे होता है? ऐसी शंकाके निराकरणमें सांख्यदर्शनोक्त विज्ञान ही यथेष्ट है। सांख्यशास्त्र जो बहुपुरुषवाद प्रतिपादन करता है और प्रत्येक शरीरमें अलग-अलग आत्मा होना सिद्ध करके उसको पुरुषशब्दसे अभिहित करता है, उससे यही सिद्ध होता है कि, तत्त्वज्ञानीको प्रथम अवस्थामें अपने शरीरमें ही प्रत्यगात्माका जो अनुभव प्राप्त होता है,वही सांख्यशास्त्रका पुरुष है। वह अवस्था आत्माके विभुत्वके अनुभवमें बाधक है। अतः इस मन्त्रमें अशरीरी और विभु बताकर आत्मज्ञानीका मार्ग सरल किया गया है ॥५१॥२२॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥५२॥२३॥

अयम् आत्मा प्रवचनेन (अध्ययनादिना) लभ्यो (निदर्शनीयो) न (भवति) मेधया (स्वीयप्रज्ञाबलेन) न, बहुना श्रुतेन (शास्त्रश्रवणेन वा न लभ्यः) एषः (आत्मा) यम् एवं (साधकं) वृणुते (आत्मदर्शनाय वरयति) तेन (वृतेन) एव (लभ्यः) एष आत्मा स्वां (स्वकीयां परमार्थिकीं) तनुं (मूर्तिं) तस्य (साधकस्य समीपे) विवृणुते (प्रदर्शयति) ॥ ५२ ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ ।

प्रवचन—शास्त्राध्ययनके द्वारा इस आत्माको लाभ नहीं किया जा सकता है, केवल मेधाद्वारा अथवा बहुशास्त्र-श्रवणके द्वाराभी आत्माको लाभ नहीं किया जा सकता है। यह जिसको वरण करता है उसी साधकके द्वारा वह लभ्य होता है, और उसीके समीप आत्मा अपने वास्तविक स्वरूपको प्रकाशित करता है ॥ ५२ ॥ २३ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा, तथाप्युपायेन सुविज्ञेय एवेत्याह—नायमात्मा प्रवचनेन अनेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयः, नापि मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या, न बहुना श्रुतेन केवलेन। केन तर्हि लभ्यः ? इत्युच्यते—यमेव स्वमात्मानम् एष साधको वृणुते प्रार्थयते, तेनैवाऽऽत्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत्। निष्कामश्चाऽऽत्मानमेव प्रार्थयते आत्मनैवाऽऽत्मा लभ्यत इत्यर्थः। कथं लभ्यत इत्युच्यते—तस्य आत्मकामस्य एष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति परमार्थिकीं स्वां तनूं स्वकीयां याथात्म्यमित्यर्थः ॥ ५२ ॥ २३ ॥

भाष्यानुवाद ।

यद्यपि यह आत्मा दुर्विज्ञेय है, तथापि उपायद्वारा अवश्यही सुविज्ञेय होता है। इसलिये कहते हैं कि, आत्मा प्रवचन अर्थात् बहु वेदाध्ययनके द्वारा लभ्य नहीं होता है, अर्थात् जाना नहीं जाता, मेधा—धारणाशक्तिके द्वाराभी नहीं लभ्य होता, केवल बहुशास्त्र-श्रवणसेभी लभ्य नहीं होता है, तो किस उपायसे वह लभ्य होता है? कहते हैं—यह साधक स्वकीय जिस आत्माको वरण करता है अर्थात् प्रार्थना करता है, वरणकारी उस आत्माके द्वारा आत्माही अर्थात् स्वयंही अपना लभ्य होता है अर्थात् ज्ञेय होता है। निष्काम व्यक्ति आत्माके लिये ही प्रार्थना करता है। तात्पर्य्य यह है कि आत्माके द्वाराही आत्मा लभ्य होता है अर्थात् आत्मा स्वयंही अपना लभ्य होता है। कैसे लभ्य होता है? स्वकीय आत्मा ही जिसका एकमात्र प्रार्थव्य विषय है, ऐसे आत्मकाम पुरुषके निकट आत्मा अपना पारमार्थिक तनु अर्थात् यथार्थ स्वरूप विवृत—प्रकाशित करता है ॥ ५२ ॥ २३ ॥

टीका ।

इस मन्त्रके द्वारा आत्मज्ञान-प्राप्तिकी अलौकिकता कही गई है। साधारण ज्ञानार्जनके तीन उपाय हैं। यथा—प्रवचनका आश्रय लेना, शास्त्र पढ़कर शास्त्रके शब्दोंका आश्रय लेना, और तीसरा शास्त्रव्यवसायियोंके शब्दोंका आश्रय लेना। इन तीनों उपायोंसे स्वस्वरूपकी उपलब्धिरूप आत्माकी प्राप्ति नहीं

होती है। चाहे तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ पुरुषोंके वेद और शास्त्रके प्रवचन का अवलम्बन क्यों न किया जाय, अथवा स्वयं वेद और शास्त्र पढ़कर उसके शब्दोंके मननद्वारा प्रयत्न क्यों न किया जाय, अथवा शास्त्रज्ञ पण्डितोंसे आत्मा और अनात्माका विचार क्यों न सुना जाय, तीनोंसे ही आत्माकी प्राप्ति नहीं होती है। क्योंकि शब्द, मन और बुद्धिसे अगोचर आत्मा शब्दके आश्रयसे प्राप्त नहीं हो सकता है। कर्म-उपासना-ज्ञानकी साधन-शैलीका अवलम्बन करके जब जिज्ञासु अपने मल, विक्षेप और आवरणका नाश कर लेता है और उससे उसकी सात्त्विक धृति और सात्त्विक ज्ञानका उदय होकर उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है, तब बुद्धि-गुहास्थित आत्मा स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है। इसप्रकारसे आत्मा जिसको स्वयं वरण करता है, वही उसको लाभ करता है। और ऐसे महात्माके निकट ही परमात्मा अपना स्वरूप प्रकट करते हैं। यही स्वस्वरूप-उपलब्धिका अलौकिकत्व है॥ ५२ ॥ २३ ॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ॥
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥५३॥२४॥

दुश्चरितात् (निन्दितात् शास्त्रनिषिद्धात् आचारात्) अविरतः (अनिवृत्तः) न, अशान्त (असम्पादितेन्द्रियनिग्रहः) न, असमाहितः (विक्षिप्तचित्तः) न, अशान्तमानसः (विषयभोगे अलंबुद्धिरहितः) न, प्रज्ञानेन (ब्रह्मविज्ञानेन) एनम् (आत्मानं) आप्नुयात् (प्राप्नोति) ॥५३॥२४॥

मन्त्रार्थ ।

जो दुश्चरित्रसे विरक्त नहीं है, संयतेन्द्रिय नहीं है, समाहित चित्त नहीं है, और अशान्तमानस है, उसको आत्माकी प्राप्ति नहीं होती है। केवल प्रज्ञानके द्वारा ही आत्माकी प्राप्ति होती है ॥५३॥२४॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

किञ्चान्यत्, न दुश्चरितात् प्रतिषिद्धात् श्रुतिस्मृत्यविहितात् पापकर्मणोऽविरतः अनुपरतः। नापि इन्द्रियलौल्यात् अशान्तः, अनुपरतः। नापि असमाहितोऽनेकाग्रमना विक्षिप्तचित्तः। समाहितचित्तोऽपि सन् समाधानफलार्थित्वात् नापि अशान्तमानसो व्यापृतचित्तः। प्रज्ञानेन ब्रह्मविज्ञानेनैनं प्रकृतमात्मानमाप्नुयात्। यस्तु दुश्चरिताद् विरतइन्द्रियलौल्याच्च, समाहितचित्तः समाधानफलादपि उपशान्तमानसश्चाऽऽचार्यवान् प्रज्ञानेन यथोक्तमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥५३॥२४॥

भाष्यानुवाद ।

और क्या,—दुश्चरित अर्थात जो, श्रुति-स्मृतिआदि शास्त्रविहित प्रतिषिद्ध पापकर्मसे विरत नहीं है, इन्द्रिय-लोलुपतासे अशान्त है, और असमाहित अर्थात् एकाग्रता-रहित विक्षिप्त या चञ्चलचित्त है, एवं समाहितचित्त होकरभी फल-कामनासे अशान्तमानस है, ऐसा व्यक्ति परमात्माको प्राप्त नहीं कर सकता है। किन्तु जो व्यक्ति दुराचार और इन्द्रिय-लालसासे विरत है, समाहितचित्त और समाधानके फललाभमें भी स्पृहारहित है, आचार्य्यवान् ऐसा व्यक्ति प्रज्ञानके द्वारा यथोक्त

आत्माको प्राप्त करता है ॥ ५३ ॥ २४ ॥

टीका ।

इससे पहले मन्त्रमें यह सिद्ध किया गया है कि, किसी लौकिक पुरुषार्थद्वारा आत्माकी प्राप्ति नहीं होती है। क्योंकि आत्मा ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूपी तटस्थज्ञानसे अतीत है। शरीरका मल, मनका विक्षेप और बुद्धिका आवरण जब दूर हो जाता है, तब स्वयं प्रकाश आत्मा अपने-आपही स्वस्वरूपमें प्रकाशित होता है। अब इस मन्त्रमें यह स्पष्ट किया गया है कि, तत्त्वज्ञानी व्यक्तिमें कौन-कौनसी योग्यता होनी चाहिये, जिससे आत्माके प्रकाशित होनेकी अलौकिक अवस्था उसमें उत्पन्न हो सके। शारीरिक बहिश्चेष्टा जो धर्मानुकूल हो, उसको सदाचार कहते हैं। सदाचारी व्यक्ति ही सुचरित्र कहलाता है। अतः जो सत्-पुरुष धर्म-विरुद्ध यावत् आचारोंसे रहित होता है और पूर्ण-सदाचारी होता है, वही व्यक्ति दुश्चरितसे विरत हो सकता है। तात्पर्य्य यह है कि, आत्मज्ञानके उपयोगी अधिकारीका सदाचारी अर्थात् दुश्चरित न होना प्रथम लक्षण है। विषय-वासनासे मनुष्य अशान्त होता है। जिसप्रकार आत्मज्ञानीकी बाहरी शारीरिक चेष्टा धर्मानुकूल होकर उसको सदाचारी होना चाहिये, उसीप्रकार आत्मज्ञानके अधिकारी सत् पुरुषको पूर्ण वैराग्यवान् होकर विषय-राग-रहित होना चाहिये। जैसे सदाचारी व्यक्ति सदा धर्ममें प्रतिष्ठित रहता है, उसीप्रकार विषय-राग-रहित व्यक्तिका मन आत्मज्ञानके उपयोगी होता है

आत्मज्ञानका अधिकारी होनेकेलिये तीसरा लक्षण समाहित-चित्त होना चाहिये। मनके केवल विषय-राग-रहित होनेसे ही काम नहीं चलेगा, ऐसे महद् व्यक्तिका अन्तःकरण आत्माकी ओर युक्तभी रहना चाहिये। उसके अन्तःकरणकी गति सदा आत्मोन्मुख होगी, तभी वह समाहित व्यक्ति कृतकार्य हो सकता है। वासना-जाल ही जगत्का कारण है। उस वासना-जालकी छाया उन्नतसे उन्नत तत्त्वज्ञानी व्यक्तिमेंभी रहती है। इस-कारण आत्मज्ञानेच्छु महत् पुरुषको ऊपर कथित लक्षणोंके साथ-ही-साथ अपनी वासनाओंका क्षय करके शान्तमानस होना उचित है। शान्त मानस होनेसे चित्तवृत्तियां स्वतः शान्त होकर अन्तःकरण पूर्ण निर्मल हो जाता है। यह योग-शास्त्रकाभी अकाट्य सिद्धान्त है। ये सब लक्षण जिस महा-पुरुषमें हों, वह स्वयं प्रकाशित प्रज्ञान अर्थात् स्वरूपज्ञानके द्वारा आत्माको प्राप्त करता है ॥ ५३ ॥ २४ ॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं, क इत्था वेद यत्र सः ॥५४॥२५॥

इति कठोपनिषदि प्रथमाध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता ।

यस्य (आत्मनः) ब्रह्म (ब्राह्मणजातिः) च क्षत्रं (क्षत्रियजातिः) च उभे ओदनः (अन्नं) भवतः । मृत्युः (सर्वप्राणिनां संहारकः) यस्य उपसेचनं (उपकरणं शाकस्थानीयं) सः (एवं जगत्-संहर्तृत्व-गुणः) यत्र (तिष्ठति) (तत्) इत्था (इत्थम् एवं प्रकारेण) को वेद (न कोऽपीति भावः) ॥२४॥२५॥

मन्त्रार्थ ।

ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति जिनका अन्न है, और मृत्यु जिनका उपसेचन—व्यञ्जन स्थानीय है, वे जहां रहते हैं, सो इस प्रकारसे कौन जान सकता है ॥५४॥२५॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यस्त्वनेवंभूतो यस्य आत्मनो ब्रह्म च क्षत्रञ्च—ब्रह्मक्षत्रे सर्वधर्मविधारके अपि सर्वत्राणभूते उभे ओदनोऽशनं भवतः—स्याताम् । सर्वहरोऽपि मृत्यु र्यस्य उपसेचनमेव ओदनस्य अशनत्वेऽप्यपर्य्याप्तः, तं प्राकृतबुद्धिर्यथोक्तसाधनरहितः सन् क इत्था इत्थमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः । वेद विजानाति यत्र स आत्मेति ॥५४॥२५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यगोविन्दभगवत्-पूज्यपादशिष्य-श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये द्वितीय-वल्लीभाष्यं समाप्तम् ।

भाष्यानुवाद ।

सर्व धर्मोंका धारणकरनेवाले और सबका त्राणस्वरूप ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दोनों जिनका ओदन अर्थात् खाद्य हैं, एवं सर्व-संहारक मृत्युभी जिनका उपसेचनमात्र अर्थात् ओदन-भक्षणमें यथेष्ट नहीं है, पूर्वोक्त साधन-रहित और साधारण बुद्धि-सम्पन्न कौन व्यक्ति उक्त साधन-सम्पन्न व्यक्तिके समान उसको जान सकता है, जहां वे आत्मा अवस्थित हैं ॥५४॥२५॥

द्वितीय वल्लीका भाष्यानुवाद समाप्त ।

टीका।

मन-वाणीसे अगोचर सच्चिदानन्दमय आत्माके स्वरूपको समझानेमें यदि शब्दकी आवश्यकता हो, तो नाना प्रकारके शब्द-प्रयोगद्वारा उस भावातीत भावको समझानेका प्रयत्न करना होगा। इसीकारण इस मन्त्रमें अलौकिक भाव प्रकाशित करके स्वस्वरूपकी उपलब्धि करानेका प्रयत्न किया गया है। सृष्टिकी सामञ्जस्य-रक्षा और मनुष्य समाजकी सुरक्षाके लिये एवं विशेषतः ब्रह्माण्डमें आध्यात्मिक प्रवाहको सुरक्षित रखनेके निमित्त वर्णाश्रम-शृङ्खलाको बनाए रखनेके लिये ब्राह्मण-शक्ति और क्षत्रिय-शक्ति दोनों ही समानरूपसे आवश्यकीय हैं। सृष्टिकी सामञ्जस्य-रक्षाके लिये इन दोनोंकी सर्वोपरि आवश्यकता है। दूसरी ओर सृष्टिकी सामञ्जस्य-रक्षामें आवागमन-चक्र परम हितकर है, क्योंकि आवागमन-चक्रके द्वारा जीव बार-बार ब्रह्माण्डका केन्द्ररूपी मृत्युलोकमें आकर अपनी क्रमोन्नतिका अवसर प्राप्त करता है। इसकारण ऐसा कहा गया है कि, ब्राह्मण और क्षत्रिय जिसका ओदन अर्थात् अन्न हैं और आवागमनचक्रकी एकमात्र सन्धिरूपी मृत्यु व्यञ्जन है। ऐसा मानने पर ही आत्मा सृष्टिसे अतीत समझा जा सकता है। सृष्टिके विलय होनेपर ही स्वस्वरूपका उदय होता है। अतः सृष्टि-प्रपञ्चसे अतीत सृष्टि-लय-स्थानको सृष्टिके मध्यमें रहकर इस प्रकारसे कौन जान सकता है। इस अलौकिक विज्ञानको अन्य प्रकारसे भी समझानेका प्रयत्न किया जाता है। विश्व-धारक

धर्मके नियमानुसार उसके ऊर्द्ध्वगामी स्रोत और उसकी आधि-भौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक व्यवस्था एवं विशेषतः उसकी आध्यात्मिक उन्नतिशीलगतिको स्थायी रखनेके लिये वर्णाश्रम-शृङ्खला सर्वोपरि है। वर्णाश्रम-शृङ्खलाके प्रधान अव-लम्बन ब्राह्मण-शक्ति और क्षात्र-शक्ति हैं; इन दोनों शक्तियोंके लय होते ही विश्वकी आध्यात्मिक शृङ्खला नष्ट हो जाती है; और आध्यात्मिक शृङ्खलाके नष्ट होते ही विश्व, महाकालका कवल हो जाता है। दूसरी ओर देव-ऋषि-पितृ-निवास भूमि देवलोक और मनुष्य-निवास भूमि मनुष्यलोक, सबका अर्थात् चतुर्दश-लोकमय ब्रह्माण्डका केन्द्र और सृष्टिके कारणरूप कर्मके विचारसे पाप-पुण्य-संचयका सहायक कर्मभूमि मृत्युलोक है। उस मृत्युलोकसे जानेकी सन्धि मृत्यु है। अतः वह मृत्यु आवा-गमन-चक्रका द्वार है। इसकारण मृत्युको महाकालके खाद्यका व्यञ्जन कह सकते हैं। इसकारण माया-प्रसूत यह सृष्टि-प्रपञ्च, उसके धर्माधर्मक्रिया सहित किस प्रकारसे उसकी सामञ्जस्य विधायिनी शक्तियोंके साथ महाकालमें प्रविष्ट होनेसे स्वस्वरूप-का उदय होता है, उस अलौकिक आध्यात्मिक रहस्यको अनु-भव करना अतिकठिन है ॥ ५४ ॥ २५ ॥

द्वितीयवल्लीकी टीका समाप्त।

तृतीया वल्ली ।

—:*:०:*:—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके,
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति,
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥५५॥१॥

लोके (अस्मिन् शरीरे) सुकृतस्य (कर्मणः) ऋतं (सत्यं फलं) पिबन्तौ (भुञ्जानौ), गुहां (गुहायां बुद्धौ) परमे (बाह्याकाशापेक्षया उत्कृष्टे) परार्द्धे (परस्य ब्रह्मणः अर्द्धस्थानकल्पे हृदयाकाशे) प्रविष्टौ। छाया-तपौ (इव) ब्रह्मविदः वदन्ति (कथयन्ति) ये च पञ्चाग्नयः (गृहस्थाः) त्रिणाचिकेताः (त्रिः कृत्वः नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैः, ते च वदन्ति)॥५५॥१॥

मन्त्रार्थ ।

ब्रह्मज्ञगण और पञ्चाग्निगण तथा तीनवार जिन्होंने नाचि-केत अग्निका चयन किया है, वे कहते हैं कि, इसी शरीरमें कर्म-फलका भोक्ता, और बुद्धिरूपी गुहामें, उत्तम ब्रह्म-वास-योग्य हृदयाकाशमें अवस्थित छाया और आतप अर्थात् अन्ध-कार एवं प्रकाशकी तरह (जीव और परमात्मा) विलक्षण स्वभाव हैं ॥५५॥१॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

ऋतं पिबन्तौ इत्यस्या वल्ल्याः सम्बन्धः। विद्याविद्ये नानाविरुद्धफले

इत्युपन्यस्ते, न तु सफले ते यथावन्निर्णीते । तन्निर्णयार्था रथरूपक-कल्पना; तथा च प्रतिपत्तिसौकर्य्यम् । एवञ्च प्राप्तृ-प्राप्य-गन्तृ-गन्तव्य-विवेकार्थं रथरूपकद्वारा द्वौ आत्मानौ उपन्यस्येते—ऋतमिति । ऋतं सत्यम् अवश्यम्भावित्वात् कर्मफलं पिबन्तौ; एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरः, तथापि पातृसम्बन्धात् पिबन्तौ इत्युच्यते छत्रिन्यायेन । सुकृतस्य स्वयं-कृतस्य कर्मण ऋतमिति पूर्वेण सम्बन्धः । लोके अस्मिन् शरीरे, गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ । परमे—बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानापेक्षया परमम् । परार्द्धं परस्य ब्रह्मणोऽर्द्धं स्थानं परार्द्धं हार्दाकाशं, तस्मिन् हि परं ब्रह्मोपलभ्यते । अतः तस्मिन् परमे परार्द्धे हार्दाकाशे प्रविष्टौ इत्यर्थः । तौ च छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन, ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति । न केव-लमकर्मिण एव वदन्ति; पञ्चाग्नयो गृहस्थाः; ये च त्रिणाचिकेताः, त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो यै स्ते त्रिणाचिकेताः ॥ ५५ ॥ १ ॥

भाष्यानुवाद ।

"ऋतं पिबन्तौ" इत्यादि इस वल्लीका सम्बन्ध (पूर्ववल्लीके साथ) इस प्रकार है,—नाना प्रकार विरुद्ध फल-प्रद विद्या और अविद्याके विषयमें पहले केवल उल्लेखमात्र हुआ है, फलके साथ (यथावत् रूपसे) उनका निर्णय नहीं हुआ है । उसी निर्णयके लिये 'रथ'-रूपककी कल्पना की गयी है । इसप्रकारसे सम-झनेमें सुविधा होती है । और इसीकारण प्रथमतः प्रापक-प्राप्तव्य, गन्ता-गन्तव्य दोनोका विवेक या पार्थक्य-प्रदर्शनार्थ 'रथ'-रूपकद्वारा ऋतं आदि मन्त्र, दोनों आत्मामें ही उपन्यस्त होता है । 'ऋतं'का अर्थ सत्य है । कर्मका फल अवश्य-

स्भावी होनेसे सत्य है, यद्यपि केवल एक ही कर्म-फल पान करता है, दूसरा नहीं करता, तथापि "छत्रि"-न्यायके अनुसार पान करनेवालेके साथ सम्बन्ध रखनेके कारण दोनोंको ही पान-कर्त्ता (पिबन्तौ द्वारा) कहा गया है। लोक अर्थात् इसी शरीरसे अपने किए हुए कर्मोंके फलका भोक्ता, बुद्धिरूपी गुहा-में परम अर्थात् वहिः-स्थित आकाश और पुरुष-शरीरस्थ आकाशकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ, और उसीमें ब्रह्मकी उपलब्धि होती है, इसलिये ब्रह्मका अर्द्धस्थान-योग्य-परार्द्ध जो हार्दाकाश है, उस परम-परार्द्ध हार्दाकाशमें प्रविष्ट है। इसलिये ब्रह्मज्ञगण छाया और आतपके समान (अन्धकार और प्रकाशके समान) दोनोंको संसारी और असंसारीरूपसे विभिन्न-स्वभाव कहते हैं। केवल अकर्मिगण (ज्ञानीगण) ही (ऐसा) नहीं कहते, (वल्कि), पञ्चाग्नि अर्थात् पञ्चविध अग्निको सेवन करनेवाले गृहस्थगण एवं जिन्होंने तीन वार 'नाचिकेत' नामक अग्निका चयन किया है, ऐसे त्रिणाचिकेतगण भी ऐसा ही कहते हैं ॥ ५५ ॥ १ ॥

टीका ।

इस मन्त्रमें तीन अधिकारोंका वर्णन है। यथा प्रथम "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अनुभव करनेके अधिकारी ब्रह्मविद्। दूसरा अधिकार यथा—गार्हपत्य, आवहनीय आदि पच अग्नि-सेवन-प्रणालीके द्वारा जो उपासकगण स्वर्ग, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और स्त्री, इन पाचों स्थानोंमें अग्निकी विशेष सत्ता अनुभव

करके पंचाग्नि-विद्या-सेवी कहाते हैं। और तीसरा अधिकार त्रिणाचिकेताका है, जिसका वर्णन पहले विस्तारित रूपसे आ चुका है। प्रथम श्रेष्ठतम अधिकारकी प्राप्तिके लिये ही इस उपनिषत्की प्रवृत्ति है, सो स्पष्ट ही है। दूसरे अधिकारका दिग्दर्शन आवश्यकीय है। यह अधिकार प्रवृत्ति-सम्बन्धयुक्त निवृत्तिका हैं। अग्निहोत्र व्रतधारी साग्निक गृहस्थकी अग्निसेवन प्रणालीके पांच भेद हैं जो सर्वप्रसिद्ध हैं। उन्हींका सेवन करते हुए उनका आध्यात्मिक लक्ष्य जब पूर्वकथित पांच स्थल पर पहुंच जाता है, तो वे ही ब्राह्मण पंक्तिपावन कहाते हैं। सृष्टिधारक ब्रह्म-तेज-सम्भूत विश्वनियामक अग्निका स्वरूप पहले भलीभांति वर्णित हो चुका है। प्रवृत्ति-मार्गगामी गृहस्थ पथिक अग्निहोत्रव्रत-धारण करके कर्मकाण्डसेवी बनकर आधिभौतिक पञ्चाग्निका सेवन करता हुआ किसप्रकार अध्यात्म लक्ष्य-युक्त रहेगा और कैसे पञ्चाग्नि-विद्याको प्राप्त करके पंक्ति-पावन होकर गृहस्थाश्रमको पवित्र करेगा; इसका दिग्दर्शन कराया गया है। इन पाचों स्थूल अग्निके साथ पाचों आध्यात्मिक अग्निके स्थलोंका वर्णन किया जाता है। यथा स्वर्ग, मेघ पृथिवी पुरुष और स्त्री। वस्तुतः यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय तो यही सिद्ध होगा कि, सृष्टिकी सुरक्षा और सामञ्जस्य-रक्षामें ये ही पाचो सर्वप्रधान हैं। स्वर्गसे सूक्ष्म दैव जगत्से तात्पर्य्य है। दैव-जगत् ही स्थूल जगत्का संचालक और धारक है। पर्जन्यसे ही स्थूल सृष्टि सुरक्षित रहती है। क्योंकि "पर्जन्या-

दन्नसम्भवः" और जीवका पोषक पदार्थ ही अन्न कहाता है। पृथिवी सबकी आधाररूपा है। स्त्री-धारा और पुरुष-धारा, दोनों मिलकर सृष्टि-धाराकी रक्षा करते हैं। इन पांचों स्थलोंमें विश्वधारक अग्निके नित्य स्थितिको जो तत्त्वज्ञानी महापुरुष नित्य अनुभव करते हैं, वे ही पञ्चाग्नि-विद्यासेवी हैं, इसमें सन्देह नहीं। और वे ही आत्मतत्त्ववेत्ता हो सकते हैं। और त्रिणचिकेता कैसे आत्मतत्त्ववेत्ता हो सकते हैं, सो पहले कहा ही गया है। इन तीनों अधिकारोंके महापुरुष ब्रह्मतत्त्व-निरूपणमें एकमत होते हैं। वे कहते हैं कि वह एक और अद्वितीय निर्लिप्त और निःसङ्ग आत्मा ही कर्म-फल-भोक्ता होकर जीव और कूटस्थरूपसे शरीरमें विद्यमान है। वही हृदयमें और हृदयसे ऊपर द्विदलमें तथा बुद्धिगुहामें अनुभवमें आता है। वही छाया और ज्योति अर्थात् अन्धकार और प्रकाशके समान जीव और ब्रह्मरूपसे अनुभवगम्य है। यदि इस मन्त्रमें शंका हो, कि कर्म-भोगके सम्बन्धसे 'सुकृत' क्यों आया? इसका समाधान यह है कि, जैसे समष्टिरूपसे देवलोक अथवा स्वर्गलोकका प्रयोग होनेसे उसके साथ नरकलोक, प्रेतलोक, असुरलोक भुवर्लोक आदि सबका समावेश हो जाता है, वैसे ही 'सुकृत' शब्दसे पापपुण्यादि भोगका तात्पर्य्य समझा जा सकता है ॥५५॥१॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम् ।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳ शकेमहि ॥५६॥२॥

ईजानानां (यजनशीलानां कर्मिणां) यः (नाचिकेतः अग्निः) सेतुः

(दुःखोत्तरणार्थत्वात् सेतुरिव), (तं) नाचिकेतं (अग्निं) शकेमहि (चेतुं ज्ञातुं शक्नुमः) अभयं (भयरहितं) पारं (संसारार्णवस्येति) तितीर्षतां (तर्त्तुमिच्छतां ज्ञानिनां) आश्रयभूतं यत् अक्षरं परं ब्रह्म (तदपि ज्ञातुं शकेमहि) ॥ ५९ ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ ।

ईजान अर्थात् याज्ञिकगणके लिये सेतु—उपायभूत नाचिकेत अग्निको हम जानने और चयन करनेमें समर्थ हो । और अभय-रूप (संसारसागरसे) पार उतरनेके अभिलाषी ज्ञानियोका आश्रयभूत जो अक्षर परब्रह्म है, उसको भी (हम) जाननेमें समर्थ हों ॥ ५९ ॥ २ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यः सेतुरिव सेतुः ईजानानां यजमानानां कर्मिणां दुःखसंतरणार्थत्वात्, नाचिकेतोऽग्निः तं, नाचिकेतं वयं ज्ञातुं चेतुञ्च शकेमहि शक्नुवन्तः । किञ्च, यच्च अभयं भयशून्यं संसारस्य पारं तितीर्षतां तर्त्तुमिच्छतां ब्रह्मविदां यत् परं आश्रयं अक्षरम् आत्माख्यं ब्रह्म तच्च ज्ञातुं शकेमहि शक्नुवन्तः । परापरे ब्रह्मणी कर्म-ब्रह्मविदाश्रये वेदितव्ये इति वाक्यार्थः । एतयोरेव ह्युपन्यासः कृत ऋतं पिबन्ताविति ॥ ५९ ॥ २ ॥

भाष्यानुवाद ।

ईजान अर्थात् यज्ञशीलकर्मियोका सेतु—बान्ध, अर्थात् दुःखसागरपार होनेका उपाय होनेसे सेतुके समान जो नाचिकेत अग्नि है, उसको हम जान सकें एवं चयन कर सकें । और भी, अभय अर्थात् भय-रहित, संसार-सागरसे पार उत-

रनेके अभिलाषी ब्रह्मज्ञगणका परम आश्रयस्वरूप आत्मा-नामक जो ब्रह्म है, उसको भी (हम) जाननेमें समर्थ हों। इस वाक्य का तात्पर्य्य यह है कि, कर्मि एवं ब्रह्मविदोंका आश्रय पर और अपर ब्रह्मको जानना चाहिये। पहले "ऋतं पिबन्तौ" कहकर इन्हीं परापर ब्रह्मका उल्लेख किया गया है ॥५६॥२॥

टीका।

अब कार्य्यब्रह्म और कारण ब्रह्म अर्थात् अपरब्रह्म और पर-ब्रह्मके सम्बन्धसे श्रीभगवान् यम धर्मराज शिष्यका लक्ष्य स्थिर करा रहे हैं। नाचिकेत अग्निके विषयमें पहली वल्लीमें सब कुछ कहा गया है। नाचिकेत अग्निका आधिभौतिक स्वरूप वैदिक यज्ञमें और आध्यात्मिक स्वरूप विश्वधारक धर्ममें दिखाया ही गया है। उसी अलौकिक विज्ञानको लक्ष्य कराकर धर्मा-धर्मके फलदाता भगवान् यम कह रहे हैं कि, हम विश्वधारक धर्म और अद्वितीय परब्रह्मको जाननेमें समर्थ हों। तात्पर्य्य यह है कि, सगुणब्रह्म और निर्गुणब्रह्म दोनोंका अधिकार और अनु-भव अलग-अलग होने कारणके दोनोंके विषयमें लक्ष्य स्थिर यथाधिकार होना भी उचित है। मार्गको सरल करनेके लिये सेतु परमावश्यक होता है; क्योंकि जब नदी-नाले आदि मार्ग-को रोक देते हैं, तब सेतु ही मार्गको सरल करता है। उसी प्रकार नाचिकेत अग्नि सब प्रकारके याज्ञिकोंके लिये सेतुरूप है। वही पुनः विश्वधारक धर्मशक्तिरूपसे परम पुरुषार्थतकमें सेतुका कार्य्य करता है। स्वस्वरूप उपलब्धिमें अक्षररूपी पर-

ब्रह्म ही अभय तथा पार पानेके अभिलाषी ज्ञानियोंका आश्रय-भूत है ॥ ५६ ॥ २ ॥

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥५७॥३॥

आत्मानं (शरीराधिष्ठातारं जीवं) रथिनं (रथस्वामिनं) विद्धि (जानीहि)। शरीरं (देहं) तु (पुनः) रथं (रथस्थानीयं) एव (विद्धि) बुद्धिं तु सारथिं (शरीर-रथ-चालकं) विद्धि । मनः (संकल्प-विकल्प लक्षणं) च (अपि) प्रग्रहम् (अश्व-संयमन-रज्जुं) (विद्धि) ॥५७॥३॥

मन्त्रार्थ ।

(शरीराधिष्ठाता) आत्माको रथी—रथस्वामी जानो, शरीर-को रथ, बुद्धिको सारथि और मनको प्रग्रह—लगाम जानो ॥ ५७ ॥ ३ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

तत्र च उपाधिकृतः संसारी विद्याविद्ययोरधिकृतो मोक्ष-गमनाय संसार-गमनाय च, तस्य तदुभयगमने साधनो रथः कल्प्यते । तत्र तमात्मानं ऋतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि विजानीहि । शरीरं रथं एव तु रथवद्ध हयस्थानीयैरिन्द्रियैः आकृष्यमाणत्वात् शरीरस्य । बुद्धिं तु अध्य-वसायलक्षणां सारथिं विद्धि, बुद्धिनेतृप्रधानत्वात् शरीरस्य ; सारथिनेतृ प्रधान इव रथः । सर्वं हि देहगतं कार्य्यं बुद्धिकर्त्तव्यमेव प्रायेण । मनः-संकल्पविकल्पादिलक्षणं प्रग्रहमेव च रशनां विद्धि । मनसा हि प्रगृही-तानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्त्तन्ते, रशनयेव अश्वाः ॥ ५७ ॥ ३ ॥

भाष्यानुवाद ।

पूर्वोक्त दोनोंमें जो उपाधिकृत संसारको प्राप्त करके विद्या और अविद्यावशतः मोक्ष एवं संसारका अधिकारी होता है, उसके दोनों स्थानोंमें गमन करने-योग्य रथकी कल्पना की जाती है। पूर्वोक्त ऋतपान करनेवाले आत्माको रथी अर्थात् रथका स्वामी जानो; शरीर-रथमें जुते-हुए घोड़ोंकी तरह इन्द्रियोंके द्वारा आकृष्ट या परिचालित होता है, इसकारण उसको रथ जानो। रथ चलानेवालोंमें जिसप्रकार सारथि प्रधान है, उसीप्रकार शरीरके संचालकोंमें बुद्धि प्रधान है; क्योंकि, शरीरमें जितने कार्य्य होते हैं, प्रायः उन सबोंको बुद्धि सम्पन्न करती है। अतएव अध्यवसाय या निश्चयस्वभाव बुद्धिको सारथि जानो और चूंकि, श्रोत्रादि इन्द्रियाँ मनके द्वारा संचालित होकर ही अपने अपने कार्य्यमें प्रवृत्त होती हैं; इसकारण संकल्प-विकल्प-स्वभाव मनको प्रग्रह—रशना अर्थात् लगाम जानो॥ ५७ ॥ ३ ॥

टीका ।

अब गुरु साधन-मार्गका इङ्गित कर रहे हैं। पहले मन्त्रमें दो लक्ष्य स्थिर किये गये हैं। एक सगुण ब्रह्मका, दूसरा निर्गुण-ब्रह्मका, अर्थात् एक अभ्युदय-सम्बन्धी और दूसरा निःश्रेयस-सम्बन्धी। दोनों ही तत्त्वज्ञान सापेक्ष हैं। इसकारण दोनों प्रकारके अधिकारियोंके पुरुषार्थमें सहायता देनेके निमित्त तत्त्व-ज्ञानात्मक रूपकमय सिद्धान्त इस श्रुतिमें विवृत हुआ है। साधारणतः जीव इन्द्रियोमें फँस कर विषयाकारवृत्तिको धारण

करके अधःपतित होते रहते हैं; परन्तु जो श्रेष्ठजन अभ्युदय अथवा निःश्रेयसके मार्गमें पहुंच जाते हैं, यदि वे योगात्मक इस तत्त्वज्ञानका अनुकरण करते रहें, तो उनकी सफलता अवश्यम्भावी है। इस देहरूपी रथमें कूटस्थरूपी आत्मा रथी है। बुद्धि सारथी है और मन लगाम है। इसप्रकारकी धारणा जो राजयोगी हर समय तत्त्वज्ञानकी सहायतासे स्थिर रख सके, वह अवश्य ही सफल काम होगा। कूटस्थ आत्माको शरीररूपी रथका सारथि मानकर तत्त्वज्ञानी आत्मामें युक्त होकर कार्य्य करता है, उसकी बुद्धि अवश्य सारथिका काम देती है, और विचलित नहीं होती है। तब आत्मासे सम्बन्धयुक्त बुद्धिके अधीन रहकर इन्द्रियोंका राजा मन इन्द्रियोंको बहकने नहीं देता है। जैसे लगामके द्वारा सुनियन्त्रित घोड़े यानको यथास्थानपर पहुँचाया करते हैं, उसीप्रकार इसप्रकारसे युक्त योगीकी इन्द्रियां उसके अधीन रहकर प्रथम अवस्थामें अभ्युदय और चरम अवस्थामें निःश्रेयस प्राप्त करानेमें बहुत सहायक होती हैं। योगी चाहे अभ्युदय प्रार्थी हो, चाहे मोक्षप्रार्थी हो, दोनोंके लिये यह युक्त अवस्था एकान्त आवश्यकीय है ॥५७॥ ३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँ स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ५८—४॥

मनीषिणः (प्राज्ञाः) इन्द्रियाणि हयान् (अश्वान्) आहुः; विषयान् (शब्दादीन्) तेषु (तेषामिन्द्रियाश्वानां) गोचरान् (विषयभूतान्

संचरणदेशान्) (आहु इत्यर्थः) आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं (शरीरेन्द्रिय-मनोभिः समन्वितं) (आत्मानं) भोक्ता इति आहुः ॥ ५८ ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ ।

मनीषिगण इन्द्रियोंको अश्व, विषयोंको उनका गोचर अर्थात् विचरणभूमि, और शरीर, इन्द्रिय, एवं मनोयुक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं ॥ ५८-४ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयानाहू रथकल्पनाकुशलाः शरीररथाकर्षण-सामान्यात्। तेष्वेव इन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान् मार्गान् रूपादीन् विषयान् विद्धि। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति संसारीत्याहु मनीषिणो विवेकिनः। न हि केवलस्याऽऽत्मनो भोक्तृत्वमस्ति, बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम्। तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्याभोक्तृत्वमेव दर्शयति,—"ध्यायतीव लेलायतीव" इत्यादि। एवञ्च संति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्य आत्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते नान्यथा स्वभावानतिक्रमात् ॥ ५८ ॥ ४ ॥

भाष्यानुवाद ।

रथ-कल्पना-कुशल विज्ञगण शरीररूपी रथके खेंचनेका सादृश्य होनेसे चक्षु आदि इन्द्रियोंको अश्व कहते हैं। रूपादि विषयोंको अश्वरूपसे परिकल्पित इन्द्रियोंका गोचर—विचरण-पथ (जानेका मार्ग) जानो। मनीषिगण अर्थात् विवेकिगण शरीर, इन्द्रिय और मनोयुक्त आत्माको भोक्ता—संसारी कहते हैं। बुद्धि आदि उपाधिके संयोगसे ही आत्माका भोक्तृत्व सिद्ध

होता है। केवल अर्थात् उपाधि रहित आत्माका कदापि भोक्तृत्व सिद्ध नहीं होता है। "(आत्मा) मानो ध्यान करता है, मानो गमनागमन करता है" इत्यादि अन्य श्रुतिद्वाराभी केवल आत्माका अभोक्तृत्व ही दिखाते हैं। ऐसा ही होनेसे वक्ष्यमाण (जो आगे कहा जाएगा) रथकल्पनाद्वारा विष्णुपदका जो आत्मरूपमें लाभ है, वह भी युक्ति-संगत होता है; अन्यथा स्वभाव कभी नष्ट नहीं होता है। (तात्पर्य यह है, आत्मा यदि स्वभावसे ही बद्ध हो, तो वह कभी मुक्त नहीं हो सकता है) ॥ ५८ ॥ ४ ॥

टीका।

आत्माके निर्लिप्त होनेपर भी मनीषीगण बुद्धिकी दो अवस्था, और विषय-भोगकी दो अवस्थाओंका वर्णन करते हैं। आत्मामें युक्त बुद्धि और आत्मामें अयुक्तबुद्धि इस प्रकार बुद्धिकी दो अवस्थाएं हैं। शुद्ध मन और अशुद्ध मन इस प्रकारसे मनकी दो अवस्थाएं हैं। भावशुद्धिपूर्वक विषयभोग, और अशुद्धभावसे विषयभोग, इसप्रकार विषयभोगकी भी दो अवस्थाएं वर्णन की है। इन्हीं दोनो अवस्थाओंके अनुसार मोक्ष और बन्धन-प्रद कर्मोंका सिद्धान्त निर्णय किया गया है। विषय-भोग और कर्म-संग्रहके सम्बन्धसे रथकी कल्पना पहले मन्त्रमें की है, अब इस मन्त्रद्वारा उससे सम्बन्धयुक्त अन्यान्य विषय लौकिकी भाषासे समझा रहे हैं। पूर्वकथित रथीके निमित्त इन्द्रिय-समूह रथ खींचनेके घोड़े हैं और विषय-समूह घोड़ेके दौड़नेके

लिये भूमि हैं। शरीर, इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्मा भोक्ता कहाता है। तात्पर्य्य यह है कि, आत्मा इन उपाधियोसे युक्त होकर भोक्ता दिखाई देता है और पूर्वकथित विज्ञानके अनुसार कर्म-संग्रह करनेवाला बनता है ॥ ५८ ॥ ४ ॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५९॥५॥

यः तु (पुनः) अयुक्तेन (असमाहितेन) मनसा (युक्तः सन्) सदा अविज्ञानवान् (प्रवृत्ति-निवृत्ति विषये विवेकहीनः) भवति ; सारथेः दुष्टाश्वा इव तस्य इन्द्रियाणि अवश्यानि (उन्मार्गगामीनि) (भवन्ति) ॥५९॥५॥

मन्त्रार्थ ।

जो सर्वदा विवेकहीन और असंयत मनोयुक्त होता है, सारथिके दुष्ट घोड़ोंकी तरह इन्द्रियाँ भी उसके वशमें नहीं रहती हैं ॥ ५९ ॥ ५ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

तत्रैवं सति यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिः अविज्ञानवान् अनिपुणोऽविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति ; यथेतरो रथचर्य्यायां अयुक्तेन अप्रगृहीतेन असमाहितेन मनसा प्रग्रहस्थानीयेन सदा युक्तो भवति, तस्य अकुशलस्य बुद्धिसारथेरिन्द्रियाणि अश्वस्थानीयानि अवश्यानि अशक्यनिवारणानि दुष्टाश्वा अदान्ताश्वा इव इतरसारथे र्भवन्ति ॥ ५९ ॥ ५॥

भाष्यानुवाद ।

ऐसा होनेपर जो 'बुद्धि' नामक सारथि, रथ-चालनमें नियुक्त

अन्यान्य सारथिकी तरह अविज्ञानवान् निपुणता-रहित अर्थात् प्रवृत्ति निवृत्ति-विषयमें विवेकहीन होता है और अयुक्त अर्थात् असंयत या एकाग्रता-हीन प्रग्रहस्थानीय मनके साथ सर्वदा युक्त होता है, अन्य सारथिके दुष्ट अथवा अशिक्षित अश्वोंकी तरह उस असावधान बुद्धिरूपी सारथिकी अश्वस्थानीय इन्द्रियां उसके अधीन नहीं रहती हैं अर्थात् वह उनको रोकनेमें असमर्थ होता है ॥ ५६ ॥ ५ ॥

टीका ।

मुमुक्षुके हितार्थ साधन-विघ्नोको दूर करनेके अभिप्रायसे विषयासक्तिकी अवस्था बताई जाती है । और इसी शुभनिमित्तसे पूर्वकथित लौकिकभाषासे सम्बन्ध मिलाकर उदाहरण द्वारा सावधान किया जाता है। जो मुमुक्षु असावधानतासे कार्य्य करनेवाला और अयुक्त मनवाला होता है अर्थात् जिसकी बुद्धि सावधान नहीं होती और मन ऊर्द्ध्वगामी न होकर इन्द्रियगामी रहता है उसकी दशा दुष्ट अश्ववाले सारथिकी तरह होती है । घोड़े जब अच्छी तरह सिखाये होते हैं, तब वे सारथिके इशारा-मात्रसे ठीक काम करते हैं, और जब घोड़े अच्छी तरह सिखाये नहीं होते और स्वभावसे हा दुष्ट होते हैं, तो वे सारथिको विवश कर देते हैं तथा रथको विपथमें ले जाते हैं और यहां तक कि तोड़-फोड़ डालते हैं । वस्तुतः प्रबल इन्द्रिय समूह स्वभावसे दुष्ट घोड़ेकी तरहह होते हैं। यदि मन बुद्धिके साथ आत्मामें

युक्त न रहे तो साधक अवश्य ही पतित हो जाता है और उसकी दशा साधारण बद्ध जीवकी तरह हो जाती है ॥ ५९॥५॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥६०॥६॥

यः तु सदा युक्तेन (विगृहीतेन) मनसा विज्ञानवान् भवति, तस्य इन्द्रियाणि, सारथेः सदश्वा (शिक्षिता अश्वाः) इव वश्यानि (भवन्ति)॥६०॥६॥

मन्त्रार्थ ।

जो सर्वदा समाहित मानस और विज्ञानवान् होता है, सारथिके शिक्षित अश्वोंकी तरह उसकी इन्द्रियां उसके अधीन रहती हैं ॥ ६० ॥ ६ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतः सारथिर्भवति विज्ञानवान् निपुणः विवेकवान् युक्तेन मनसा प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सदा तस्य अश्वस्थानीयानि इन्द्रियाणि प्रवर्त्तयितुं निवर्त्तयितुं वा शक्यानि वश्यानि दान्ताः सदश्वा इवेतरसारथेः ॥ ६० ॥ ६ ॥

भाष्यानुवाद ।

जो पुनः निपुण, विज्ञानवान् सदा संयतमना एवं समाहित चित्त रहता है, अन्य सारथिके शिक्षित सदश्वोंकी तरह अश्वस्थानीय उसकी इन्द्रियां वशमें रहती हैं। अर्थात् इच्छानुसार (उनको) चलाया या रोका जा सकता है ॥ ६० ॥ ६ ॥

टीका ।

दूसरे पक्षमें यदि मन बुद्धिके साथ आत्मामें युक्त रहता है,

तो उसकी दशा सुशिक्षित घोड़ेवाले सारथिकी होती है। जैसे सुशिक्षित घोड़ावाला सारथि रासके थोड़े इशारामात्रसे घोड़ोंको तेज चलाना, धीरे चलाना, सुमार्ग पर ले जाना, लक्ष्यस्थलपर पहुंचाना आदि कार्य्य सुगमतासे कर लेता है; उसी तरह जिसका मन बुद्धिसे युक्त रहता है और बुद्धि आत्मासे युक्त होकर आत्म-विज्ञानको प्राप्त करता है, वह जितेन्द्रिय पुरुष इन्द्रियोंसे काम लेता हुआ भी उनको अपने वशमें रख सकता है, और कदापि विपथगामी, पतित अथवा लक्ष्यच्युत नहीं होता है ॥६०॥६॥

यस्त्वविज्ञान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति सँ सारं चाधिगच्छति॥६१॥७॥

यः तु (पुनः) अविज्ञानवान् (विवेकहीनः) अमनस्कः (अवशीकृत-मनाः) सदा अशुचिः भवति; सः तत् (प्रसिद्धं) पदं न आप्नोति, संसारं अधिगच्छति च ॥ ६१ ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ।

जो पुनः विवेकहीन, असंयतमना और सर्वदा अपवित्र रहता है, वह उस पदको नहीं प्राप्त होता है, संसारको ही प्राप्त करता है ॥ ६१ ॥ ७ ॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

तत्र पूर्वोक्तस्याविज्ञानवतो बुद्धिसारथेरिदं फलमाह;—यस्तु अवि-ज्ञानवान् भवति, अमनस्कः अप्रगृहीतमनस्कः, स तत एव अशुचिः सदैव। न स रथी तत् पूर्वोक्तं अक्षरं यत् परं पदम् आप्नोति तेन सारथिना। न केवलं कैवल्यं नाप्नोति संसारञ्च जन्म-मरणलक्षणमधिगच्छति ॥६१॥७॥

भाष्यानुवाद ।

पूर्वोक्त अविज्ञानवान् बुद्धि—सारथिका फल कहते हैं,—जो अविज्ञानवान्—विवेकहीन, असंयतमना और उसी कारणसे सर्वदा अपवित्र रहता है, ऐसे सारथिके द्वारा वह रथी पूर्वोक्त अक्षर—संज्ञक परमपदको प्राप्त नहीं होता है। केवल वह पद नहीं प्राप्त होता है, इतना ही नहीं; (अधिकन्तु) जन्म-मरण-रूप संसारको भी प्राप्त करता है ॥ ६१ ॥ ७ ॥

टीका ।

शिष्यका लक्ष्य स्थिर रखनेके अभिप्रायसे जीवके बद्धदशा-के स्वरूपका दिग्दर्शन कराया जाता है । जो विवेकहीन होता है अर्थात् जिसकी बुद्धि युक्त नहीं रहती है, जो असंयतमना होता है, अर्थात् जिसका मन इन्द्रियोंमें फंसकर इन्द्रियवत् हो जाता है, और आचारहीन होता है अर्थात् धर्मसे विरुद्ध क्रिया-शील होकर सदा अशुचि रहता है, वह व्यक्ति उस निःश्रेयस-पदको कदापि प्राप्त नहीं करता है अर्थात् बद्धदशामें रहकर वारम्बार संसारको ही प्राप्त करता है ॥ ६१ ॥ ७ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥६२॥८॥

यः तु (पुनः) विज्ञानवान्, समनस्कः (युक्तमानसः) सदा शुचिश्च भवति, यस्मात् (पदात्) भूयः (पुनरपि) न जायते, सः तु तत् पदम् आप्नोति (लभते) ॥ ६२ ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ।

जो पुनः विज्ञान-सम्पन्न, समाहितचेता और सर्वदा शुचि (पवित्र) होता है, वह उस पदको प्राप्त करता है, जहांसे पुनर्बार जन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता है ॥ ६२ ॥ ८ ॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान् विज्ञानवत्सारथ्युपेतो रथी, विद्वानित्येतत्। युक्तमनाः समनस्का, स तत एव सदा शुचिः स तु तत् पदमाप्नोति। यस्मादाप्तात् पदात् अप्रच्युतः सन् भूयः पुन र्न जायते संसारे ॥ ६२ ॥ ८ ॥

भाष्यानुवाद।

किन्तु जो द्वितीय रथी विज्ञान–सम्पन्न सारथिसे युक्त अर्थात् विद्वान् समनस्क अर्थात् समाहितचित्त और उसी कारण सर्वदा शुचि होता है; वह उसपदको प्राप्त करता है, जिस प्राप्तपदसे विच्युत होकर (गिरकर) पुनः संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता है ॥ ६२ ॥ ८ ॥

टीका।

अब जिज्ञासुका लक्षण और लक्ष्य कह रहे हैं। जो विज्ञानवान् होता है अर्थात् जिसकी बुद्धि सावधान होकर सदा युक्त रहती है, जो समाहितचेता होता है, अर्थात् जिसका मन अधोगामी न होकर ऊर्द्ध्वगामी रहता है, और जो सर्वदा शुचि अर्थात् सदाचार-निरत होकर अन्तःशौच और वहिः शौचमें युक्त होता

है, वह श्रेष्ठ अधिकारी उस परमपदको प्राप्त करता है, जहांसे पुनरावृत्ति नहीं होती है ॥ ६२ ॥ ८ ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति-तद्विष्णोः परमं पदम्॥६३॥९॥

यः नरः विज्ञानसारथिः (विवेकसम्पन्ना बुद्धि सारथिः यस्य, सः) मनःप्रग्रहवान् (मन एव प्रग्रहः इन्द्रियाश्वसंयमनरज्जु यस्य, सः, (समाहितमना इत्यर्थः) । सः अध्वनः (संसारगतेः) पारं (अवसानं) विष्णोः (व्यापकस्य ब्रह्मणः) तत् (प्रसिद्धं) परमं पदं (स्थानं) आप्नोति (लभते) ॥ ६३ ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ ।

विवेकसम्पन्न बुद्धि जिसकी सारथि है, और मन जिसका इन्द्रियरूपी अश्वके संयमनका लगाम है, वह संसार-गतिकी पर्य्यवसान-रूप (समाप्ति) विष्णुके परमपदको प्राप्त करता है ॥ ६३ ॥ ९ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

किं तत्पदं इत्याह,—विज्ञानसारथिर्यस्तु यो विवेकबुद्धिसारथिः पूर्वोक्तो मनःप्रग्रहवान् प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सन् शुचिर्नरो विद्वान् सोऽध्वनः संसारगतेः पारं परमेव अधिगन्तव्यमित्येतत् , आप्नोति मुच्यते सर्व-संसारबन्धनैः । तद्विष्णोर्व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकृष्टं पदं स्थानं सतत्त्वमित्येतत् यदसौ आप्नोति विद्वान् ॥ ६३ ॥ ९ ॥

भाष्यानुवाद।

वह पद क्या है सो कहते हैं,—जो विज्ञान-सारथि अर्थात् विवेक-सम्पन्न बुद्धि जिसकी सारथि है, और पूर्वोक्त प्रग्रहवान् अर्थात् वशीकृत मन या समाहितचित्त एवं पवित्र है, ऐसा विद्वान् मनुष्य अध्वन अर्थात् संसारगतिका परपार—जो अवश्य प्राप्तव्य है, उसको प्राप्त करता है अर्थात् संसारके सब बन्धनों से विमुक्त हो जाता है। विष्णु—व्यापनशील ब्रह्मरूप वासुदेव संज्ञक परमात्माका जो परम अर्थात् श्रेष्ठपद-स्थान है, उसको यह विद्वान् व्यक्ति प्राप्त करता है॥ ६३॥ ९॥

टीका।

और भी कह रहे हैं। सत्त्वगुणके अवलम्बनसे ही विवेककी उत्पत्ति होती है। सत्त्वगुण वर्द्धक धर्म जब पूर्णविकाशको प्राप्त होता है, तब जिस प्रज्ञाका उदय होता है, उसको योग-शास्त्रमें ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। उस ऋतम्भराके अधि-कारीमें ही विवेकका पूर्णस्वरूप प्रकट रहता है। ऐसा ऋत-म्भरायुक्त विवेक-सम्पन्न अन्तःकरणमें विज्ञानका उदय रहता है। ऐसा विज्ञान जिस रथरूपी मनुष्यपिण्डका सारथि हो और मन इन्द्रियरूपी अश्वोंके संयमनका लगाम हो वह मनुष्य संसार गतिका पर्य्यावसानरूप विष्णुके परमपदको प्राप्त करता है। यह पहले ही दिखाया गया है,कि असंयमित इन्द्रियां जिसको होती हैं, वह कैसी अधोगतिको प्राप्त करता है। अतः इन्द्रियां अपने अधीन जब तक न हों, तब तक अन्तःकरण शान्त नहीं हो

सकता है, संयमित इन्द्रिय होकर शान्त मन हो, इसी अर्थको समझानेके लिये ही "मनः प्रग्रहवान्" पदका प्रयोग हुआ है। जब युक्त बुद्धिमें मन मिला रहे, तभी वह मन इन्द्रियोंको अपने अधीन रख सकता है। "तद्विष्णोः परमं पदम्" इदका स्वारस्य गंभीर विज्ञानसे युक्त है। सत्त्वगुणकी पूर्णता होने पर ही संसार-पथका परपार बुद्धि द्वारा दार्शनिक दृष्टिसे अनुभूत होता है। सत्त्वगुणके अधिष्ठातृपदका वाचक विष्णु हैं और सत्त्वगुणकी पूर्णताके परे ही स्वस्वरूपका अनुभव है, इसी कारण ब्रह्मपदके लिये 'विष्णुका परमपद' शब्द व्यवहृत हुआ है ॥६३॥९॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥६४॥१०॥

इन्द्रियेभ्यः अर्थाः (विषयाः) पराः (सूक्ष्माः) । अर्थेभ्यः (शब्दादिभ्यः) च (अपि) मनः (संकल्पविकल्पात्मकम्) परम् (सूक्ष्मम्) मनसः तु बुद्धिः परा । बुद्धेः महान् आत्मा परः (सूक्ष्मः) ॥६४॥१०॥

मन्त्रार्थ ।

इन्द्रियोंसे परे अर्थ है, अर्थसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है और महान् आत्मा बुद्धिसे भी परे है ॥ ६४ ॥ १० ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

अधुना यत् पदं गन्तव्यम्, तस्येन्द्रियाणि स्थूलान्यारभ्य सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण प्रत्यगात्मतयाऽधिगमः कर्त्तव्य इत्येवमर्थमिदमारभ्यते—स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि, तानि यैः अर्थैरात्मप्रकाशनाय आरब्धानि, तेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यः ते परा हि अर्थाः सूक्ष्मा महान्तश्च प्रत्यगात्मभूताश्च ।

तेभ्योऽप्यर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं महत् प्रत्यगात्मभूतञ्च मनः । मनःशब्द-वाच्यं मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मम् । संकल्प-विकल्पाद्यारम्भकत्वात् मनसोऽपि परा सूक्ष्मतरा महत्तरा प्रत्यगात्मभूता च बुद्धिः । बुद्धिशब्दवाच्यमध्यवसायाद्यारम्भकं भूतसूक्ष्मम् । बुद्धेरात्मा सर्वप्राणिबुद्धीनां प्रत्यगात्मभूतत्वादात्मा महान् सर्वमहत्त्वात् अव्यक्ताद् यत् प्रथमं जातं हैरण्यगर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं, महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते ॥ ६४ ॥ १० ॥

भाष्यानुवाद ।

अब जिस पद पर जाना है, स्थूल इन्द्रियोंसे प्रारम्भ करके सूक्ष्मतारतम्य-क्रमसे प्रत्यगात्मा रूपसे उसको जानना चाहिये, इसीका निर्देश करनेके लिये आरम्भ होता है । इन्द्रियां स्थूल हैं; जिन (शब्दादि) अर्थसमूहने (तन्मात्राओंने) अपनेको प्रकाशित करनेके लिये जिन इन्द्रियोंको उत्पन्न किया है, वे अर्थसमूह उन स्वकार्यरूप इन्द्रियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, अर्थात् सूक्ष्म, महत् और उनका प्रत्यगात्मस्वरूप है । उन अर्थोंकी अपेक्षा भी मन पर अर्थात् सूक्ष्म, महत् और प्रत्यगात्मभूत है । यहां 'मन शब्द' से मनका उत्पादक और संकल्प-विकल्पका प्रवर्त्तक भूतसूक्ष्म जानना चाहिये । मनसे परा—सूक्ष्मा महत्तरा और प्रत्यागात्मभूता बुद्धि है। बुद्धिको शब्दसे भी अध्यवसाय आदिका उत्पादक सूक्ष्मभूत समझना चाहिये । सब प्राणियोंकी बुद्धिका प्रत्यगात्मभूत होनेसे आत्मा और सबसे महान् होनेके कारण महान् अव्यक्तसे प्रथमोत्पन्न जो बोधाबोधरूप हिरण्यगर्भतत्त्व है, वह महान् आत्मा बुद्धिकी अपेक्षा भी पर कहाता है॥ ६४ ॥ १० ॥

टीका ।

अन्तःकरण जब किसी विषयको किसी ज्ञानेन्द्रियके द्वारा अनुभव करता है, तो वह मनकी सहायतासे विषय भावापन्न हो जाता है । यही विषयभावापन्न अवस्था ही जीवकी अविद्या ग्रसित बन्धन दशा है । परन्तु विद्याकी सहायतासे जब जिज्ञासु अपनी दृष्टिको अन्तर्मुख करता है, तब वह अनुभव कर सकता है कि, विषय समूह बिलकुल अलग है । विषयभोग उत्पन्न करने-वाली पाचों ज्ञानेन्द्रियां केवल यन्त्रमात्र हैं । इन्द्रियोंसे परे अर्थ हैं । पाचों ज्ञानेन्द्रिय जो स्थूल हैं, उनके उत्पादक पञ्च-सूक्ष्म तन्मात्राएं उन पाचोंसे परे स्थित हैं । कर्णेन्द्रियसे परे शब्द तन्मात्रा है, स्थूल त्वगेन्द्रियसे परे स्पर्श तन्मात्रा स्थित है, नेत्र इन्द्रियसे परे रूपतन्मात्रा स्थित है, रसनेन्द्रियसे परे रसतन्मात्रा स्थित है, और घ्राणेन्द्रियसे परे गन्धतन्मात्रा स्थित है । उसी प्रकार तत्त्वज्ञानकी सहायतासे यह अनुभव होगा कि मन इन पांचों तन्मात्राओंसे परे स्थित है । क्योंकि जब तक मन तन्मात्राओंकी सहायतासे इन्द्रियोंमें नहीं लगता है, तब तक विषय भोगकी समापत्ति होती ही नहीं है । मनसे परे बुद्धि स्थित है । क्योंकि अनुभवमें आता है कि, बुद्धि मनके भला बुरा होनेकी परीक्षा और उसकी क्रियाकी परीक्षा करती है । चेतनमय महान् आत्माका अनुभव बुद्धिसे परे होता है । बुद्धि ही तत्त्वज्ञानके बलसे और ज्ञानप्रदायिनी विद्यादेवीकी कृपासे यह अनुभव कर सकती है कि, सबका प्रकाशक सच्चिदानन्दमय

आत्मा सृष्टि प्रपञ्चसे परे अनुभव करने योग्य है ॥६४॥१०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परं किञ्चित्, सा काष्ठा सा परा गतिः ॥६५॥११॥

महतः अव्यक्तं (प्रधानं) परम् । अव्यक्तात् (प्रकृतेः) पुरुषः परः । (पुरुषापेक्षया) परं किञ्चित् न (अस्ति) सा काष्ठा (अवधिः) सा परा गति (आश्रयस्थानम्) ॥ ६५ ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ ।

महत्से अव्यक्त परे है, अव्यक्तसे पुरुष परे है । पुरुषसे परे कुछ नहीं हैं, वही चरमसीमा और अन्तिम गति है॥६५।११

शाङ्कर-भाष्यम् ।

महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं च अव्यक्तं सर्वस्य जगतो वीजभूतम् अव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्वकार्य्य-कारण-शक्ति-समाहाररूपम् अव्यक्ताव्याकृताकाशादि-नामवाच्यं परमात्मन्योतप्रोतभावेन समाश्रितं वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः । तस्माद् अव्यक्ताद् परः सूक्ष्मतरः सर्वकारण-कारणत्वात् प्रत्यगात्मत्वाच्च. महांश्च, अत एव पुरुषः सर्वपूरणात् । ततोऽन्यस्य परस्य प्रसङ्गं निवारयन्नाह—पुरुषात् न परं किञ्चिदिति । यस्मान्नास्ति पुरुषात् चिन्मात्रघनात् परं किञ्चिदपि वस्त्वन्तरम्, तस्मात् सूक्ष्मत्व-महत्त्व-प्रत्यगात्मत्वानां सा काष्ठा निष्ठा पर्य्यवसानम् । अत्र हि इन्द्रियेभ्य आरभ्य सूक्ष्मत्वादिपरिसमाप्तिः । अतएव च गन्तृणां सर्वगतिमतां संसारिणां सा परा प्रकृष्टा गतिः । "यद् गत्वा न निवर्त्तन्त" इति स्मृतेः ॥ ६५ ॥ ११ ॥

भाष्यानुवाद ।

अव्यक्त, महत्‌की अपेक्षा भी पर—सूक्ष्म, महत्तर प्रत्यगा-भूत, सर्वप्रकार कार्य्य-कारण-शक्तिकी समष्टिभूत, अव्यक्त, अव्याकृत और आकाशादि शब्द-वाच्य, तथा जिसप्रकार वट-बीजमें वट-वृक्षोत्पादिका शक्ति निहित रहती है, उसी प्रकार समस्त जगत्‌का बीजभूत और ओत-प्रोत भावसे परमात्मामें आश्रित हैं। समस्त कारणका भी कारणस्वरूप एवं प्रत्यगात्म-भूत होनेसे यह आत्मा पूर्वोक्त अव्यक्तकी अपेक्षा भी सूक्ष्मतर, महान् और सब पूरण करनेके हेतु "पुरुष" शब्दवाच्य है। उससे भी "पर" श्रेष्ठ किसी वस्तुका प्रसंग-निवारणके लिये कहते हैं कि—पुरुषकी अपेक्षा और कुछ "पर" नहीं है। क्योंकि केवल चिन्मयस्वरूप पुरुषकी अपेक्षा अन्य कोई "पर" वस्तु नहीं है। इस कारण वही सूक्ष्मत्व, महत्त्व और प्रत्यगात्मत्वका एकमात्र काष्ठा अथवा पर्य्यवसान स्थान है। इन्द्रियोंसे प्रारम्भ करके सूक्ष्मत्वादि धर्मकी यहां ही परिसमाप्ति हो जाती है; अत एव सर्वत्र गमनशील (आवागमनशील) संसारिगणके लिये वही (पुरुष ही) "परा" अर्थात् सर्वोत्तमा गति है। स्मृतिमें भी कहा है, "जहां जाकर पुनः लौटता नहीं (वही मेरा धाम है)।" ॥ ६५ ॥ ११ ॥

टीका ।

स्वस्वरूपकी उपलब्धि करानेके अभिप्रायसे बुद्धिके परेके अनु-स्तवोंको पष्ट किया जाता है। बुद्धितत्त्व ही महत्तत्त्व है। जब

तक बुद्धि सृष्टिकी ओर झुकी रहती है, वही अन्तःकरण भावापन्न मनका अनुभव करनेवाली अवस्था ही बुद्धि कहाती है। नहीं तो प्रकृतिका प्रथम परिणाम रूपी जो बुद्धिकी अवस्था है, वही चित्सत्ता प्रतिविम्बित महत्तत्त्व है। महत्तत्त्वसे परे अव्यक्तका अनुभव है। साम्यावस्था प्रकृति ही अव्यक्त शब्दवाच्य है। जो ब्रह्मशक्ति वैषम्यावस्थामें जगत् प्रसव करती है और लयोन्मुखिनी अवस्थामें जगत्के लय बीजको अपनेमें धारण करके साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाती है, वही अव्यक्त शब्दवाच्य है। अव्यक्तसे परे पुरुषका अनुभव है। पुरुषका अनुभव ही चरम अनुभव है। उसी अनुभवको स्वस्वरूपकी प्राप्ति कहते हैं। वही सबका पर्य्यावसान और सबकी परा गति अर्थात् आश्रय है॥ ६५ ॥ ११ ॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥६६॥१२॥

सर्वेषु भूतेषु (ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तेषु) गूढ़ (निहितः) एष आत्मा न प्रकाशते (स्वरूपतो न विभाति)॥ सूक्ष्मदर्शिभिः अग्र्यया सूक्ष्मया बुद्धया तु दृश्यते॥ ६६ ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ।

सर्वभूतोमें गूढ़ यह आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता। केवल सूक्ष्मदर्शीगण सूक्ष्मबुद्धिके अग्रभागसे उसका दर्शन करते हैं॥६६॥१२॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

ननु गतिश्चेदागत्याऽपि भवितव्यं, कथं "यस्माद् भूयो न जायते"

इति ? नैष दोषः । सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वात् अवगतिरेव गतिरित्युपचर्य्यते । प्रत्यगात्मत्वञ्च दर्शितम् इन्द्रिय-मनो-बुद्धिपरत्वेन । यो हि गन्ता, सोऽगतमप्रत्यगूरूपं पुरुषं गच्छति अनात्मभूतं, न विपर्य्ययेण । तथा च श्रुतिः—"अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः", इत्याद्या । तथा च दर्शयति प्रत्यगात्मत्वं सर्वस्य । एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्ब-पर्य्यन्तेषु भूतेषु गूढ़ः सम्वृतो दर्शनश्रवणादिकर्मा अविद्यामायाच्छन्नोऽत एव आत्मा न प्रकाशते आत्मत्वेन कस्यचित् । अहो अतिगम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा माया चेयं यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णाति, अनात्मानं देहेन्द्रियादिसंघातं आत्मनो दृश्यमान-मपि घटादिवदात्मत्वेन "अहममुष्य पुत्रः" इत्यनुच्यमानोऽपि गृह्णाति । नूनं परस्यैव मायया मोमुह्यमानः सर्वो लोकोऽयं बंभ्रमीति । तथा च स्मरणम्—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" इत्यादि ।

ननु विरुद्धमिदमुच्यते,—"मत्वा धीरो न शोचति" "न प्रकाशते" इति च । नैतदेवम् । असंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वात् न प्रकाशत इत्युक्तम् । दृश्यते तु संस्कृतया अग्र्यया अग्रमिवाग्र्या तया, एकाग्रतयोपेतया इत्ये-तत्, सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया । कैः ?—सूक्ष्मदर्शिभिः इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः" इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मतापारम्पर्य्यदर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनस्तैः सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैरित्येतत् ॥ ६६ ॥ १२ ॥

भाष्यानुवाद ।

प्रश्न होता है कि, यदि गति है, तो आगति (प्रत्या-गमन) भी होनी चाहिये । फिर "जिससे पुनर्वार जन्म नहीं होता है," यह कैसे सम्भव है ? इसमें दोष नहीं है । सब भूतों-

का प्रत्यगात्मारूपसे जो अवगति—ज्ञान है, उसीको गति कह कर उपचार या गौण प्रयोग किया गया है। इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिसे परे कहकर प्रत्यगात्मत्व भी (पहले हो) दिखाया गया है। जो गमन करता है, वह अप्रत्यक् रूपी अनात्मभूत पुरुषको ही प्राप्त करता है; स्वरूपको नहीं। यथा-श्रुतिमें—"पथसे पार जानेवाले गमनागमन रहित हो जाते हैं" उसी प्रकार यह श्रुति भी सब वस्तुका प्रत्यागात्मभाव प्रदर्शन कराती है कि,—यह पुरुष ब्रह्मादि-स्तम्बपर्य्यन्त सब भूतोंमें गूढ़—आवृत (छिपा हुआ) दर्शन-श्रवणादिके कार्य्योंके द्वारा और अविद्या एवं माया द्वारा समाच्छन्न है, इस कारण आत्मा "आत्मा" रूपसे किसीके निकट प्रतिभात नहीं होता। विचित्ररूपा यह माया भी अतिगम्भीर और दुरवगाह्या (अतिदुःखसे जानने योग्य) है। जिसके कारण सब प्राणी परमार्थतः परमात्मस्वरूप होकर भी और ऐसा समझाने पर भी "मैं परमात्मा हूं" यह समझ नहीं सकते हैं, तथा अनात्मा देहेन्द्रियादि-समष्टिको घटादिके समान आत्माका दृश्य होने पर भी अर्थात् आत्मासे पृथक् होने पर भी एवं (तुम अमुकका पुत्र हो ऐसा) विना उपदेश प्राप्त किए ही "मैं अमुकका पुत्र हूं" इस प्रकार आत्मारूपसे ग्रहण करता है। परमात्माकी ही माया द्वारा विमोहित होकर सब प्राणिमात्र (आवागमन चक्रमें) भटक रहे हैं। "मैं योग-माया द्वारा आवृत होकर, सबके निकट प्रत्यक्ष नहीं होता हूं" इत्यादि स्मृतिवाक्य इसका प्रमाण है।

शंका होती है कि, "धीर उसको जानकर शोक नहीं करता पुनः "वे प्रकाशित नहीं होते" ये दोनों वचन परस्पर विरुद्ध हैं? ऐसा नहीं है। असंस्कृत बुद्धिके लिये अगम्य होनेसे ही "न प्रकाशते" कहा गया है, किन्तु संस्कृत, अग्र-अग्रवर्त्तिनी श्रेष्ठ एकाग्रता-युक्त, एवं सूक्ष्म—सूक्ष्म-वस्तु ग्रहणमें समर्थ बुद्धि द्वारा वे देखे जाते हैं। कौन देखते हैं? सूक्ष्मदर्शी अर्थात् "इन्द्रियेभ्यः पराः ह्यर्थाः" इत्यादि श्रुतिकथित-नियमके अनुसार यथाक्रम सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम और सूक्ष्मतत्त्व देखनेका जिनका स्वभाव होता है, ऐसे सूक्ष्मदर्शी पण्डितगणके द्वारा देखे जाते हैं ॥ ६६ ॥ १२ ॥

टीका।

सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा सर्वव्यापक होने पर भी महाशक्ति महामायाके प्रभावसे साधारण जीवके निकट प्रकाशित नहीं होते हैं। प्राकृतिक पञ्चकोशोंसे आवृत रहनेके कारण और अविद्याके द्वारा ग्रसित रहनेके कारण साधारण जीवके निकट सर्वव्यापी होने पर भी आत्मा प्रकाशित नहीं होते। अज्ञानी जीवकी दृष्टि स्थूलपंचकोषोंमें आत्मबुद्धिसे फँसी रहनेके कारण उसके सन्मुख आत्माका विकाश नहीं होता है। जब भाग्यवान् साधक साधन द्वारा अपने वहिर्दृष्टिको अन्तर्मुख कर लेता है, तब क्रमशः उसमें अविद्याके तिरोभावके साथ ही साथ मल, विक्षेप और आवरणका नाश होते हुये उसमें तत्त्वज्ञानरूपी सूक्ष्मविचार शक्तिका उदय होता है, उस

समय पूर्वकथित मन्त्रोंके अनुसार 'नेति नेति' विचार द्वारा मुमुक्षुकी बुद्धि इन्द्रियोंसे हटकर तन्मात्राओंमें, तन्मात्राओंसे हटकर मनमें, मनसे हटकर महत्तत्त्वकी दशामें पहुंच कर पूर्ण निर्मल और शान्त हो जाती है। इसीको बुद्धिका अग्रभाग करके इस मन्त्रमें वर्णन किया है। तब वह सूक्ष्मदर्शी अपने प्रशान्त और निर्मल बुद्धिकी सहायतासे आत्माके स्वरूपका स्वानुभव प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है॥ ६६ ॥ १२ ॥

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्य यच्छेज्ज्ञाने आत्मनि।
ज्ञानमात्मनिमहतिनियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्तआत्मनि॥६७॥१३॥

प्राज्ञः (विवेकी जनः) वाक् (वाचं) मनसी (मनसि) यच्छेत (नियच्छेत्) तत् (मनः) ज्ञाने (प्रकाशस्वरूपे) आत्मनि (बुद्धौ) यच्छेत्। ज्ञानं (बुद्धिं) महति आत्मनि (महत्तत्त्वे) यच्छेत्। तत् (ज्ञानं च) शान्ते (विकाररहिते) आत्मनि (परमात्मनि) यच्छेत् ॥६७॥१३॥

मन्त्रार्थ।

विवेकी मनुष्य वागिन्द्रियको मनमें, मनको बुद्धिमें, बुद्धिको महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वको शान्त आत्मामें सयत करे॥६७॥१३॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

तत्प्रतिपत्त्युपायमाह,—यच्छेन्नियच्छेदुपसंहरेत् प्राज्ञो विवेकी। किम्? वाक्—वाचम्। वागत्रोपलक्षणार्था सर्वेषामिन्द्रियाणाम्। क्व? मनसी मनसीति च्छान्दसं दैर्ध्यम्। तच्च मनो यच्छेत् ज्ञाने प्रकाश-स्वरूपे बुद्धावात्मनि। बुद्धिर्हि मन आदिकरणानि आप्नोति, इत्यात्मा, प्रत्यक्तेषाम्। ज्ञानं बुद्धि-

ात्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत् । प्रथमजवत् स्वच्छस्वभावमात्मनो विज्ञानमापादयेदित्यर्थः । तञ्च महान्तमात्मान यच्छेत् शान्ते सर्वविशेष-प्रत्यस्तमितरूपेऽविक्रिये सर्वान्तरे सर्वबुद्धि-प्रत्ययसाक्षिणि मुख्ये आत्मनि ॥ ६७ ॥ १३ ॥

भाष्यानुवाद ।

पूर्वोक्त आत्मज्ञानका उपाय कहते हैं—प्राज्ञ अर्थात् विवेकी वाक् अर्थात् वागेन्द्रियको मनमें संयमित करे। यहां 'वाक्' शब्द सब इन्द्रियोंका बोधक है; "मनसी" यहाँ छन्दके प्रयोगके कारण दीर्घ हुआ है। इसको "मनसि" समझना चाहिये। उस मनको भी ज्ञान अर्थात् प्रकाश-स्वभाव बुद्धिरूपी आत्मामें नियमित करे। बुद्धि ही मनादि इन्द्रियसमूहको प्राप्त करती है, इस कारण बुद्धि इन्द्रियोंका प्रत्यगात्म-स्वरूप है। इस ज्ञान शब्द-वाच्य बुद्धिको प्रथमोत्पन्न महत्—महत्तत्त्वरूप आत्मामें नियोजित करे, अर्थात् अपने बुद्धि-विज्ञानको प्रथमजात महत्की तरह स्वच्छस्वभाव बनावे; और उस महत् आत्माको भी सर्वप्रकार विशेष-वर्जित, विकारशून्य, सबके अन्तरस्थ, सब बुद्धिका साक्षिरूप शान्तस्वरूप मुख्य आत्मामें नियोजित करे ॥ ६७ ॥ १३ ॥

टीका ।

भगवान् यम धर्मराज अब इस मन्त्रद्वारा राजयोग साधन-शैलीके अनुसार स्वस्वरूप उपलब्धिके उपयोगी साधन-शैलीका चरम सिद्धान्त वर्णन कर रहे हैं। कोई व्यक्ति विवेकी तभी

कहला सकता है,जब वह विषय-वैराग्ययुक्त होकर अपने इन्द्रियों-को अन्तर्मुख करनेमें समर्थ हुआ हो । ऐसा विवेकी पुरुष जब स्वरूप उपलब्धिके लिये प्रयत्नशील हो, तो सबसे पहले उसको अपनी वाक् शान्त करना उचित है । प्रथमतः वैराग्यवान् जितेन्द्रिय व्यक्ति होनेपरभी उसको अन्तर्मुख होनेके लिये प्राण-संयमनकी अपेक्षा रहती है और प्राण-संयमनके लिये वाक् संयमनकी अपेक्षा अन्ततक रहती है, इसको मानना ही पड़ेगा। वाक्शक्तिके साथ प्राणशक्तिका विलक्षण सम्बन्ध है, इसीकारण वैखरीआदि चतुर्विध क्रियासे वाक्शक्ति पूर्णताको प्राप्त होती है, यह बात प्राणकी अन्यक्रियाओंमें नहीं है । स्थूल जगत्-सम्बन्धीय यावत् कार्य्यमें वाक्शक्तिकी मन और शरीरको मिलानेकी क्रिया जगत्-प्रसिद्ध है। इसीकारण शारीरिक, वाचनिक, मानसिक भेद माने जाते हैं। और साधन-राज्यमें तो वाक्शक्तिका प्राधान्य सर्वोपरि है। वचन स्थूल वागिन्द्रिय द्वारा उच्चारित प्रणव, क्रमशः मनतक पहुंच कर मनको संयमित करता है और उसके बाद ध्वन्यात्मक ओङ्कारका उदय होता है। इन सब कारणोंसे यह सिद्ध होता है कि, वाक्को जबतक मनमें संयमित नहीं किया जायगा, तबतक न वृत्तिका निरोध होगा और न राजयोग-साधनकी भित्ति प्रतिष्ठित होगी। वाक्को मनमें संयमित करनेके साथ-ही-साथ प्राणमयकोषका लय मनमें हो जाता है। तब मनोमयकोषका अस्तित्व केवल रहता है और प्राणमय कोष तथा अन्नमयकोष

दोनों ही शक्तिहीन तथा मनोमयकोषसे विछिन्न हो जाते हैं। तदनन्तर जब मनका बुद्धिमें उपसंहार किया जाता है, तब स्वतः ही मनोमयकोष शक्तिहीन होकर विच्छिन्न हो जाता है। तद-नन्तर जब बुद्धि अपने तटस्थ गतिको छोड़कर एक तत्त्व भावापन्न हो शान्त हो जाती है, तब वह महत्तत्वकी अवस्था-में पहुंच जाती है। महत्तत्त्व ब्रह्मप्रकृतिकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अति-शुद्ध वह अवस्था है, जहां चिन्मय ब्रह्मका स्वरूप प्रतिफलित होता है। इस राजयोगकी अवस्थामें युक्त होनेपर उसका विज्ञान-मयकोष शक्तिहीन होकर विच्छिन्न हो जाता है। तब भाग्यवान् तत्त्वज्ञानी महापुरुष अपने आनन्दमयकोषको शक्तिहीन और विच्छिन्न करके अद्वैतभावमें स्थित होकर समुद्रमें आकाशपतित वारिविन्दुके समान लय होकर अद्वैत चिन्मय स्वरूपकी उप-लब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है ॥ ६७ ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत,
प्राप्य वरान् निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥६८॥१४॥

(हे मुमुक्षवः !) उत्तिष्ठत (नानाविधविषयचिन्तां हित्वा आत्म-ज्ञानोन्मुखा भवत) जाग्रत (मोह-निद्रां मुच्यत), वरान् (श्रेष्ठान् आचार्य्यान्) प्राप्य (आचार्य्यसमीपं गत्वा) निबोधत (नितरां बुध्य-ध्वम्)। निशिता (तीक्ष्णीकृता) दुरत्यया (दुःखेन अतिक्रमितुं शक्या)

क्षुरस्य (केशनिकृन्तनसाधनस्य) धारा (धारामिव, प्रान्तभागमिव) दुर्गं (दुःखेन गन्तुं शक्यं) तत् (तं) पथः (पन्थानं) कवयः (क्रान्तदर्शिनः) वदन्ति (कथयन्ति) ॥ ६८ ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ ।

उठो, जागो, श्रेष्ठ (गुरु) को प्राप्त करके सम्यक्‌रूपसे जानो। कविगण छुरेके तीक्ष्णधारके समान उस पथको दुर्गम—दुःखसे पार करनेयोग्य कहते हैं ॥ ६८ ॥ १४ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

एवं पुरुषे आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नाम-रूप-कर्मत्रयं यत् मिथ्याज्ञान विजृम्भितं क्रिया-कारक-फललक्षणं स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन, मरीच्युदक-रज्जु-सर्प-गगनमलानीव मरीचिरज्जु-गगनस्वरूपदर्शनेनैव स्वस्थः प्रशान्तात्मा कृतकृत्यो भवति यतः, अतस्तद्दर्शनार्थमनाद्यविद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत हे जन्तवः! आत्मज्ञानाभिमुखा भवत; जाग्रत अज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबीजभूतायाः क्षयं कुरुत । कथम्? प्राप्य उपगम्य वरान् प्रकृष्टान् आचार्य्यान् तद्विदः तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मानं "अहमस्मि" इति निबोधत अवगच्छत। नह्युपेक्षितव्यमिति श्रुतिरनुकम्पयाह मातृवत्, अतिसूक्ष्मबुद्धिविषयत्वाद् ज्ञेयस्य। किमिव सूक्ष्मबुद्धिरित्युच्यते—क्षुरस्य धारा अग्रं, निशिता तीक्ष्णीकृता दुरत्यया दुःखेन अत्ययो यस्याः सा दुरत्यया, यथा सा पद्भ्यां दुर्गमनीया, तथा दुर्गं दुःसम्पाद्यमित्येतत्, पथः पन्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं मार्गं कवयो मेधाविनो वदन्ति । ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वात् तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसम्पाद्यत्वं वदन्तीत्यभिप्रायः ॥ ६८ ॥ १४ ॥

भाष्यानुवाद ।

सूर्य-किरण, रस्सी और आकाशके यथार्थ स्वरूप-ज्ञानसे, सूर्यकिरणमें जल, रस्सीमें सर्प एवं आकाशमें मालिन्यरूपी भ्रम को दूर करनेके समान, अज्ञानसे उत्पन्न क्रिया, कारक और फलात्मक, नाम, रूप और कर्म, इन तीनोंको आत्माके यथार्थ ज्ञानके द्वारा आत्मामें विलीनकरके (साधक) प्रकृतिस्थ, प्रशान्त और कृतकृत्य होता है। अतएव हे अनादि अविद्या-निद्रामें सोए-हुए जीवगण! उस आत्मतत्त्वके दर्शनके लिये उठो अर्थात् आत्मज्ञानकी ओर आगे बढ़ो, जाग उठो, सब अनर्थोंकी बीजभूता भयानक मोह-निद्राका नाश करो। कैसे?—आत्मतत्त्वज्ञ श्रेष्ठ आचार्यके समीप जाकर, उनके उपदेश-गम्य सबके अन्तरमें विराजमान आत्माको "मैं ही वह आत्मा हूं" इसप्रकारसे उपलब्ध करो। इसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है, इसको श्रुति, माताकी तरह दयापूर्वक कहती है। क्योंकि वेदितव्य विषय अतिसूक्ष्म बुद्धिसे जानने योग्य है। किस तरह की सूक्ष्मबुद्धि? कहते हैं—निशित—धार चढ़ाई हुई, दुरत्यय अर्थात् अतिक्लेशसे जिसको अतिक्रम किया जाय, ऐसी छुरेकी धार जिस प्रकार पैरद्वारा दुर्गमनीय है, उसीप्रकार तत्त्व-ज्ञानरूपी मार्गको मेधाविगण दुर्गम अर्थात् दुःसम्पाद्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि, ज्ञातव्य विषय अतिसूक्ष्म होनेके कारण ही तद्विषयक ज्ञान सम्पादनको दुर्लभ कहते हैं॥ ६८॥ १४॥

टीका ।

उठो अर्थात् पुरुषार्थमें रत हो। जागो अर्थात् अविद्या-जनित निद्रासे जागो और परमपुरुषार्थमें लगो । केवल "उत्तिष्ठत" शब्दका प्रयोग न होकर 'जाग्रत' शब्दका प्रयोगभी इस मन्त्रमें हुआ है । इससे यहीं तात्पर्य्य है कि, परमपुरुषार्थ-रूपी निःश्रेयसपदकी प्राप्तिके लिये श्रेष्ठों अर्थात् गुरुओंका आश्रय लेकर उसको जानो। वह परमपुरुषार्थका पथ अतिदुर्गम है। जैसे तीक्ष्ण क्षुर (अस्तुरा) की धारा दुरत्यय है, उसीप्रकार स्वस्वरूप-उपलब्धि करनेका पथ भी अतिदुर्गम और दुरत्यय है। क्षुर अर्थात् अस्तुराकी धारसे तीक्ष्ण और किसी शस्त्रकी धार नहीं होती है। बेसम्हालसे अस्तुरा शरीरपर लगते ही शरीर तुरत कट जाता है, परन्तु सुकौशलपूर्ण क्रियाका उप-योग करनेसे अतिसुगमतासे शरीरके रोमराजि साफ होजाते हैं। जैसे भयानक क्षुरकी धार सुकौशल पूर्ण क्रियाद्वारा सुफल देती है, और अस्तुरेको चलानेमें अतिसावधानी तथा कौशल-की आवश्यकता होती है, परम पुरुषार्थमें रत मुमुक्षुको भी ऐसे ही अतिसावधानता और कौशलकी आवश्यकता होती है। चाहे मुमुक्षु आलस्य, प्रमादआदि त्याग करके उठकर खड़ा हो जाय, चाहे वैराग्यआदि तथा तटस्थ ज्ञान लाभ करके जाग भी जाय और श्रद्धापूर्वक सद्गुरुकी शरण भी ले लेवे तथा सद्गुरु कृपा करके उसको मुक्तिका मार्ग भी दिखा देवें, इतना होने पर भी मुक्ति-पथगामी जिज्ञासु पथिक यदि अति-

सावधान होकर उस दुर्गम मार्गमें न चलता हो, तो दुरत्यय बाधाएं उसको अवश्य ही पथभ्रष्ट कर देती हैं। प्रथम अवस्थामें लौकिक सिद्धियां, दूसरी दशामें अलौकिक ऐसी सिद्धियां मुक्ति-पथगामी पथिकको बहकाकर पथभ्रष्ट कर देती हैं। कर्मदशामें दम्भ, दर्प और अतिमानिता, उपासना-दशामें आलस्य, प्रमाद और गुप्त स्वार्थपरतादि पथिकका सर्वस्वनाश कर डालते हैं। लोकैषणा तो जन-समाजमें रहनेवाले पथिकको प्रति मुहूर्त प्रतारित करती है। पुत्रैषणा भी संन्यास-दशामें रूपान्तर धारण करती है और पथिककी बुद्धि उस समय अविद्या सन्ततिसे हटकर विद्या सन्ततिरूपी शिष्यमें फंसकर उसको मार्गभ्रष्ट कर देती है। दुर्दान्त, दुरत्यय, अतिप्रबल, अहङ्काररूपी शत्रुका भय तो मुक्तिभूमिमें पहुंचनेतक मुमुक्षुको बना रहता है। इसकारण तीक्ष्ण क्षुरकी धारका उदाहरण देकर मुमुक्षुको सावधान किया है॥ ६८॥ १४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्,
तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्,
निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥६९॥१५॥

यद् (ब्रह्म) अशब्दं (शब्दगुणहीनं), अस्पर्शं (स्पर्शगुणवर्जितम्), अरूपम् (अत एव न चक्षुर्गोचरम्) अव्ययं (निर्विकारं), तथा अरसं (रसगुणवर्जितं) नित्यं (जन्मनाशरहितं) अगन्धवत् (अतएव घ्राणेन्द्रियाविषयश्च) भवति। अनाद्यनन्तं (आद्यन्त-वर्जितं), महतः परं,

ध्रुवं (शश्वदेकप्रकारं) तं (आत्मानं) निचाय्य (विचार्य्य) मृत्युमुखात् (संसृतिबन्धात्) प्रमुच्यते, (प्रकर्षेण मुच्यते) ॥६९॥१५॥

मन्त्रार्थ ।

जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धवर्जित है, अनादि अनन्त, अव्यय, नित्य एवं महत्तत्वसे परे है, उस ध्रुव (सर्वदा एकरूप) (आत्मा) को अनुभव करके (मुमुक्षु) मृत्युके मुखसे विमुक्त होता है ॥ ६९ ॥ १५ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

तत् कथमतिसूक्ष्मत्वं ज्ञेयस्येति उच्यते,—स्थूला तावदियं मेदिनी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोपचिता सर्वेन्द्रियविषयभूता, तथा शरीरम्। तत्रैकैकगुणापकर्षेण गन्धादीनां सूक्ष्मत्व-महत्त्व-विशुद्धत्व-नित्यत्वादितारतम्यं दृष्टमेवादिषु यावदाकाशमिति ते गन्धादयः सर्व एव स्थूलत्वाद्विकाराः शब्दान्ता यत्र न सन्ति, किमु तस्य सूक्ष्मत्वादिनिरतिशयत्वं वक्तव्यमित्येतद्दर्शयति श्रुतिः,—अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् । एतद्व्याख्यातं ब्रह्माव्ययम् । यद्धि शब्दादिमत् , तद् व्येति, इदन्तु अशब्दादिमत्त्वात् अव्ययम्—न व्येति न क्षीयते, अत एव च नित्यं, यद्धि व्येति तदनित्यम् , इदन्तु न व्येति; अतो नित्यम् । इतश्च नित्यम्—अनादि अविद्यमान आदिः कारणमस्य, तदिदमनादि । यच्च आदिमत्, तत् कार्य्यत्वादनित्यं कारणे प्रलीयते,—यथा पृथिव्यादि । इदन्तु सर्वकारणत्वादकार्य्यम् ; अकार्य्यत्वान्नित्यं, न तस्य कारणमस्ति यस्मिन् लीयते । तथा अनन्तरम्—अविद्यमानोऽन्तः कार्य्यं यस्य, तदनन्तरम् । यथा कदल्यादेः

फलादिकार्य्योत्पादनेनाप्यनित्यत्वं दृष्टं, न च तथाप्यऽन्तवत्त्वं ब्रह्मणः, अतोऽपि नित्यम् । महतो महत्तत्त्वात् बुद्ध्याख्यात् परं विलक्षणं नित्यविज्ञप्तिस्वरूपत्वात्; सर्वसाक्षि हि सर्वभूतात्मत्वाद् ब्रह्म । उक्तं हि "एषु सर्वेषु भूतेषु" इत्यादि। ध्रुवञ्च कूटस्थं नित्यं, न पृथिव्यादिवदापेक्षिकं नित्यत्वम्। तदेवंभूतं ब्रह्म आत्मानं निचाय्य अवगम्य तं आत्मानं, मृत्युमुखात् मृत्युगोचरात् अविद्या-काम-कर्मलक्षणात् प्रमुच्यते वियुज्यते ॥ १९ ॥ १५ ॥

भाष्यानुवाद ।

उस ज्ञातव्यकी इतनी सूक्ष्मता क्यों है सो कहते हैं,—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-गुणसे युक्त यह पृथिवी सब इन्द्रियों का विषय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है, शरीर भी ठीक उसीप्रकार है । जलसे लेकर आकाशतक चारों भूतोंमें गन्धादि गुणोंका एक-एक करके अभाव हो जानेसे सूक्ष्मत्व, महत्त्व, विशुद्धत्व और नित्यत्व आदि धर्मोंका तारतम्य देखा जाता है । अर्थात् पृथिवीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांचों तन्मात्राएं हैं, जलमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस हैं, अग्निमें शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन हैं, वायुमें शब्द और स्पर्श है, एवं आकाशमें केवल शब्द है । इसप्रकारसे क्रमशः एक दूसरेसे अधिक सूक्ष्म, अधिक महत्वयुक्त, अधिक विशुद्ध और अपेक्षाकृत अधिक नित्य होता है । अतएव स्थूल होनेके कारण विकारात्मक गन्धादि पंचतन्मात्रा जिसमें नहीं है, उसके अत्यन्त सूक्ष्मत्वादिके विषयमें कहना ही क्या है; श्रुति, "अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, नित्य, अगन्ध" इत्यादि कहकर इसी अर्थका प्रतिपादन करती है ।

यह व्याख्यात् (जिसके विषयमें व्याख्या की जा रही है) ब्रह्म अव्यय है, क्योंकि, जो शब्दादि गुण विशिष्ट है, वही विकारको प्राप्त होता है, किन्तु यह ब्रह्म शब्दादि गुणोसे रहित होनेके कारण अव्यय अर्थात् क्षय प्राप्त नहीं होता है। इसी कारण नित्य भी है। क्योंकि जो विकारको प्राप्त होता है, वही अनित्य भी होता है, यह विकारको प्राप्त नहीं होता, इसकारण नित्य है। नित्य होनेसे वह अनादि है, जिसका आदि कारण नहीं है, वह अनादि है, जिसकी आदि है, वह कार्य्य है, कार्य्य होनेसे अनित्य है, अनित्य पदार्थमात्र ही कारणमें विलीन हो जाता है, यथा पृथिवी आदि। किन्तु ब्रह्म सबका कारण होनेसे अकार्य्य है, अकार्य्य होनेसे नित्य है, उसका ऐसा कोई कारण नहीं है, जिसमें विलीन हो सके। उसीप्रकार अनन्त है, जिसका अन्त अथवा विनाश नहीं है, वह अनन्त है। जिस प्रकार केलाआदिके वृक्षोंका फलोत्पादनके बाद विनाश देखा जाता है, ब्रह्मका उस प्रकारका अन्त नहीं है, इसकारणभी नित्य है। ब्रह्म महत् अर्थात् महत्तत्त्वके भी परे अर्थात् विलक्षण है। क्योकि वह नित्य ज्ञानस्वरूप है। वह सर्वभूतोका आत्मा होनेसे सबका साक्षी है। "सर्वभूतोंमें गूढ़ यह आत्मा" इत्यादि वाक्यमें भी यह प्रतिपन्न हुआ है। ध्रुव अर्थात् कूटस्थ नित्य है, पृथिव्यादिकी तरह उसकी नित्यता आपेक्षिक नहीं है। ऐसे ब्रह्मस्वरूप आत्माको जानकर मृत्युमुखरूपी अविद्या, काम और कर्मसे विमुक्त होजाता है॥ ६४॥१५॥

टीका ।

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पाचों तन्मात्राएं पाचों ज्ञानेन्द्रियोंका कारणरूप हैं । इनका अनुभव आत्माकी चित्सत्ताद्वारा होता है; इसकारण इन पाचोंसे आत्मा परे है, इस सिद्धान्तमें किसीका मतभेद ही नहीं होसकता है। प्रकृति त्रिगुणमयी होनेसे परिणामिनी है। आत्मा प्रकृतिसे परे होनेके कारण अपरिणामी और अव्यय है, यह निश्चित ही है। जो अपरिणामी और सबका कारण है, उसका नित्यत्वभी निश्चित है । जो नित्य है, सो अनादि भी है । विशेषतः अकार्य्य होनेसे आत्माकी नित्यताके विषयमें सन्देह ही नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा सबका कारण है, उसका कारण कोई नहीं है। अपरिणामी होनेसे, नित्य होनेसे और अविनाशी होनेसे आत्मा की अनन्तता स्वतःसिद्ध है । महत्तत्त्व जो सब प्रपञ्चका कारण है, उससे परे और कूटस्थरूपसे विद्यमान रहने हैं, ऐसे परम-ब्रह्मको स्वानुभवसे प्राप्त करके आत्मज्ञानी मृत्युमुखसे विमुक्त हो जाता है । वस्तुतः आवागमनचक्रकी सन्धिको मृत्यु कहते हैं, आवागमनचक्र ही जीवकी बन्धन-दशाको स्थायी रखता है । स्वस्वरूपकी उपलब्धि होते ही जीव शिव हो जाता है और आवागमनचक्रके बन्धनसे मुक्त होकर निःश्रेयसपदको प्राप्त हो जाता है, यही मृत्युमुखसे मुक्त होनेका तात्पर्य्य है॥६९॥१५॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तँ सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥७०॥१६॥

मेधावी (बुद्धिमान्) मृत्युप्रोक्तं (यमेन कथितं) सनातनं (चिरंतनं) नाचिकेतं (नचिकेतः सम्बन्धी) उपाख्यानं उक्त्वा (जिज्ञासवे व्याख्याय) (स्वयं) च श्रुत्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ ७० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ ।

बुद्धिमान् व्यक्ति, यमके द्वारा कथित नचिकेता-सम्बन्धीय इस सनातन उपाख्यानको दूसरेको कह और स्वयं सुनकर ब्रह्म-लोकमें पूजित होता है ॥ ७० ॥ १६ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

प्रस्तुतविज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुतिः—नाचिकेतं नचिकेतसा प्राप्तं नाचिकेतसं, मृत्युना प्रोक्तं मृत्युप्रोक्तं इदमुपाख्यानमाख्यानं वल्लीत्रयलक्षणं सनातनं चिरन्तनं वैदिकत्वात्, उक्त्वा ब्राह्मणेभ्यः, श्रुत्वा च आचार्य्येभ्यः मेधावी, ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन् ब्रह्मलोके महीयते आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यर्थः ॥ ७० ॥ १६ ॥

भाष्यानुवाद ।

वर्णन किये हुये विज्ञानकी प्रशंसाके लिये श्रुति कहती हैं,—नाचिकेत अर्थात् नचिकेताद्वारा प्राप्त, मृत्युद्वाराकथित वैदिकहोनेसे सनातन—चिरन्तन वल्लीत्रयरूप इस उपाख्यान को ब्राह्मणोंको कहकर और आचार्य्यद्वारा स्वयं सुनकर मेधावी व्यक्ति ब्रह्मस्वरूप ब्रह्मलोकमें आत्मस्वरूप होकर पूजित होता है ॥ ७० ॥ १६ ॥

टीका ।

अब मन्त्रोंकी शक्तिके अनुसार फलश्रुति कही जाती है ।

यदि मेधावी अर्थात् उन्नतवुद्धि-सम्पन्न तत्त्वज्ञानी, भगवान् यमधर्मराज और महात्मा नचिकेता-सम्बन्धीय इस सनातन उपाख्याको कहे, अथवा सुने, तो वह ब्रह्मलोकमें पूजित होता है। धर्माधर्मके फलदाता भगवान् यम धर्मराज जिस विषयके वक्ता हैं, और नचिकेता जैसे महात्मा जिसके जिज्ञासु हैं. एवं जिस उपाख्यानमें अध्यात्म, अधिदैव ज्ञानका पूर्ण विवरण है, ऐसे मन्त्रोंकी चर्चा जो तत्त्वज्ञानी करे, अथवा सुने, वह अवश्य ही आध्यात्मिक उन्नतिकी उन्नत कक्षाको प्राप्त होगा, इसमें सन्देह ही क्या है। ऐसा महदात्मा सब उन्नत लोकोंमें पूजित होगा इसमें भी सन्देह नहीं है। क्योंकि ज्ञानीकी पूजा उन्नत लोकोमें अवश्य ही होती है। जो उन्नत लोकसमूह ब्रह्मके अभिमुख करते हैं, वे सब लोक ब्रह्मलोक कहाते हैं। वेद सनातन है, इसकारण यह उपाख्यान भी सनातन है ॥ ७० ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ॥
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ ७१ ॥ १७ ॥

इति कठोपनिषदि प्रथमाध्याये तृतीयावल्ली समाप्ता ॥ ३ ॥

यः (जनः) प्रयतः (संयतचित्तः सन्) परमं (प्रकृष्टं) गुह्यं (गोप्यं) इमं (उपाख्यानं) ब्रह्मसंसदि (ब्राह्मण-सभायां) श्राद्धकाले वा श्रावयेत्, तत् (श्रावणं) आनन्त्याय (अनन्तफलोत्पत्तये) कल्पते (सम्पद्यते) ॥ ७१ ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ ।

जो कोई संयतचित्त होकर इस परम गोपनीय (उपाख्यान) को ब्राह्मण-सभामें अथवा श्राद्धकालमें श्रवण कराता है, उसको इससे अनन्त-फलकी प्राप्ति होती है ॥ ७१ ॥ १७ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं श्रावयेत्, ग्रन्थतोऽर्थतश्च ब्राह्मणानां संसदि, ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा, श्राद्धकाले वा श्रावयेत्, भुञ्जानानां तत् श्राद्धं, अस्य आनन्त्याय अनन्तफलाय कल्पते सम्पद्यते । द्विर्वचनमध्याय-परिसमाप्त्यर्थम् ॥ ७१ ॥ १७ ॥

॥ इति कठोपनिषदि प्रथमाध्याये तृतीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥

भाष्यानुवाद ।

जो कोई पवित्र होकर परमश्रेष्ठ और गोपनीय यह ग्रन्थ एवं ग्रन्थार्थ ब्राह्मण-सभामें या श्राद्ध-समयमें भोजन करनेवालों-को सुनाता है, उसको इस श्राद्धसे अनन्त फलकी प्राप्ति होती है । मन्त्रमें द्विरुक्ति अध्यायकी समाप्ति-सूचक है ॥७१॥१७॥

इति कठोपनिषद्के प्रथम अध्यायके तृतीय
वल्लीका भाष्यानुवाद समाप्त ।

टीका ।

पहले मन्त्रमें अलौकिक फल-श्रुतिका वर्णन था, अब इस मन्त्रमें लौकिक फलश्रुतिका वर्णन है । पहला मन्त्र मुमुक्षु तथा तत्त्वज्ञानीके उपकारार्थ है और यह मन्त्र वेदपाठी, श्राद्ध तथा

ब्राह्मणोके उपकारार्थ है। जो तत्त्व-ज्ञानी होंगे, उनको तो पूर्व मन्त्रके अनुसार फल होगा ही, परन्तु केवल वेदपाठी तथा परलोकगामी आत्मा, जिसका श्राद्ध होता हो, तथा ब्राह्मण-सभामें उपस्थित ब्राह्मण मण्डलीको भी अनन्त फलकी प्राप्ति होती है। वेदपाठी विप्र अपने वेदपाठका उपयोग केवल इन दोनो अवसरों पर करें तो, उसको यथेष्ट पुण्य तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी प्राप्ति होती है। परलोकगामी आत्माकी तीन प्रकार-मेंसे किसी एक प्रकारकी गति होना निश्चित है। या तो उसको प्रेतलोककी प्राप्ति होगी, अथवा नरकलोककी प्राप्ति होगी अथवा पितृलोक या स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी। शास्त्रोक्त श्राद्ध-क्रिया-द्वारा इन तीनों अवस्थाओंमें परलोकगामी आत्माको तत्तल्लो-कोपयोगी सहायताकी प्राप्ति होती है और ऐसे सुअवसर पर परलोकगामी आत्माका श्राद्धमें उपस्थित रहना अथवा श्राद्ध-पीठके द्वारा सम्बन्ध स्थापित करना निश्चित है। प्राणमयकोष और मनोमय कोषकी असाधारण शक्ति और व्यापकत्व ही इसका कारण है। इसीकारण श्राद्धविज्ञान अखण्डनीय और अकाट्य है। ऐसे शुभ समयमें यदि धर्माधर्मके फलदाता भगवान् यम धर्मराजका स्मरण और उनकी महिमा-कीर्तन-संवलित इन मन्त्रोंका उच्चारण होगा, तो उसके श्रवणसे पर-लोकगामी आत्माकी तृप्ति और अध्यात्मिक उन्नति होना अव-श्यम्भावी है। और ऐसे असहाय जीवको सहायता पहुंचानेसे वेदपाठी विप्र अवश्य ही अनन्तपुण्यके अधिकारी हो सकते हैं

इसमें सन्देह ही क्या है। दूसरीओर ब्राह्मणसभामें विद्वान्, शास्त्रज्ञ, वेदपाठी, वेदज्ञ, तत्त्वज्ञ और ब्रह्मज्ञ,सब प्रकारके ब्राह्मणोंका उपस्थित रहना सम्भव ही है। अतः त्रिलोक-पवित्रकारी तथा जगद्गुरु ब्राह्मण-मण्डलीमें यदि भगवान् यम धर्मराज और अलौकिक दैवीशक्ति-सम्पन्न महात्मा नचिकेताके सम्वाद-रूपी अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत भावपूर्ण, परमरम्य, अतिमधुर और सर्वलोक-हितकारी इस उपनिषद्को सुनाया जाय तो उपस्थित ब्राह्मणसभाके सभ्योंको उनके यथायोग्य अधिकारके अनुसार वेदपाठी विप्र उनके अभ्युदय और निःश्रेयसका कारण अवश्य ही बनता है। और इस परम पुण्यमय ब्रह्मयज्ञद्वारा अनन्त पुण्य प्राप्त करता है॥ ७१॥ १७॥

कठोपनिषद्के प्रथम अध्यायके तृतीय वल्लीकी टीका समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः ।

प्रथमा वल्ली ।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ ७२ ॥ १ ॥

स्वयम्भू (स्वयमेव भवतीति स्वतन्त्रः परमेश्वरः), खानि (इन्द्रियाणि) पराञ्चि (परागि वाह्यवस्तूनि अञ्चन्ति गच्छन्ति इति, पराङ्मुखानि) व्यतृणत् । तस्मात् (कारणात्) पराङ् (वाह्यविषयान्) पश्यति । अन्तरात्मन् (अन्तरात्मानम्) न (पश्यति) । कश्चित् (कश्चिदेव) धीरः अमृतत्त्वं (निःश्रेयसं) इच्छन् आवृत्तचक्षुः (सर्वविषयेभ्यः प्रत्याहृत-सर्वेन्द्रियः सन्) प्रत्यगात्मानम् (ब्रह्मस्वरूपम्) ऐक्षत (पश्यतीति) ॥ ७२ ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ ।

स्वयम्भू अर्थात् स्वतन्त्र परमेश्वरने वहिर्गामी इन्द्रियोंकी हिंसा-की अर्थात् जड़ वना दिया इसकारण (जीव) वाहरकी ओर ही देखता है, अन्तरात्माको नहीं। कोई कोई धीर अमृतत्त्वकी इच्छासे

आंख मींचकर अर्थात् इन्द्रियोसे उपराम होकर प्रत्यागात्माका दर्शन करता है ॥ ७२ ॥ १ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धा" इत्युक्तम् । कः पुनः प्रतिबन्धोऽग्र्याया बुद्धेः, येन तदाभावादात्मा न दृश्यते? इति तद्दर्शनकारणप्रदर्शनार्था वल्ली आरभ्यते । विज्ञाते हि श्रेयःप्रतिबन्धकारणे तदपनयनाय यत्न आरब्धुं शक्यते नान्यथेति ।

पराञ्चि पराक् अञ्चन्ति गच्छन्तीति खानि तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि खानि इत्युच्यन्ते । तानि पराञ्च्येव शब्दादिविषयप्रकाशनाय प्रवर्त्तन्ते । यस्मादेवं स्वाभाविकानि तानि व्यतृणत् हिंसितवान् हननं कृतवानित्यर्थः । कोऽसौ ? स्वयम्भूः यः परमेश्वरः स्वयमेव स्वतन्त्रो भवति सर्वदा, न परतन्त्र इति । तस्मात् पराङ प्रत्यग्रूपान् अनात्मभूतान् शब्दादीन् पश्यति उपलभते उपलब्धा, न अन्तरात्मन्—न अन्तरात्मानमित्यर्थः । एवं स्वभावेऽपि सति लोकस्य, कश्चित् नद्याः प्रतिस्रोतः प्रवर्त्तनमिव धीरो धीमान् विवेकी प्रत्यगात्मानं प्रत्यक् चासावात्मा चेति प्रत्यगात्मा, प्रतीच्येवाऽऽत्मशब्दो रूढो लोके नान्यस्मिन् । व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तत्रैवाऽऽत्मशब्दो वर्त्तते,—"यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ।" इति आत्मशब्दव्युत्पत्तिस्मरणात् । तं प्रत्यगात्मानं स्वं स्वभावमैक्षदपश्यत् पश्यतीत्यर्थः, छन्दसि कालानियमात् । कथं पश्यति ? इत्युच्यते,—आवृत्तचक्षुः आवृत्तं व्यावृत्तं चक्षुः श्रोत्रादिकमिन्द्रियजातम् अशेषविषयाद् यस्य, स आवृत्तचक्षुः, स एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति; न हि बाह्यविषयालोचनपरत्वं प्रत्यगा-

त्मेक्षणञ्चैकस्य सम्भवतीति । किमर्थम् पुनरित्थं महता प्रयासेन स्वभाव-प्रवृत्तिनिरोधं कृत्वा धीरः प्रत्यगात्मानं पश्यतीति ? उच्यते,—अमृतत्वं अमरणधर्मत्वं नित्यस्वभावतामिच्छन् आत्मन इत्यर्थः ॥७२॥१॥

भाष्यानुवाद ।

पूर्व वल्लीमें कहा गया है कि, यह आत्मा सब भूतोंमें गूढ़ होनेपर भी (सबके निकट) प्रकाश नहीं पाता, किन्तु सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धिके द्वारा प्रत्यक्ष होता है। पुनः ऐसी बुद्धिका प्रतिबन्धक या बाधक क्या है, जिससे उस बुद्धिके अभावसे आत्मा दिखायी नहीं देता है ? इसी अदर्शनका कारण निरूपणके लिये यह वल्ली प्रारम्भ होती है। क्योंकि निःश्रेयसका प्रतिबन्धक कारण जाननेपर ही उसको दूर करनेका प्रयत्न किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

बाहरकीओर गमन करती हैं, इसकारण इन्द्रियोंको 'पराञ्चि' (पराक्) कहा गया है। यहां "खानि" शब्द सब इन्द्रियोंका द्योतक है, अतएव "खानि" शब्दसे श्रोत्रादि सब इन्द्रियोंको समझना चाहिये। वे इन्द्रियाँ शब्दादिविषयोंके प्रकाशनार्थ वहिर्मुख होकर ही प्रवृत्त हुआ करती हैं। इसप्रकार स्वभाव सम्पन्न इन्द्रियोंका हनन किया है। यह (हनन करनेवाला) कौन है ? स्वयम्भू—परमेश्वर, जो सर्वदा स्वतन्त्रभावसे रहते हैं, कभी परतन्त्र नहीं होते। इसकारण (जीव) पराक् अर्थात् वाह्य अनात्मभूत शब्दादि विषयोंको ही देखता है अर्थात् उपलब्धि करता है अन्तरात्माको नहीं। जनसाधारणका ऐसा

स्वभाव होनेपरभी कोई कोई धीर अर्थात् विवेकी व्यक्ति नदीके स्रोतको बदल देनेके समान (इन्द्रियोंकी बाहरी गतिको फेर-कर उसको अन्तर्मुख करके) प्रत्यक् स्वरूप आत्माका दर्शन करता है। छन्दमें कालका नियम न होनेसे यहां "अपश्यत्" का "पश्यति" समझना चाहिये अर्थात् "दर्शन किया है" की-जगह "करते हैं" ऐसा अर्थ करना ठीक है। कैसे दर्शन करते हैं? कहते हैं—आवृत्तचक्षु होकर अर्थात् जिन्होंने चक्षुआदि सब इन्द्रियोंको सब विषयोंसे समेट लिया या हटा लिया है, वे आवृत्तचक्षु इसप्रकार संस्कारसम्पन्न होकर प्रत्यगात्माका दर्शन करते हैं। क्योंकि एक ही व्यक्तिके लिये बाह्य विषयोंका संग और परमात्म-दर्शन सम्भव नहीं है। पुनः किसलिये ऐसे महान् उद्योगसे स्वाभाविक प्रवृत्तिका निरोध करके धीर व्यक्ति प्रत्यगात्माका दर्शन करते हैं; सो कहते हैं, अमृतत्व अर्थात् जिसमें मृत्युकी आशंका नहीं है, ऐसे अपने नित्यसिद्ध स्वभाव या स्वरूपकी प्राप्तिकी इच्छा-से। लोकव्यवहारमें आत्मा-शब्द प्रत्यक् (चैतन्य) अर्थ में ही प्रसिद्ध है, किसी दूसरे अर्थमें नहीं। अतएव "प्रत्यगा-त्मानं" पदसे प्रत्यक् स्वरूप "आत्मा" अर्थ ही समझना चाहिये इसके सिवाय यौगिक अर्थके अनुसार भी "आत्मा" शब्दसे "प्रत्यक्" अर्थ ही प्रतिपन्न होता है। यथा स्मृति—"जिस हेतु व्याप्त होता है, ग्रहण करता है, जगत्के विषयोंका भोग करता है, और इसकी सत्ता सर्वदा सन्तत अथवा अविच्छिन्न

भावसे विद्यमान है, इसकारण "आत्मा" नामसे कथित होता है। स्मृतिशास्त्रोक्त इस व्युत्पत्तिके अनुसार भी आत्मा शब्दका उपरोक्त व्यापक चैतन्य ही अर्थ होता है ॥७२॥१॥

टीका ।

सृष्टि-प्रपञ्चकी साधारण शैलीके अनुसार इन्द्रियोंका स्वरूप देखा जाय, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, इन्द्रियसमूह ही अन्तः-करणको खींचकर वाह्य विषयमें उसको लगाते हुए आत्मासे विमुख कर देती हैं। इन्द्रियोंके वलात्कारसे ही अन्तःकरणकी वृत्तियाँ वाहरकीओर फैल जाती हैं और विषयके सम्बन्धसे सम्बन्धित होकर आत्मा बन्धन-दशाको प्राप्त होता रहता है। इसकारण इन्द्रियाँ ही आत्म-विमुख करनेका कारण हैं; इन्द्रियाँ ही जीवको वहिर्मुख करती हैं और इन्द्रियाँ ही आत्माको आवृत करती हैं। इन्द्रियोंकी इस स्वभावसिद्ध अवस्थाको लक्ष्य करके ही इस मन्त्रमें 'व्यतृणत् स्वयम्भू' आदि पदका प्रयोग हुआ है। अब योगकी शैलीकी ओर लक्ष्य करा-कर यह मन्त्र कहता है कि, कोई-कोई धीर साधक इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर अन्तःकरणको प्रत्याहारकी सहायतासे अन्त-र्मुख करके आत्माको देखने अर्थात् अनुभव करनेमें समर्थ होते हैं। जीवकी साधारण दशा यह है कि, आत्मा अन्तःकरणमें प्रतिफलित होकर इन्द्रियोंकी सहायतासे वाह्य विषयोंमें लग विषयवत् होकर बन्धन-दशाको प्राप्त होता रहता है। यही-बद्ध जीवकी स्वाभाविक दशा है। परन्तु जो भाग्यवान् मुमुक्षु

श्रीगुरु-कृपासे वैराग्य और धृतिआदिसे अलंकृत होकर आत्म-ज्ञान लाभ करता है, वह प्रथम यम और नियमद्वारा वाह्य इन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियको वशीभूत करना सीखता है, आसनद्वारा शरीरमें धृति उत्पन्न करता है और प्राणायामद्वारा मनकी धृति उत्पन्न करता है। तदनन्तर धीरशब्द-वाच्य होकर कछुआ जैसे अपने अङ्गोंको भीतरको समेट लेता है, उसीप्रकार अपने इन्द्रियोंको पूर्णरूपसे समेटकर प्रत्याहारकी सिद्धिद्वारा अपनेको इन्द्रियोंके वलात्कारसे वचा लेता है। तदनन्तर धारणा-साधनद्वारा अन्तर्जगत्में ही अग्रसर होता है। तत्पश्चात् ध्यानद्वारा आत्मानुसन्धान करके समाधिके द्वारा स्वस्वरूपकी उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है ॥ ७२ ॥ १ ॥

पराचः कामाननुयन्ति वालाः,
ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा,
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ ७३ ॥ २ ॥

(ये) वालाः (अविवेकिनः) पराचः (वाह्यान्) कामान् (विपयान्) अनुयन्ति (अनुसरन्ति) ते विततस्य (वहुकालव्यापिनः) मृत्योः पाशं (वन्धं) यन्ति (प्राप्नुवन्ति) । अथ (तस्मात्) इह (लोके) धीराः (विवेकिनः) ध्रुवं अमृतत्वं (मोक्षं) विदित्वा (ज्ञात्वा) अध्रुवेषु (अस्थिरेषु विपयेषु) न प्रार्थयन्ते (किञ्चिदिति) ॥७॥२२॥

मन्त्रार्थ ।

वालकगण अर्थात् अज्ञानी वाह्य विपकोंका अनुसरण करते

हैं, वे अनन्तकालव्यापी मृत्युके पाशको प्राप्त होते हैं । इसकारण धीरगण ध्रुव अर्थात् नित्य सत्य मोक्षका स्वरूप जानकर इस अध्रुव जगत्के किसी अस्थायी विषयोंको प्रार्थना अर्थात् इच्छा नहीं करते हैं ॥ ७३ ॥ २ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यद् तावत् स्वाभाविकं परागेवानात्मदर्शनं, तदात्मदर्शनस्य प्रतिबन्धकारणमविद्या, तत्प्रतिकूलत्वात् या च पराक्षु एवाविद्योप्रदर्शितेषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु तृष्णा, ताभ्यामविद्या-तृष्णाभ्यां प्रतिबद्धात्मदर्शनाः पराचो बहिर्गतानेव कामान् काम्यान् विषयान् अनुयन्ति अनुगच्छन्ति वाला, अल्पप्रज्ञाः । ते तेन कारणेन मृत्योरविद्याकामकर्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य विस्तीर्णस्य सर्वतो व्याप्तस्य पाशं—पाश्यते बध्यते येन तं पाशं—देहेन्द्रियादिसंयोग-वियोगलक्षणम् अनवरतं जन्म-मरण-जरा-रोगाद्यनेकानर्थव्रातं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । यत एवम्, अथ तस्माद् धीरा विवेकिनः प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं अमृतत्वं ध्रुवं विदित्वा । देवाद्यमृतत्वं ह्यध्रुवम् इदन्तु प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं "न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान् ।" इतिश्रुतेः । तदेवम्भूतं कूटस्थं अविचाल्यम् अमृतत्वं विदित्वा अध्रुवेषु सर्वपदार्थेषु अनित्येषु निर्द्धार्य्य ब्राह्मणा इह संसारेऽनर्थप्राये न प्रार्थयन्ते किञ्चिदपि प्रत्यगात्मदर्शनप्रतिकूलत्वात् । पुत्रवित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्तिष्ठन्त्येवेत्यभिप्रायः ॥७३॥२॥

भाष्यानुवाद ।

स्वभावसिद्ध जो वाह्य अनात्म दर्शन है, आत्मदर्शनके प्रतिकूल होनेके कारण वही अविद्याशब्दवाच्य है । उसी अविद्या

एवं आत्मदर्शनके प्रतिकूल अविद्या-जन्य जो ऐहलौकिक तथा पारलौकिक वाह्य विषयोंमें भोग-तृष्णा है, इन दोनोंके द्वारा जो अल्पज्ञगण आत्मदृष्टिरहित होकर पराक् अर्थात् केवल वाह्य विषयोका अनुसरण करते हैं, वे विस्तीर्ण सर्वतो व्याप्त अविद्या, कामना और कर्मादिरूपी मृत्युके पाश अर्थात् जिसके द्वारा आवद्ध होता है, उस देहेन्द्रियादि-संयोग-वियोगात्मक पाशको प्राप्त होते हैं, अर्थात् निरन्तर जन्म जरा, मरण और रोगादि नानाप्रकारके अनर्थोंको प्राप्त होते हैं। इसीकारण विवेकीगण ब्रह्मात्मभावसे अवस्थानरूप अमृतत्त्वको ध्रुव जानकर, अर्थात् देवादिभाव-प्राप्तिरूप जो अमृतत्त्व है, वह अध्रुव-अस्थायी है, किन्तु ब्रह्मात्मरूपसे अवस्थानरूपी अमृतत्त्व ही ध्रुव अर्थात् स्थायी है। क्योंकि श्रुति कहती है—"वह कर्मद्वारा वृद्धि प्राप्त नहीं होता ह्रासभी नहीं प्राप्त होता है" ऐसे कूटस्थको जो सर्वदा एकला रहता है जानकर ब्राह्मणगण इस अनर्थवहुल संसारमें अनित्य सव वस्तुओंमेंसे किसीके लिये प्रार्थना नहीं करते हैं अर्थात् कुछभी इच्छा नहीं करते हैं। क्योंकि वे सभी परमात्मदर्शनके प्रतिकूल हैं। इस कारण वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा-सम्वन्धी सव कामनाओंका परित्याग कर देते हैं॥ ७३ ॥ २ ॥

टीका।

पञ्च कोषोंकी पूर्णता प्राप्त करके जव जीव पूर्णावयव होकर अपने पिण्डका अधीश्वर हो जाता है, तव वह चाहे मृत्युलोकमें

रहे चाहे देवलोकमें रहे, जबतक उसकी दृष्टि इन्द्रियोंमें फंसी रहती है और उसकी विषयासक्ति रहती है, तबतक वह ज्ञान-राज्यमें बालक है, इसमें सन्देह ही नहीं। चाहे मृत्युलोक हो चाहे देवलोक हो, चाहे इस लोकका दृष्ट सुख हो, चाहे देवलोक या असुर लोकका आनुश्रविक सुख हो, जब यह दृश्य-सृष्टि प्रपञ्च नाशवान् है, तो उसके सब प्रकारके सुखभी नाशवान् हैं, इसमें भी सन्देह नहीं। अतः जो ऐसे ज्ञानराज्यके बालक नाश-वान् वैषयिक सुखोंमें अपने आपको फँसाए रखते हैं, वे मृत्युके अतिविस्तीर्ण पाशमें चिरकालतक फंसे रहते हैं। मृत्युत्रिज्ञान-का भेद अवश्य समझने योग्य है। साधारणतः मृत्यु आवा-गमन चक्रकी उस सन्धिको कहते हैं, जिस सन्धिमें जीव अपने स्थूल शरीरको इसी मृत्युलोकमें छोड़कर अन्य लोकमें चला जाता है। उससमय उस जीवका अन्नमयकोषरूपी भोगायतन यहीं मृत्युलोकमें रह जाता है और अन्य चारों कोष अर्थात् प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमयकोषसे युक्त जीव लोकान्तरमें पहुँचकर वहांके सुख-दुःखभोगनेके लिये तत्-तत् लोकोपयोगी स्थूल शरीर प्राप्त कर लेता है। मृत्युलोकमें स्थूल शरीर-त्यागकी इसी अवस्थाको मृत्यु कहते हैं। यही आधि-भौतिक मृत्यु कहाती है। इसीप्रकार कुकर्म और पापाचरणके धक्केसे जब जीवका अन्तःकरण दुर्बल हो जाता है, यही कर्मा-घात-जनित मनके दुर्बल होनेकी जो अवस्था है, यही आधिदैविक मृत्यु है। और जीवके बुद्धिनाश होनेसे जो मृत्यु होती है, वही

उसकी आध्यात्मिक मृत्यु है। जैसाकि गीतोपनिषद्में कहा है-

बुद्धि नाशात् प्रणश्यति ॥

इसप्रकारसे ज्ञानराज्यमें बालक विषयासक्त जीव मृत्युके विभिन्न तथा विस्तीर्ण पासमें फंसा ही रहता है और उससे निकल नहीं सकता है। परन्तु जो भाग्यवान् धीर हैं, वे महापुरुष विषयकी अनित्यतासे वैराग्यद्वारा मुख मोर कर और ध्रुव मोक्षपदकी नित्यताको जानकर पूर्व मन्त्रमें कहे हुए साधनशैलीका अनुसरण करते हुए अन्तर्मुख होते हैं और इच्छा रहित होकर वासना-क्षयके साथ ही मनका विलय कर डालते हैं। यही अज्ञानी और ज्ञानीका भेद है ॥ ७३ ॥ २ ॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शाँश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते।
एतद्वैतत् ॥७४॥२॥

येन एतेनैव (ज्ञानस्वरूपेण आत्मना) रूपं, रसं गन्धं, शब्दान्, मैथुनान्, स्पर्शान् च विजानाति (विस्पष्टं जानाति लोकः) अत्र (आत्मनि) (ज्ञातव्यतया) किं परिशिष्यते? (न किञ्चिदपीत्यर्थः) एतत् वै तत् ॥७४॥२॥

मन्त्रार्थ।

जिस ज्ञानस्वरुप परमात्माके कारण रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शका मनुष्य अनुभव करता है, उसमें अर्थात् आत्मस्वरूपमें और क्या (ज्ञातव्य) अवशिष्ट रहता है? यह भी वही है ॥ ७४ ॥ २ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यद् विज्ञानात् न किञ्चिदन्यत् प्रार्थयन्ते ब्राह्मणाः, कथं तदधिगम इति ? उच्यते,—येन विज्ञानस्वभावेन आत्मना रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शान् च मैथुनान् मैथुननिमित्तान् सुखप्रत्ययान् विजानाति विस्पष्टं जानाति सर्वोलोकः। ननु नैवं प्रसिद्धिर्लोकस्य "आत्मना देहादिविलक्षणेनाहं विजानामि" इति ? देहादिसङ्घातोऽहं विजानामि" इति तु सर्वो लोकोऽवगच्छति। न त्वेवम्, देहादिसङ्घातस्यापि शब्दादिस्वरूपत्वाविशेषाद् विज्ञेयत्वविशेषाच्च न युक्तं विज्ञातृत्वम्। यदि हि देहादिसङ्घातो रूपाद्यात्मकः सन् रूपादीन् विजानीयात्, वाह्या अपि रूपादयोऽन्योन्यं स्वं स्वं रूपञ्च विजानीयुः; न चैतदस्ति। तस्मात् देहादिलक्षणांश्च रूपादीन् एतेनैव देहादिव्यतिरिक्तेनैव विज्ञानस्वभावेन आत्मना विजानाति लोकः। यथा, येन लोहो दहति, सोऽग्निरिति तद्वत्। आत्मनोऽविज्ञेयं किमत्र अस्मिन् लोके परिशिष्यते, न किञ्चित् परिशिष्यते। सर्वमेव त्वात्मना विज्ञेयम्। यस्याऽऽत्मनोऽविज्ञेयं न किञ्चित् परिशिष्यते, स आत्मा सर्वज्ञः। एतद्वै तत्। किं तत् ? यत् नचिकेतसा पृष्टं, देवादिभिरपि विचिकित्सितं, धर्मादिभ्योऽन्यद् विष्णोः परमं पदं, यस्मात् परं नास्ति, तद्वै एतदधिगतमित्यर्थः ॥७४॥३॥

भाष्यानुवाद ।

जिसको जानकर ब्राह्मणगण और कुछ प्रार्थना नहीं करते हैं, उसको कैसे प्राप्त किया जाय, सो कहते हैं—सब लोग इसी विज्ञानस्वरूप आत्माद्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और

सुखानुभूतिरूप मैथुनको स्पष्टरूपसे जानतेहैं। शंका होती है कि, "देहादिसे अतिरिक्त आत्माद्वारा जानता हूं" ऐसी लोकमें प्रसिद्धि नहीं है, "देहादिसंघातरूप मैं जानता हूं" ऐसा सबलोग समझते हैं। इसमें भी जिज्ञासा होती है कि, जब देहादिसंघातका शब्दादि विषयोंसे कुछ भी विलक्षणता नहीं है, और दोनोंके ज्ञानमें भी कुछ विशेषता नहीं है अर्थात् शब्दादि-विषयोंकी तरह देहादिसंघातभी अचेतन है, तब देहादिसंघात का भी ज्ञातृत्व युक्तिसंगत नहीं हो सकता है। और देहादि-संघात यदि रूपादिके अनुरूप होकरभी रूपादि विषयोको जान सकता है, तब तो स्वयं दृश्यरूपादि विषयभी परस्पर परस्पर-को जान सकते थे, परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता। अतएव देहेन्द्रियादि और शब्दादि विषयोंकोभी देहादिसे पृथक् इसी विज्ञानस्वरूप आत्माकी सहायतासे ही लोग जानते हैं। जैसे लोहा जिससे तप्त किया जाता है, उसीका नाम अग्नि है, यहां भी ऐसा ही समझना चाहिये। इस जगत्में ऐसा कौन पदार्थ है, जिसको आत्मा नहीं जानता हो? कुछ भी नहीं। आत्मा सब-को ही जानता है। जिस आत्माका न जाननेयोग्य कुछ अवशिष्ट नहीं है अर्थात् जिस आत्माको कुछ भी जानना बाकी नहीं है, वही आत्मा सर्वज्ञ है। यही वह है। वह क्या? नचिकेताद्वारा जिज्ञासित, देवादिका भी संशयका विषय और धर्मादिसे पृथक् विष्णुका परमपद तथा जिसकी अपेक्षा श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है, वही यह परिज्ञात वस्तु है ॥ ७४ ॥ ३ ॥

टीका।

कारण ब्रह्मके अस्तित्वसे ही कार्यब्रह्मका अस्तित्व है। आत्माकी चित्सत्तासे ही यावत् दृश्यप्रपञ्च अनुभूत होता है। सर्वप्रकाशक, सर्वज्ञ आत्माके द्वारा ही सबकुछ जाना जाता है। जीवमें चेतनसत्ता है, तभी उसकी इन्द्रियां सचेतन होकर विषयोंका अनुभव करती हैं। दर्शनेन्द्रियका रूप अनुभव, रसनेन्द्रियका रस अनुभव, घ्राणेन्द्रियका गन्ध अनुभव, श्रवणेन्द्रियका शब्दानुभव, त्वगेन्द्रियका स्पर्श अनुभव, मोह, प्रेम, स्नेहादि-जनित परस्पर संयोगजात सुखका अनुभव, आदि जितने अनुभव होते हैं, वे सब आत्माकी चित्सत्ताके कारण ही होते हैं। अतः आत्मासे ही वे सब जाने जाते हैं। यह वही अद्वितीय सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सच्चिदानन्दमय आत्मा है जिसकी जिज्ञासा गुरु-शिष्य-प्रसंगसे हो रही है ॥ ७४ ॥ ३ ॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ७५ ॥ ४ ॥

स्वप्नान्तं (स्वप्नदृश्यं) जागरितान्तं (जाग्रद्दृश्यं) च उभौ (स्वप्न-जागरितान्तौ) येन (आत्मना) अनुपश्यति, [तं] महान्तं विभुं आत्मानं मत्वा (विज्ञाय) धीरो न शोचति ॥ ७५ ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ।

स्वप्नावस्था और जाग्रत् अवस्था दोनों अवस्थाओंका विषय जिसके द्वारा देखा जाता है, उस महान् विभु आत्माको जान लेनेपर धीर व्यक्ति शोकको प्राप्त नहीं होता है ॥७५॥४॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

अतिसूक्ष्मत्वाद् दुर्विज्ञेयमिति मत्वा एतमेवार्थं पुनः पुनराह—स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यं स्वप्नविज्ञेयमित्यर्थः। तथा जागरितान्तं जागरितमध्यं जागरित-विज्ञेयं च, उभौ स्वप्न-जागरितान्तौ येनाऽऽत्मना अनुपश्यति लोक इति सर्वं पूर्ववत्। तं महान्तं विभुं आत्मानं मत्वा अवगम्य आत्मभावेन साक्षाद् "अहमस्मि परमात्मा" इति धीरो न शोचति ॥७५॥४॥

भाष्यानुवाद।

अतिसूक्ष्म और दुर्विज्ञेय जानकर यही विषय पुनः कह रहे हैं—स्वप्नान्त अर्थात् स्वप्नावस्थामें जाननेयोग्य, जागरितान्त अर्थात् जाग्रत् अवस्थामें जानने योग्य इन दोनो स्वप्नान्त और जागरितान्त विषयोको जिस आत्माके द्वारा देखता है अन्यान्य सब पूर्ववत् है। उस महान् विभु (व्यापक) आत्माको जानकर अर्थात् "मैं ही परमात्मस्वरूप हूं" इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार करके धीरव्यक्ति पुनः शोक नहीं करता है ॥ ७५ ॥ ४ ॥

टीका।

सृष्टिसे परे स्थित, मन, वचन एवं बुद्धिसे अतीत, केवल चिन्मय स्वरूप आत्माके स्वरूपकी उपलब्धि करानेका जब प्रयत्न किया जाता है, तो वह प्रयत्न एक प्रकारसे असाध्य-साधन है। जहां मन, वचन और बुद्धिकी तो बात ही क्या है, द्वैतभाव-मात्र रहनेसे जिस पदकी सिद्धि नहीं हो सकती और जो पद सृष्टिसे सर्वदा अतीत है, उस ब्रह्मपदकी उपलब्धि करानेके

लिये यदि शब्दोंका प्रयोग किया जाय, उसके लिये एकप्रकार से असाध्य-साधन है, इसमें सन्देह ही क्या है। परन्तु बुद्धिमें जब चिन्मय स्वरूपकी सत्ता प्रतिफलित है, तो शब्दकी सहायतासे बुद्धिको बार-बार आत्मोन्मुख करनेसे उन्नत अधिकारीको स्वरूप अनुभव करनेमें अवश्य सहायता मिलती है, इसमें सन्देह नहीं। इसकारण एक ही पदको नानाप्रकारसे समझानेकी शैली वेद और शास्त्रोंमें पायी जाती है। जीवकी तीन अवस्थाएं होती हैं, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। सुषुप्तिमें विषय-ज्ञानका सम्बन्ध न रहनेसे उसका नाम न लेकर केवल जाग्रत् और स्वप्न, इन दोनों अवस्थाओंका ही उल्लेख इस मन्त्रमें किया गया है। इन दोनों अवस्थाओंमें अन्तःकरणका सम्बन्ध विषयोंके साथ हुआ करता है। और विषय-भोगके उदाहरणसे आत्माका स्वानुभव ज्ञानीको कैसे हो सकता है सो पहले विशदरूपसे कहा ही गया है। सुतरां अब स्वप्न और जाग्रत् इन दोनोंके सम्बन्धसे कह रहे हैं कि, जिस आत्माके अस्तित्वसे ही स्वप्न और जाग्रत् अवस्थामें विषय-ज्ञान होता है, उस सच्चिदानन्दमय स्वरूपको जानकर धीर महापुरुष शोक-सागरसे पार पहुंच जाते हैं। उनमें शोककी छाया तकभी नहीं रहती है। यह भी वही आत्मा है ॥ ७५ ॥ ४ ॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूत-भव्यस्य न ततो विजुगुप्सते
एतद्वैतत् ॥ ७६ ॥ ५ ॥

यः इमं मध्वदं (कर्मफलभुजं) जीवं आत्मानं भूत-भव्यस्य (भूत-भाविनः) ईशानं (ईशितारं) अन्तिकात् (समीपे) वेद (जानाति) [सः] ततः (तद्विज्ञानात्) न विजुगुप्सते (न गोपायितुमिच्छति आत्मानं अन्यतो भयेन) एतद्वै तदिति पूर्ववत् ॥ ७६ ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ ।

कर्मफल भोक्ता जीव इस आत्माको जो भूत-भविष्यत्का ईश्वर तथा स्वसमीप जानता है, वह इस ज्ञानके फलसे आत्माको गोपन करनेकी इच्छा नहीं करता है । यह भी वही है॥७६॥५॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

किञ्च, यः कश्चिदिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादिकलापस्य धारयितारं आत्मानं वेद विजानाति, अन्तिकात् अन्तिके समीपे ईशानं ईशितारं भूतभव्यस्य कालत्रयस्य, ततः तद्विज्ञानादूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते—न गोपायितुमिच्छति अभयप्राप्तत्वात् । यावद्धि भयमध्यस्थोऽनित्यं आत्मानं मन्यते, तावद् गोपायितुमिच्छति आत्मानम् । यदा तु नित्यं अद्वैतं आत्मानं विजानाति तदा किं कः कुतो वा गोपायितुमिच्छेत् । एतद्वै तदिति पूर्ववत् ॥७६॥५॥

भाष्यानुवाद ।

और कहते हैं कि, जो व्यक्ति मध्वद अर्थात् कर्मफलभोक्ता और प्राणादिकोंका धारक जीवात्माको अपने समीप एवं भूत-भविष्यत् अर्थात् त्रिकालका ईश्वर जानता है, (वह) उस विज्ञानसे अभय प्राप्त होनेके कारण आत्माको छिपानेकी

इच्छा नहीं करता। जबतक (जीव) भयके भीतर रहकर आत्माको अनित्य समझता है, तभीतक आत्माको छिपानेकी इच्छा करता है। किन्तु जब नित्य अद्वैत आत्मतत्त्वको जान लेता है, तब कौन किसके निकट और क्यों छिपानेकी इच्छा करेगा? 'यह वही' इत्यादिकी व्याख्या पूर्ववत् ही है॥ ७६ ॥ ५ ॥

टीका।

जीवात्मा और परमात्मा दोनोंका अभेदत्व प्रतिपादनद्वारा स्वरूप उपलब्धि और साथ ही जुगुप्सारूपी पाशसे मुक्त करानेके लिये इस श्रुतिका उपदेश है। कर्म-फलभोक्ता जीवात्मा है। अन्तःकरणके साथ तद्भावापन्न अविद्या-उपहित चैतन्य ही शरीर और अन्तःकरणद्वारा किये हुए कर्मोंका फल भोगता है। वही जीवात्मा प्राणादिका धारक अर्थात् अधिपति होकर क्रियाशील होता है। तत्त्वज्ञानद्वारा जो महापुरुष इसप्रकारसे कर्म और कर्मफल तथा अविद्याजनित बन्धनके रहस्यको समझ जाते हैं, और यह भी अनुभव कर लेते हैं कि, वह परमात्मा अन्तःकरणमें व्याप्त होकर समीप ही है, वही भूत-भविष्यत्का द्रष्टा, ज्ञाता और ईश्वर है, वे विजुगुप्सारूपी पाशसे मुक्त हो जाते हैं। जीवके बन्धनके जितने लक्षण हैं, यथा—शोक, मोह, भय, जुगुप्साआदि, उनमेंसे जुगुप्सा और भयका बहुत निकट सम्बन्ध है। क्योंकि मान, अपमान, सुख-दुःखआदि द्वन्द्वके कारण ही अज्ञान-जनित सुखेच्छाके वश होकर भयभीत व्यक्ति जुगुप्साके द्वारा आत्म-गोपन करता है। स्व-

रूपकी उपलब्धि होने तथा अविद्या-जनित अज्ञान दूर हो जाने पर मुक्त पुरुष जब भयरहित हो जाता है, तब उसकी जुगुप्सा वृत्ति स्वयं ही नाशको प्राप्त हो जाती है। जिसके अनुभवसे यह निर्भयता प्राप्त होती है, यह भी वही है ॥ ७६ ॥ ५ ॥

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत। एतद्वै तत्॥७७॥६॥

यः (परमपुरुषः) पूर्वं (प्रथमं) तपसः जातम् (उत्पन्नं सत्) अद्भ्यः (पञ्चभूतेभ्यः) पूर्वं (अग्रे) अजायत। गुहां (सर्वप्राणिहृदयं) प्रविश्य तिष्ठन्तं, भूतेभिः (कार्य्य-कारणलक्षणैः सह तिष्ठन्तं) यः व्यपश्यत (पश्यति) एतत् वै तत् ॥ ७७ ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ।

पहले तपसे उत्पन्न जो (पुरुष) जलादिसे पहले उत्पन्न हुआ था, गुहामें प्रविष्ट और भूतोंके साथ विराजमान (उस पुरुषको) जो देखता है, यह भी वही है ॥ ७७॥६ ॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

यः प्रत्यगात्मा ईश्वरभावेन निर्दिष्टः, स सर्वात्मा, इत्येतत् दर्शयति, यः कश्चित् मुमुक्षुः पूर्वं प्रथमं तपसो ज्ञानादिलक्षणात् ब्रह्मण इत्येतज्जातमुत्पन्नं हिरण्यगर्भम्। किमपेक्ष्य पूर्वम्? इत्याह—अद्भ्यः पूर्वम्, अप्सहितेभ्यः पञ्चभूतेभ्यो न केवलाभ्योऽद्भ्य इत्यभिप्रायः। अजायत, उत्पन्नो यः तं प्रथमजं, देवादिशरीराणि उत्पाद्य सर्वप्राणिगुहां हृदयाकाशं प्रविश्य तिष्ठन्तं शब्दादीन् उपलभमानं, भूतेभिर्भूतैः कार्य्य-कारण-

लक्षणैः सह तिष्ठन्तं यो व्यपश्यत—यः पश्यतीत्येतत्। यः एवं पश्यति, एतदेव पश्यति—यत् तत् प्रकृतं ब्रह्म ॥ ७७ ॥ ६ ॥

भाष्यानुवाद।

पहले जिस प्रत्यगात्माका परमेश्वररूपसे निर्देश किया गया है, वही सर्वात्मा है, सो दिखाते हैं—पूर्व पहले तप अर्थात् ज्ञानादिमय ब्रह्मसे उत्पन्न, किसके पूर्व उत्पन्न? कहते हैं कि, जलके पूर्व अर्थात् जलादि पञ्चभूतोके पहले जिसने जन्म ग्रहण किया है और देवादिकोका शरीर उत्पन्न करके समस्त प्राणि-मात्रके गुहारूपी हृदयाकाशमें प्रविष्ट होकर जो अवस्थान कर रहा है, अर्थात् शब्दादिविषयोंका उपभोग कर रहा है, भूत अर्थात् कार्य्यकारणमय देहादिके साथ विद्यमान उस प्रथम जात हिरण्यगर्भका जो मुमुक्षु दर्शन करता है, वह वस्तुतः पूर्व कथित ब्रह्मका ही दर्शन करता है ॥ ७७ ॥ ६ ॥

टीका।

मन, वचन और बुद्धिसे अतीत तत्त्वातीत तत्त्वको शब्दद्वारा प्रकाशित करना असम्भव होनेसे बार-बार नानाप्रकारसे एक ही विषयको समझानेकी शैली वेदमें पायी जाती है। ब्रह्म सृष्टिसे परे, यावत् प्रपञ्चसे अतीत, और केवल स्वानुभवगोचर होनेसे विविधप्रकारसे उसको लक्ष्य करानेका प्रयत्न वेदोंमें हुआ है। जहां मन और वचनकी तो बात ही क्या है, सूक्ष्माति-सूक्ष्म तत्त्व बुद्धि भी नहीं पहुँच सकती; उस सर्वातीत परम तत्त्वको समझानेका उद्योग तभी यथासम्भव कार्य्यकारी हो

सकता है, जब नानाप्रकारसे और अनेकओरसे बुद्धिको प्रेरणा की जाय। बुद्धि उस तत्त्वातीत पदके निकट पहुंचकर अपने-आपको विद्याके चरणोंमें लय करे, एवं विद्या स्वयं आत्मामें लय होकर आत्म-स्वानुभवका उदय करावे। इस मन्त्रमें तप-शब्दसे ज्ञानमय तपकी पराकाष्ठाका सम्बन्ध दिखाया गया है। किसी विशेष शक्तिको आत्मोन्मुख करके संयमित करनेको तप कहते हैं। सब प्रकारके तपमें ज्ञानमय तप सर्वोपरि माना गया है। नाना प्रकारके विषयोंमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय-सम्बलित तटस्थ-ज्ञानके द्वारा आत्माकी प्रवृत्ति होती है। यही व्युत्थान दशा कहाती है। इस व्युत्थान दशामें अद्वैतस्थितिका नाश होकर स्वरूप-ज्ञानके अभावसे आत्मा विषयवत् हो जाता है और इस दशामें विषयाकार वृत्ति रहती है। ज्ञानमय तपके द्वारा प्रत्याहारकी सहायतासे ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेयरूपी त्रिपुटिके विलयसे जब स्वरूपज्ञानका उदय होता है, उसी दशामें आत्मा-का स्वानुभव होता है। इसीकारण तपसे उत्पन्न कहा गया है। 'अहं ममेतिवत्' ब्रह्मसे ब्रह्म-प्रकृति प्रकट होकर जलादि पञ्च-भूतोंकी सृष्टि करती है, इसकारण वह तत्त्वातीत तत्त्व अन्य तत्त्वोंसे पहले है, यह मानना ही पड़ेगा। बुद्धि-गुहामें आत्माके विकाशका कैसा सम्बन्ध है, सो पहले कई बार कहा जा चुका है। वह सर्वव्यापक आत्मा सब भूतोंमें विराजमान है, इसमें सन्देह ही नहीं है। इसप्रकारसे जो देखता है, वह भी उसी-को देखता है ॥ ७७ ॥ ६ ॥

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत। एतद्वै तत् ॥७८॥७॥

या देवतामयी (सर्वदेवतात्मिका) अदितिः प्राणेन (हिरण्यगर्भरूपेण) सम्भवति (अभिव्यज्यते। या (च) भूतेभिः (भूतैः सहिता) व्यजायत (उत्पन्ना) गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं (तां यः पश्यति) एतत् वै तत् ॥ ७८ ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ।

देवतामयी जो अदिति प्राणसे उत्पन्न भूतोंके साथ प्रकट हुई गुहामें प्रविष्ट होकर विराजमान उसको (जो देखता है) यह भी वही है ॥ ७८ ॥ ७ ॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

किंच, या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भरूपेण परस्माद् ब्रह्मणः सम्भवति, शब्दादीनां अदनात् अदितिः, तां पूर्ववद् गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीमदितिम्। तामेव विशिनष्टि,—या भूतेभिः भूतैः समन्विता व्यजायत—उत्पन्नेत्येतत् ॥ ७८ ॥ ७ ॥

भाष्यानुवाद।

सर्वदेवतात्मिका जो अदिति, प्राण अर्थात् हिरण्यगर्भरूपसे परब्रह्मसे सम्भूत होती है, शब्दादिविषयोंको भोग करती हैं, इसकारण उनको अदिति कहते हैं। पूर्वोक्त गुहामें प्रविष्ट होकर रहनेवाली उस अदितिको (जो जानते हैं)। उसीका विशेषरूपसे वर्णन करते हैं कि, जो भूतोंसे समन्वित होकर उत्पन्न हुई है ॥ ७८ ॥ ७ ॥

टीका ।

स्थूल और सूक्ष्ममें जो क्रिया-शक्तिरूपसे व्याप्त है, वही प्राण शब्द-वाच्य है। इसीकारण प्राणको सर्व-व्यापक कहा है और ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूपसे वर्णन किया है । क्योंकि भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् शिव प्राणकी सहायतासे ही अपना-अपना कार्य्य सम्पादन करते हैं । जो प्राण-शक्ति दैव-लोकसे सम्बन्ध रखती है और देवताओंको उत्पन्न करती है, उसीका नाम अदिति है । यही कारण है कि, पुराणोंमें देवताओंकी माताको अदिति और असुरोंकी माताको दिति कहा है। एक अद्वितीय परमात्मासे द्वैतप्रपञ्चमय यावत्-भूतसमूह उस ब्रह्मशक्तिके प्रभावसे प्रकट होते हैं और वही ब्रह्मशक्ति सबको उत्पन्न करती हुई सबमें अनुस्यूत रहती है। उसी ब्रह्मशक्तिकी चार अवस्थाएं कही गयी हैं । स्थूल-भूतोंमें वह तड़ित्शक्तिआदि नानारूपोमें जब रहती है, तो उसको स्थूलशक्ति कहते हैं । भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् शिवके साथ अर्द्धाङ्गिनीरूपसे रहकर जब वह सृष्टि-स्थिति-लयका यावत् कार्य्य करती है, तब उसीका सूक्ष्मशक्ति कहते हैं। वही ब्रह्मशक्ति जब सृष्टिके आदिमें ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपी त्रिमूर्त्तिको प्रसव करती है, तब उसको कारणशक्ति कहते हैं। इसप्रकारसे वह शक्ति सर्वभूतोंमें व्याप्त है । जब वह शक्ति आत्मामें लय होकर रहती है, तब उसको तुरीयशक्ति कहते हैं। अतः इसप्रकरणसे सब भूतोंमें व्याप्त देवताओंकी जननी अदितिरूपिणी और सर्वप्राण-

मयी शक्तिका अनुसरण करता हुआ असुर-जननी दितिके रूप को न देखकर बुद्धिरूपी-गुहामें तुरीय शक्तिका जो अनुगमन करता है, वही उस सच्चिदानन्दमय अद्वितीय आत्माका स्वानुभव प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ॥ ७८ ॥ ७ ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा
गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भि
र्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः । एतद्वै तत् ॥७६॥८॥

गर्भिणीभिः (गर्भवतीभिः) सुभृतः (परिपोषितः) गर्भ इव अरण्योः (उत्तराधरारण्योः) निहितः (स्थितः) (यः) जातवेदाः (अग्निः, जातं सर्वं वेत्तीति जातवेदाः) मनुष्येभिः जागृवद्भिः (जागरणशीलैः योगिभिः) हविष्मद्भिः (हवनकर्त्तृभिश्च) दिवे दिवे (प्रत्यहं) ईड्यः (स्तवनीयः); एतद् वै तत् ॥ ७६ ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ ।

गर्भवतीके द्वारा जिसप्रकार गर्भ पुष्ट होता है; उसीप्रकार जागृवान् अर्थात् सचेत और हविष्मद् (याज्ञिक) मनुष्यगण द्विविध अर्थात् ऊपर और नीचेकी अरणि (यज्ञकाष्ठ, जिसके घर्षणसे अग्नि प्रकट होती है ।) में निहित जिस जातवेदा—अग्निको परिपुष्ट करते हैं एवं नित्यप्रति ध्यान और स्तुति करते हैं, यह भी वही है ॥७६॥८॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

किञ्च; योऽधियज्ञ उत्तराधरारण्योर्निहितः स्थितो जातवेदा अग्निः;

पुनः सर्वहविषां भोक्ता, अध्यात्मञ्च योगिभिर्गर्भ इव गर्भिणीभिरन्तर्व-त्नीभिः अगर्हितान्नपानभोजनादिना यथा गर्भः सुभृतः सुष्ठु सम्यग् भृतो-लोक इव, इत्थमेव ऋत्विग्भिर्योगिभिश्च सुभृत इत्येतत् । किञ्च; दिवे दिवे अहन्यहनि ईड्यः स्तुत्यो वन्द्यश्च कर्मिभिर्योगिभिश्च अध्वरे हृदये च जागृवद्भिर्जागरणशीलैः अप्रमत्तैरित्येतत् ; हविष्मद्भिः आज्यादिमद्भिः ध्यानभावनावद्भिश्च, मनुष्येभिर्मनुष्यैरग्निः । एतद्वै तत् तदेव प्रकृतं ब्रह्म ॥ ७९ ॥ ८ ॥

भाष्यानुवाद ।

जो अग्नि अधियज्ञमें ऊपर और नीचेकी अरणियोंमें स्थित है, पुनः समस्त हवि (यज्ञमें प्रदान होनेवाली वस्तुको हविः कहा जाता है) का भोक्ता है, एवं अध्यात्म विषयमें—गर्भिणी जिसप्रकार निर्दोष अन्न-पानादिके द्वारा यथायथ रूपसे गर्भ-को पोषित करती है उसीप्रकार योगिगणद्वारा और ऋत्विक-गणके (याज्ञिकगण) द्वारा परिपोषित होते हैं । और यह अग्नि जागृवान्—जागरणशील अर्थात् प्रमादरहित योगि और कर्मि-गणके द्वारा नित्यप्रति हृदयमें एवं यज्ञमें वन्दनीय तथा स्तव-नीय हैं एवं हविष्मद् अर्थात् आज्यादि यज्ञोपकरणसम्पन्न और ध्यानभावनादिसे सम्पन्न मनुष्योंके द्वारा स्तवनीय एवं वन्द-नीय हैं । वस्तुतः वही ब्रह्म हैं ॥ ७६ ॥ ८ ॥

टीका ।

गर्भिणी स्त्री विना विशेष प्रयत्नके स्वाभाविकरूपसे अपने-आप गर्भकी पुष्टि किया करती है; इसी उदाहरणसे औदाहरण

कहा गया है। अग्निका दो स्वरूप पहले विस्तारित रूपसे दिखाया गया है। उन्हीं दोनोंके साथ दो अरणियोंका सम्बन्ध दिखाकर ज्ञानयोग और कर्मयोगका रहस्य बताया गया है। इसीकारण इस मन्त्रमें 'जागृवान्' और 'हविष्मद्' इन दोनों शब्दोंका प्रयोग किया गया है। जिसप्रकार गर्भिणी स्त्री स्वयं कुछ प्रयत्न नहीं करती है, किन्तु उसका गर्भस्थ शिशु स्वतः ही पुष्ट होता रहता है, उसीप्रकार जो व्यक्ति ज्ञानयोगसे जागृवान् और कर्मयोगसे हविष्मद् रहता हुआ स्तुति-शील रहता है, उसमें स्वतः ही समयपर स्वस्वरूपका उदय हो जाता है। अतः अग्निका स्वरूप, अरणिका स्वरूप, ज्ञानयोग एवं कर्मयोगका रहस्य जाननेसे अपने-आप योगोंमें जिसका विकाश होता है, यहभी वही आत्मा है। जिसप्रकार अग्नि दोनों अरणियोंमें विद्यमान रहती है और दोनोंके घर्षित होनेपर स्वतः प्रकाशित होती है, उसीप्रकार ज्ञानसे सावधान याज्ञिक व्यक्तिमें यथासमय जिस सत्ताका विकाश होता है, यहभी वही आत्मा है। 'ईड्य' शब्दसे इस मन्त्रमें आस्तिक कर्मोंसे तात्पर्य्य है ॥ ७९ ॥ ८ ॥

यतश्चोदेति सूर्य्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्॥८०॥९॥

सूर्य्यः यतः (यस्मात्) उदेति, यत्र च (यस्मिन् च) अस्तं गच्छति। सर्वे देवाः तं अर्पिताः (तं आश्रित्य स्थिता इत्यर्थः)। तत् (तं सर्वदेवाश्रयं) कश्चन (कोऽपि) उ न अत्येति (अतिक्रामति) एतद् वै तत् ॥८०॥९॥

मन्त्रार्थ ।

सूर्य्यदेव जिससे उदित होते हैं पुनः जिसमें अस्तमित होते हैं, सब देवतागण उसीको आश्रय करके हैं, उसका कोई अतिक्रम नहीं कर सकता है । यह भी वही है ॥ ८० ॥ ६ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

किञ्च; यतश्च यस्मात् प्राणादुदेति उत्तिष्ठति सूर्य्यः, अस्तं निम्लोचनं तिरोधानं यत्र यस्मिन्नेव च प्राणे अहन्यहनि गच्छति; तं प्राणमात्मानं देवाः सर्वेऽग्न्यादयः अधिदैवं, वागादयश्चाध्यात्मं, सर्वे विश्वे अरा इव रथनाभौ अर्पिताः सम्प्रवेशिताः स्थितिकाले, सोऽपि ब्रह्मैव, तदेतत् सर्वात्मकं ब्रह्म, तद् उ नात्येति नातीत्य तदात्मकतां तदन्यत्वं गच्छति कश्चन कश्चिदपि । एतद्वै तत् ॥ ८० ॥ ६ ॥

भाष्यानुवाद ।

सूर्य्य जिस प्राणसे प्रतिदिन उदय होते हैं, और जिस प्राणमें अस्तमित होते हैं, समस्त देवगण अर्थात् अग्निआदि अधिदैव और वागादि इन्द्रियां अध्यात्म, तथा सारा विश्व रथचक्रके दण्डके समान उसी प्राणरूपी आत्मामें अर्पित है; अर्थात् स्थितिकालमें उसीमें प्रविष्ट हैं । वह भी ब्रह्म ही है, वही ब्रह्म-सर्वात्मक है । उसको कोईभी अतिक्रम नहीं कर सकता अर्थात् तदात्मकता छोड़कर उससे पृथक्त्वको नहीं प्राप्त कर सकता है । यह वही ब्रह्म है ॥ ८० ॥ ६ ॥

टीका ।

पूर्व मन्त्रमें ब्रह्मकी अविद्या-शक्तिके ह्रास और विद्या-शक्ति-

के विकाशके स्वाभाविक क्रमके अवलम्बनसे स्वस्वरूपकी उपलब्धि करानेका प्रयत्न किया गया है, जैसाकि, पहले मन्त्रकी टीकामें कहा गया है। इस मन्त्रमें ब्रह्मकी नियामिका शक्तिके स्वरूपके अवलम्बनसे अद्वैत ब्रह्म-पदका निर्देश किया गया है। यह ब्रह्मकी वही नियामिका शक्ति है, जिसके भयसे सूर्य्यदेव नियमित समयपर उदय एवं नियत समयपर अस्त होते हैं। वसु, रुद्र, आदित्य, इन्द्रादि देवतागण अपने स्थायी पदपर स्थित रहकर दैवजगतके अपने-अपने कार्य्य-सम्पादनमें वाध्य रहते हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी वह नियामिका शक्ति 'अहं ममेतिवत्' ब्रह्मसे अभिन्न है। जिसकी वह शक्ति है, और जिसके साथ उसका अभेदत्व है, वह भी वही परमात्मा है। ॥ ८० ॥ ९ ॥

यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥८१॥१०॥

इह (अस्मिन् लोके) यत् (आत्मवस्तु) अमुत्र (परलोकेऽपि) तत् (तदेव), (तथा) अमुत्र (परलोके) यत् (आत्मवस्तु), इह (अस्मिन् लोकेऽपि) तत् अनु (अनुगतं न ततो भिन्नमित्यर्थः।) यः (जनः) इह (आत्म-चैतन्ययोः) नाना इव (उपाधिभेदात् भेदमिव) पश्यति; सः (भेददर्शी) मृत्योः मृत्युं (मरणात् परमपि मरणं, भूयो भूयो मरणं) आप्नोति ॥८१॥१०॥

मन्त्रार्थ ।

इस लोकमें जो है, स्वर्गादि परलोकमें भी वही आत्मा ही है।

और परलोकमें जो आत्मा है, इस लोकमें भी वही आत्मा है। जो इसमें नानाभाव अर्थात् भेद-दर्शन करता है, वह मृत्युसे मृत्युको अर्थात् वार-वार मरणको प्राप्त करता है ॥ ८१ ॥ १०॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यद् ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वर्त्तमानं तत्तदुपाधित्वादब्रह्मवदवभासमानं संसार्य्यन्यत् परस्माद् ब्रह्मण इति माभूत् कस्यचिदाशङ्का इतीदमाह—

यदेवेह कार्य्यकारणोपाधिसमन्वितं संसारधर्मवत् अवभासमानं अविवेकिनाम्, तदेव स्वात्मस्थं अमुत्र नित्यविज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्मवर्जितं ब्रह्म। यच्च अमुत्र अमुस्मिन् आत्मनि स्थितं, तदन्विह—तदेवेह नाम-रूप-कार्य्य-कारणोपाधिमनुविभाव्यमानं नान्यत्। तत्रैवं सति उपाधिस्वभाव-भेददृष्टिलक्षणयाऽविद्यया मोहितः सन् य इह ब्रह्मणि अनानाभूते "परस्मादन्योऽहं, मत्तोऽन्यत् परं ब्रह्म" इति नानेव भिन्नमिव पश्यति उपलभते; स मृत्योः मरणात् मृत्युं मरणं पुनः पुनर्जन्म-मरणभावं आप्नोति प्रतिपद्यते। तस्माद तथा न पश्येत्। विज्ञानैकरसं नैरन्तर्येण आकाशवत् परिपूर्णं ब्रह्मैवाऽहमस्मीति पश्येदिति वाक्यार्थः ॥८१॥१०॥

भाष्यानुवाद ।

ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्त सब वस्तुओंमें अवस्थित और विविध उपाधियोगसे अब्रह्मभावसे प्रतीयमान जो संसारी या जीव है, वह परब्रह्मसे अलग है, इसतरहकी आशङ्का किसीको न हो इस लिये यह कह रहे हैं—

यहां कार्य्य-कारण-उपाधिसे युक्त जो चैतन्य अविवेकी जनोंके निकट संसारधर्म-विशिष्ट प्रतीयमान होता है, वही चैतन्य

ही पीछे अपने आत्मामें स्थित नित्य विज्ञानमय और सब संसार-धर्म-वर्जित ब्रह्मभावको प्राप्त होता है, और जो चैतन्य आत्मामें अवस्थित है, वही पुनः इस नामरूपात्मक एवं कार्य्य-कारणात्मक उपाधिमें अनुगतभावसे प्रतीत होता है, दूसरा नहीं। ऐसा होनेपरभी जो व्यक्ति उपाधि-सम्बन्ध और भेदज्ञानकी कारणभूता अविद्याद्वारा विमोहित होकर अभिन्न स्वरूप इस ब्रह्ममें "मैं परब्रह्मसे पृथक् हूँ, एवं परब्रह्म भी मुझसे पृथक् है" इसप्रकार नानात्व दर्शन करता है अर्थात् भेदवत् देखता है, वह व्यक्ति मृत्युसे मृत्यु अर्थात् पुनः पुनः जन्म-मरणभावको प्राप्त करता है। अत एव इसप्रकार भेद-दर्शन न करे, किन्तु "मैं विज्ञानमय एकरस आकाशवत् परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप ही हूं" ऐसा दर्शन करे ॥८१॥१०॥

टीका।

जैसे एक घटके एक स्थानसे दूसरे स्थानपर लेजानेसे सब स्थानोंमें उसको वही सर्वव्यापक आकाश घटाकाश रूपसे प्राप्त होता है; जैसे एक घर एक जगहसे तोड़कर यदि दूसरा घर दूसरी जगह बनाया जाय, तो एक, सर्वव्यापक, अद्वितीय आकाश उसको दोनो जगह प्राप्त होता है, केवल घटकी उपाधि अथवा मठकी उपाधि एक स्थानसे दूसरे स्थानपर पहुँचायी जानेपरभी वही एक और अद्वितीय आकाश उसको सब जगह मिलता है, उसीप्रकार एक अद्वितीय, चिन्मय आत्मा जीवके लोकान्तरित होनेपरभी सब लोकोंमें एक ही है। एक जीव

अपने आनन्दमय, विज्ञानमय और मनोमयकोषादिके साथ जब अपने अन्नमयकोषको अवलम्बन करके इस मृत्युलोकमें रहता है, अथवा अन्नमयकोषको यहां छोड़कर अन्यकोषोंके साथ स्वर्गादि परलोकमें जाता है, तो उसकी नाना कोषरूपी उपाधि एक लोकसे दूसरे लोकमें पहुंचाये जानेपरभी उसकी चिन्मय आत्मा सब जगह एक ही है। सुतरां सब जगह सर्वत्र वह एक अद्वितीय, विभु, चिन्मय आत्मा समानरूपसे परिव्याप्त है। नाना उपाधियोंका परिणाम और परिवर्त्तन होता है, किन्तु वह सच्चिदानन्दमय परमात्मा स्वतः पूर्ण अपरिणामी सब जगह अद्वैतरूपसे विराजमान है। यही अनुभव स्वस्वरूपका स्वानुभव है। अज्ञानके वश होकर जो विभिन्न उपाधियं को देखकर एक तथा अद्वितीय परमात्मामें नानारूप देखते हैं, वे बन्धन-दशाकों प्राप्त होते हैं। इसी अवस्थाको 'मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है,' ऐसा कहा है। मृत्यु दो प्रकारकी होती है, एक आधिभौतिक मृत्यु और दूसरी आध्यात्मिक मृत्यु। पञ्चकोषों-मेंसे अन्नमयकोषको यहीं छोड़कर अन्य चार कोषोंके साथ जीव जब इस लोकसे लोकान्तरमें चला जाता है, वह आधि-भौतिक मृत्यु है, और विज्ञानमयकोषपर आवरण बढ़ जानेसे आध्यात्मिक मृत्यु होती है। जिसको गीतोपनिषद्में 'बुद्धि नाशात् प्रणश्यति, कहा है। अतः इस मन्त्रमें जो दो बार 'मृत्यु' शब्द-का प्रयोग हुआ है, उसका स्वारस्य यह है कि, एक अद्वितीय परमात्मामें अज्ञानके कारण नानात्वकी धारणा करनेसे बार-बार

आवागमन-चक्रमें आधिभौतिक मृत्युद्वारा आना-जाना पड़ता है एवं साथ-ही-साथ बुद्धिका भी नाश होता रहता है ॥८१॥१०॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति । एतद्वै तत् ॥८२॥११॥

मनसा एव इदं आप्तव्यम् (उपलभ्यम्) । इह (ब्रह्मणि) किञ्चन (किञ्चिदपि) नाना (भेदः) नास्ति । य इह नाना इव पश्यति; स मृत्योः (परं) मृत्युं गच्छति ॥८२॥११॥

मन्त्रार्थ ।

मनके द्वारा ही इसको प्राप्त करना चाहिये । इसमें कुछभी नानात्व नहीं है । जो इसमें नानावत् देखता है, वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त करता है । यह भी वही है ॥८२॥११॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

प्रागेकत्वविज्ञानात् आचार्य्यागम-संस्कृतेन मनसैव इदं ब्रह्म एकरस-माप्तव्यम् 'आत्मैव नान्यदस्ति' इति । आप्ते च नानात्वप्रत्युपस्थापि-काया अविद्याया निवृत्तत्वात् इह ब्रह्मणि नाना नास्ति किञ्चन—अणुमात्र-मपि । यस्तु पुनरविद्या-तिमिरदृष्टिं न मुञ्चति इह ब्रह्मणि नानेव पश्यति स मृत्योर्मृत्युं गच्छत्येव—स्वल्पमपि भेदमध्यारोपयन्नित्यर्थः ॥८२॥११॥

भाष्यानुवाद ।

एकत्व-विज्ञानके उदय होनेके पहले आचार्य्य और शास्त्रके उपदेशसे मनको संस्कृत या निर्मल बनाकर उसी संस्कृत मन-द्वारा ही एकरस ब्रह्मको प्राप्त करना चाहिये अर्थात् "एकमात्र

आत्मा है, उससे अलग और कुछ नहीं है, ऐसा अनुभव करना चाहिये। ऐसा ज्ञान होनेपर नानात्व या भेद-बुद्धि उत्पन्न करनेवाली अविद्याकी निवृत्ति हो जानेके कारण इस ब्रह्ममें किसी प्रकार नानात्व अर्थात् भेद-बुद्धि नहीं रहती। किन्तु जो अविद्या-तिमिर-दृष्टिका त्याग नहीं करता है और इस ब्रह्ममें नानाभाव ही देखता है, वह इस अल्पमात्र भेदका आरोपणके फलसेभी मृत्युके बाद मृत्यु अर्थात् पुनः पुनः मृत्युको प्राप्त करता है॥८२॥११॥

टीका।

मन दो प्रकारका होता है, एक शुद्ध मन और दूसरा अशुद्ध मन। इन्द्रिय-सम्बन्ध-युक्त मन अशुद्ध और आत्म-संबन्धयुक्त मन शुद्ध कहाता है। इसका वर्णन पहले भी हो चुका है। आत्म-संयुक्त-शुद्ध मनमें स्वतः ही एकतत्त्वका उदय होता है, जिस एक-तत्त्वका विस्तारित वर्णन योगदर्शनमें आया है। जब एकतत्त्वके उदय होनेसे अन्तःकरणमें अद्वैत-स्थितिका आविर्भाव होता है, तब स्वस्वरूपकी उपलब्धि होती है। परन्तु जिसका मन शुद्ध न होकर अशुद्ध रहता है, उसमें नानात्वभाव बना रहता है। उसको मृत्युसे मृत्युकी प्राप्ति होती है, जैसा कि पहले कहा गया है ॥८२॥११॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।

ईशानो भूत-भव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत्॥८३॥१२॥

अङ्गुष्ठमात्रः (अङ्गुष्ठ परिमाणः) पुरुषः (आत्मा) मध्ये आत्मनि (शरीरमध्ये) तिष्ठति। (स) भूतभव्यस्य (अतीतस्य अनागतस्य)

ईशानः (शासकः) ततः (तत्स्वरूपविज्ञानात् परं) न विजुगुप्सते (आत्मानं न कुतश्चित् गोपायितुमिच्छतीत्यर्थः) ॥८३॥१२॥

मन्त्रार्थ ।

अङ्गुष्ठपरिमाण पुरुष शरीरमें अवस्थान करता है। वही भूत-भविष्यत्का ईश्वर है। (उसको जान लेनेके) अनन्तर आत्म-गोपनकी इच्छा नहीं करता है। यह भी वही है॥८३॥१२॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

पुनरपि तदेव प्रकृतं ब्रह्माऽऽह—अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमाणः। अङ्गुष्ठपरिमाणं हृदयपुण्डरीकं, तच्छिद्रवर्त्यन्तःकरणोपाधिरङ्गुष्ठमात्रः—अङ्गुष्ठमात्र-वंशपर्वमध्यवर्त्यम्बरवत्। पुरुषः—पूर्णमनेन सर्वमिति। मध्ये आत्मनि शरीरे तिष्ठति यः तमात्मानमिशानं भूत-भव्यस्य विदित्वा न तत इत्यादि पूर्ववत् ॥८३॥१२॥

भाष्यानुवाद ।

पुनः उसी प्रस्तावित ब्रह्मके विषयमें कह रहे हैं। अंगुष्ठ-मात्रका अर्थ अङ्गुष्ठपरिमाण है। हृदयकमलका परिमाण एक अंगुष्ठ है, अतः उस हृदयपद्मके छिद्रमें अवस्थित अन्तःकरणो-पाधियुक्त आत्माभी अंगुष्ठ परिमाण है। जिसप्रकार अंगुष्ठपरि-मित वंश अर्थात् बांसपर्वके मध्यवर्त्ती आकाशके लिये अंगुष्ठमा-त्रत्वव्यवहार होता है, उसीप्रकार अङ्गुष्ठ-परिमाण अन्तःकरणमें विराजमान आत्माको भी अङ्गुष्ठमात्र कहा जाता है। इसके द्वारा सब जगत्पूर्ण है, इसलिये 'पुरुष' शब्द-वाच्य है। जो शरीरमें

अवस्थान करता है, उस भूत और भविष्यत्का ईशान—शासकको जानकर—"न ततः" इत्यादि अंशोंकी व्याख्या-पूर्ववत् समझनी चाहिये ॥८३॥१२॥

टीका।

वैदिक दर्शनके अनुसार 'पुरुष' शब्द कई प्रकारसे व्यवहृत है। यथा परमपुरुष, पुरुष-विशेष, कूटस्थ या बहुपुरुष और अङ्गुष्ठमात्र पुरुष। वेदान्तके अद्वैतवादके अनुसार जो एक अद्वितीय परमात्मा ब्रह्मका अनुभव है, वही परमपुरुष है। योगदर्शनके अनुसार अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड-नायक जो सगुण ईश्वर है, वही 'पुरुष-विशेष' शब्द-वाच्य है। सांख्य-दर्शनके अनुसार जो प्रत्येक पिण्डमें कूटस्थ होकर स्वतन्त्र-स्वतन्त्ररूपसे अनुभूत है, वही बहुपुरुषका अनुभव है। और कर्म-मीमांसा एवं दैवी-मीमांसा-शास्त्रका अन्तःकरणावच्छिन्न चिज्जड़-ग्रन्थि-भावापन्न जो चेतन है, वही अङ्गुष्ठ-मात्र पुरुष कहाता है। जब अङ्गुष्ठ-मात्र कहा गया, तो देश-विशेषका सम्बन्ध भी माना गया। वह देश-विशेष अन्तःकरण है। वही अन्तःकरण-व्यापी आत्मा ही अङ्गुष्ठमात्र पुरुष है। साधन-मार्गमें अग्रसर होनेपर योगीको प्रथम हृदय-कमलमें अन्तःकरणावच्छिन्न चित्-सत्ताका अनुभव होता है। तब वह समझ लेता है कि, चित् और जड़की ग्रन्थि कैसे बन्ध जाती है, और यह भी समझने लगता है कि, यही अज्ञान-जनित चिज्जड़-ग्रन्थिरूप सत्ता आवागमन-चक्रमें भ्रमण करते रहनेपरभी उसमें जो

चित्सत्ता है, वह निर्लिप्त और व्यापक है। ऐसा स्वानुभव प्राप्त योगी कूटस्थ, पुरुष-आदिका स्वानुभव प्राप्त करता हुआ आवा-गमन-चक्रसे बचकर मुक्त हो जाता है। प्रथम साधनद्वारा अङ्गुष्ठमात्र पुरुषका अनुभव प्राप्त करके जब ज्ञानवान् व्यक्ति यह समझ लेता है कि, अन्तःकरण-स्थित चेतन ही सर्वव्यापक आत्मा है, और वह आत्मा ही इस शरीरमें कूटस्थ रूपसे तथा सर्वस्थानमें पुरुष-विशेषरूपसे, भूत-भविष्यत्का ईश्वर है, तब वह मुक्त हो जाता है। ऐसी दशाका जो स्वानुभव है, यह वही है ॥ ८३ ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूत-भव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः । एतद्वै तत् ॥ ८४ ॥ १३ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः (आत्मा) अधूमकः (धूमरहितं) ज्योतिः (तेजः) इव, भूत-भव्यस्य ईशानः स एव (पुरुषः) अद्य (वर्त्तते) श्वः उ (श्वोऽपि) सः (एव पुरुषः वर्त्तिष्यते) ॥ ८४ ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ ।

अङ्गुष्ठ-परिमाण (वह) पुरुष धूम-रहित ज्योतिके समान है और भूत भविष्यत्का ईशान—शासक है। वही पुरुष आज (विद्यमान है) एवं कल भी वही (विद्यमान रहेगा) । यह भी वही है ॥ ८४ ॥ १३ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

किञ्च, अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः, अधूमकमिति युक्तं

ज्योतिःपरस्वात्। यस्त्वेवं लक्षितो योगिभिर्हृदय ईशानो भूतभव्यस्य, स एव नित्यः कूटस्थोऽद्येदानीं प्राणिषु वर्त्तमानः, स उ श्वोऽपि वर्त्तिष्यते, नान्यस्तत्समोऽन्यश्च जनिष्यत इत्यर्थः। अनेन "नायमस्तीति चैके" इत्ययं पक्षो न्यायतोऽप्राप्तोऽपि स्ववचनेन श्रुत्या प्रत्युक्तः; तथा क्षण-भङ्गवादश्च ॥ ८४ ॥ १३ ॥

भाष्यानुवाद।

और भी, वह अङ्गुष्ठ-परिमाण पुरुष धूम-रहित ज्योतिकी तरह है। श्रुतिमें 'अधूमकः' शब्द पुलिङ्ग होनेपरभी क्लीवलिंग ज्योति शब्दका विशेषण होनेसे 'अधूमक' समझना चाहिये। योगीगणने अपने हृदयसे जिसको इसप्रकार भूत, भविष्यत्का ईशान—ईश्वररूपसे लक्षित किया है, वही नित्य, कूटस्थ अब भी सब प्राणियोंमें वर्त्तमान है और कलभी वर्त्तमान रहेगा। अर्थात् उसके समान या उससे अलग कोई नहीं जन्मेगा। कोई कोई कहता है कि, "आत्मा नहीं है" यह पक्ष युक्ति-विरुद्ध होनेसे असम्भव होनेपरभी श्रुति स्वयं हीं उसका खण्डन करती है। इसके द्वारा क्षणभङ्गवादका भी खण्डन हुआ ॥८४॥१३॥

टीका।

धूम अग्निसे ही उत्पन्न होकर अग्निको हीं ढांका करता है। इसीप्रकार 'अहं ममेतिवत्' माया अथवा ब्रह्म-प्रकृति ब्रह्मसे ही प्रकट होकर ब्रह्मके स्वरूपको ढकती है। यही मायाका आव-रण ही जीवके बन्धनका कारण होता है। अङ्गुष्ठमात्र पुरुषके

यथार्थ स्वरूपसे आत्माका स्वानुभव करानेके लिये 'अधूमकः' शब्दका प्रयोग हुआ है । उसीप्रकार चिन्मय आत्मा जो स्वतः ही प्रकाशरूप है, उसका प्रकाशमयरूप समझानेके लिये ज्योतिका उदाहरण दिया गया है । जैसे शुद्ध प्रकाशका अनुभव करानेके लिये अग्नि, ज्योति और धूम, इन तीनोंका स्वरूप समझाकर धूम और अग्निसे धारणाको हटाकर केवल ज्योतिमें ही पहुंचानेसे प्रकाशका अनुभव हो सकता है, ठीक उसीप्रकार अङ्गुष्ठमात्र पुरुषमें आत्माका स्वानुभव करानेके लिये अन्तःकरण और मायासे धारणाको हटाकर स्वप्रकाशरूप पुरुषकी सत्तापर लक्ष्य करानेसे ही हृदयस्थित अङ्गुष्ठमात्र पुरुषमें आत्माका स्वानुभव प्राप्त हो सकता है । वह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष ही भूत और भविष्यत्का ईश्वर है । तात्पर्य्य यह है कि, अन्तःकरणमें जो ब्रह्मकी चित्सत्ता है, वही चित्सत्ता मायारहित शुद्ध ब्रह्म है । उस शुद्ध अवस्थामें वही पूर्णज्ञानमय होकर त्रिकालका द्रष्टा और ईश्वर है । 'वही आज है, वही कल है,' इसका तात्पर्य्य यह है कि, वह अव्यय और नित्य है । इसप्रकारसे जो आत्मज्ञानी व्यक्ति उस अङ्गुष्ठमात्र पुरुषको माया-रहित और प्रकाशमय करके जान लेता है, तो वह आत्माका स्वरूप अनुभव करनेमें समर्थ होता है ॥ ८४ ॥ १३ ॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्म्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥८५॥१४॥

पर्वतेषु दुर्गे (दुर्गमे, ऊर्द्ध्वभागे) वृष्टम् उदकं यथा विधावति (विवि-

धतया धावति गच्छति) एवं धर्मान् पृथक् (आत्मनो भिन्नान्) पश्यन् (जानन्) तानेव अनु (तद्दर्शनानन्तरमेव) विधावति (प्राप्नोति)॥८५॥१४॥

मन्त्रार्थ ।

जिसप्रकार दुर्गम प्रदेशमें हुई वृष्टिका जल नानारूपसे धावमान होता है, उसीप्रकार आत्माका विविध भेद देखनेवाला व्यक्ति उसी भेद-दर्शनका अनुगमन करता है ॥८५॥१४॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

पुनरपि भेद-दर्शनापवादं ब्रह्मण आह—यथोदकं दुर्गे दुर्गमे देशे उच्छ्रिते वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु पर्वतवत्सु निम्नप्रदेशेषु विधावति विकीर्णं सद् विनश्यति एवं धर्मान् आत्मनो भिन्नान् पृथक् पश्यन् पृथगेव प्रतिशरीरं पश्यन् तानेव शरीरभेदानुवर्त्तिनोऽनुविधावति । शरीरभेदमेव पृथक् पुनः पुनः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥८५॥१४॥

भाष्यानुवाद ।

पुनश्च ब्रह्म-विषयमें भेद-दर्शनकी निन्दा कर रहे हैं। दुर्ग अर्थात् दुर्गम उन्नत प्रदेशमें वर्षा हुआ जल जिसप्रकार पर्वत अर्थात् निम्न प्रदेशोमें धावमान होता है, अर्थात् इधर-उधर होकर विनष्ट होजाता है; इसीप्रकार जो व्यक्ति आत्मधर्मोंको प्रत्येक शरीरमें अलग-अलग देखता है, वह विभिन्न शरीरगत उन्हीं भेदोंकी ओर धावमान होता है अर्थात् वार-वार विभिन्न शरीर-भेदको ही प्राप्त करता है ॥ ८५ ॥ १४ ॥

टीका ।

दुर्गम उच्च पर्वतपर वर्षा हुआ पानी जिधर मौका पाता

है, उधर ही को वह निकलता है; उसीप्रकार एक चिन्मय आत्माको न जानकर उससे लक्ष्यच्युत होकर जो जीव प्रकृति-वैचित्र्यके कारण एक अद्वितीय आत्मामें नानात्वको देखता है, वह बन्धन-दशाको प्राप्त होकर नाना सुख-दुःखमें फंसता है। प्रकृति-वैचित्र्यसे धर्म-वैचित्र्य होता है। प्राकृतिक तरङ्गोंके भेदसे अलग-अलग धर्म और धर्मोंकी उत्पत्ति होती है। प्रकृतिके तीनों गुणोंके प्रभावसे जीव विमोहित होकर उनमें फंसता रहता है और स्वस्वरूपको भूलता हुआ, प्रकृतिके गुण-वैषम्यसे अलग-अलग कार्य्य एवं कारण उत्पन्न करता हुआ, नाना अस्वाभाविक संस्कार-संग्रह करता हुआ आवागमन-चक्रमें घूमता रहता है। एवं त्रिगुण-वैचित्र्यसे जैसा-जैसा भेद-दर्शन होता रहता है, उसीके अनुसार अलग-अलग गतिकोभी प्राप्त होता है। स्वस्वरूपके अनुभव-प्राप्तिसे वञ्चित बन्धन-प्राप्त जीवकी जो दशा होती है, उसका सूत्रवत् यह रहस्य है। आत्मानुसन्धानकी प्रवृत्ति कराना इस मन्त्रका उद्देश्य है ॥ ८५ ॥ १४ ॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ ८६ ॥ १५ ॥

इति कठोपनिषदि द्वितीयाध्याये प्रथमावल्ली समाप्ता ।

हे गौतम ! यथा शुद्धं उदकं शुद्धे (उदके) सिक्तं (निक्षिप्तं सत्) तादृक् एव (शुद्धमेव) भवति, विजानतः (एकत्वं पश्यतः) मुनेः आत्मा (अद्वितीयब्रह्मस्वरूपं) एव भवति ॥ ८६ ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ ।

हे गौतम ! (नचिकेता !) शुद्ध जल जिसप्रकार शुद्ध जलमें डालनेपर तद्वत् हो जाता है, उसीप्रकार ज्ञानी मुनिका आत्मा भी (ब्रह्म ही) हो जाता है ॥ ८६ ॥ १५ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यस्य पुनर्विद्यावतो विध्वस्तोपाधिकृतभेद-दर्शनस्य विशुद्धविज्ञानघनैकरसं अद्वयम् आत्मानं पश्यतो विजानतो मुनेर्मननशीलस्य आत्मस्वरूपं कथं सम्भवतीति उच्यते,—यथोदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नं आसिक्तं प्रक्षिप्तमेकरसमेव नान्यथा तादृगेव भवति, आत्माप्येवमेव भवति एकत्वं विजानतो मुनेः मननशीलस्य हे गौतम ! तस्मात् कुतार्किक-भेददृष्टिं नास्तिक-कुदृष्टिञ्च उज्झित्वा मातृ-पितृसहस्रेभ्योऽपि हितैषिणा वेदेनोपदिष्टं आत्मैकत्वदर्शनं शान्तदर्पैरादरणीयमित्यर्थः ॥ ८६ ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्य्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥

भाष्यानुवाद ।

जिस विद्वान्का उपाधि-जनित भेद-दर्शन दूर हो गया है, विशुद्ध, विज्ञानघन, एकरस आत्मदर्शी मुनिका आत्मस्वरूप होना कैसे सम्भव है, (इसके उत्तरमें) कहते हैं कि, शुद्ध अर्थात् प्रसन्न या निर्मल जल, दूसरे शुद्ध जलमें डालनेपर एकाकार अर्थात् तद्रूप ही हो जाता है, इसके अन्यथा नहीं होता, हे गौतम ! आत्मै-

कत्वदर्शी मुनिका आत्माभी ठीक इसीप्रकार तद्रूप हो जाता है। अत एव कुतार्किकोंकी भेद-दृष्टि और नास्तिकोकी कुदृष्टिको परित्याग करके सहस्रों माता-पिताकी अपेक्षाभी अधिक हितैषी वेदका उपदेश अभिमान-त्यागपूर्वक आदरणीय है ॥८६॥१५॥

कठोपनिषद्के दूसरे अध्यायके प्रथमवल्लीका

भाष्यानुवाद समाप्त ।

टीका ।

साधारण बद्धजीवकी दशा सर्वदा कैसी रहती है, उसका दिग्दर्शन पहले मन्त्रमें कराया गया है। अब मुक्तात्माओंके प्रसङ्गमें कहा जाता है कि, जब मुमुक्षु धर्माचरण-प्रवृत्तिसे अर्थ-कामकी प्रवृत्तिको त्याग देता है, पुनः सदाचार-अवलम्बन, साधन और भगवद्भक्तिद्वारा अपने शरीरका मल और मनका विक्षेप दूर करता हुआ तत्त्वज्ञानद्वारा अपने बुद्धिका आवरण नाश करके आत्मानुसन्धानमें सफल काम होता है; तब वह मोक्षका अधिकारी मुनि ब्रह्मसाक्षात् करके ब्रह्मरूप ही हो जाता है। जैसे आकाश-पतित शुद्ध जलबिन्दु शुद्ध जलमें पड़कर तद्वत् हो जाता है, उसीप्रकार ऐसे भाग्यवान् ज्ञानी मुनिका जीवात्मा परमात्मामें मिलकर ब्रह्मभावको प्राप्त करता है ॥ ॥ ८६ ॥ १५ ॥

कठोपनिषद्के दूसरे अध्यायके प्रथमवल्लीकी

टीका समाप्त ।

द्वितीया वल्ली ।

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद्वै तत्॥८७॥१॥

एकादशद्वारं पुर(देहं), अवक्रचेतस, (अवक्रम् अकुटिलम् चेतो विज्ञानमस्येति नित्यप्रकाशरूपस्य) अजस्य (जन्मरहितस्य) (अधीनमिति, तं) अनुष्ठाय (ध्यात्वा) न शोचति । विमुक्तः (बन्धरहितः सन्) विमुच्यते (कैवल्यं प्राप्तो भवति) एतद्वै तत् ॥८७॥१॥

मन्त्रार्थ ।

एकादश द्वार-विशिष्ट और पुरी स्वरूप यह शरीर जन्मरहित प्रकाशरूप ब्रह्मके अधीन है (ऐसे ब्रह्मका) ध्यान करके (विवेकी मनुष्य) सोच नहीं करता और बन्धन-रहित होकर विमुक्त हो जाता है ॥ ८७ ॥ १ ॥

शाङ्कर भाष्यम् ।

पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्द्धारणार्थोऽयमारम्भः—दुर्विज्ञेयत्वाद्-ब्रह्मणः । पुरं पुरमिव पुरम् , द्वारपालाधिष्ठात्राद्यनेकपुरोपकरणसम्पत्ति-दर्शनात् शरीरं पुरम् । पुरञ्च सोपकरणं स्वात्मना असंहतस्वतन्त्रस्वाम्यर्थं दृष्टम्, तथेदं पुरसामान्यात् अनेकोपकरणसंहतं शरीरं स्वात्मना असंहत-राजस्थानीयस्वाम्यर्थं भवितुमर्हति । तच्चेदं शरीराख्यं पुरं एकादशद्वारं,

एकादशद्वाराण्यस्य—सप्त शीर्षण्यानि, नाभ्या सहार्वाञ्चि त्रीणि, शिरस्येकम्, तैरेकादशद्वारं पुरम्। कस्य अजस्य जन्मादिविक्रियारहितस्य आत्मनो राजस्थानीयस्य पुरधर्मविलक्षणस्य। अवक्रचेतसः, अवक्रम् अकुटिलम् आदित्यप्रकाशवन्नित्यमेवावस्थितम् एकरूपं चेतो विज्ञानमस्येति अवक्रचेताः, तस्य अवक्रचेतसो राजस्थानीयस्य ब्रह्मणः। यस्येदं पुरम्, तं परमेश्वरं पुरस्वामिनं अनुष्ठाय ध्यात्वा; ध्यानं हि तस्यानुष्ठानं सम्यग् विज्ञानपूर्वकम्। तं सर्वैषणा-विनिर्मुक्तः सन् समं सर्वभूतस्थं ध्यात्वा न शोचति। तद्विज्ञानादभयप्राप्तेः शोकावसराभावात् कुतो भयेक्षा। इहैवाविद्याकृत-काम-कर्म-बन्धनैर्विमुक्तो भवति। विमुक्तश्च सन् विमुच्यते—पुनः शरीरं न गृह्णातीत्यर्थः ॥८७॥१॥

भाष्यानुवाद।

ब्रह्मतत्त्व अतिदुर्ज्ञेय है, इसकारण प्रकारान्तरसे पुनः उसीके निरूपणके लिये यह वल्ली प्रारम्भ हो रही है। "पुर" का अर्थ पुरीके समान है; पुरी (नगरी) में जिसप्रकार द्वारपाल, स्वामी और पुरीके उपयोगी अन्यान्य वस्तुयें रहती हैं, इस शरीरमेंभी वे सब विद्यमान रहनेसे यह भी 'पुर' नामसे कथित होता है। देखा जाता है कि, पुरी और पुरीके उपकरणस्वरूप सब वस्तुयें, पुरके साथ जो संहत नहीं है अर्थात् उसकी क्षति-वृद्धिसे जिसकी ह्रास-वृद्धि नहीं होती, ऐसे किसी स्वतन्त्र स्वामीके अधीन होती हैं; पुरके सदृश होनेसे अनेक प्रकार उपकरण युक्त यह शरीर भी उसीप्रकार शरीरसे असंहत एक राजस्थानीय प्रभुके अधीन होना चाहिये। इस शरीर-संज्ञक पुरी-

के एकादश द्वार हैं, उनके इनमें सात अर्थात् दो आंखे; दो कान, दो नाक, और मुख, नीचेके भागमें नाभि, पायु, उपस्थ, इसतरह तीन, ब्रह्मरन्ध्र एक, ये एकादश द्वार होनेसे शरीररूपी यह पुरी एकादश द्वारयुक्त है। यह किसकी है? जो अज अर्थात् जन्मादि विकार-रहित, पुरसे विलक्षण और स्वाधीन राजस्थानीय आत्मा तथा जो अवक्रचेता—जिसका चैतन्य विज्ञान कभी कुटिल नहीं है, किन्तु सूर्य्यके प्रकाशके समान नित्यस्थित है, उसी ब्रह्मकी है। जिनकी यह पुरी है, उन पुर-स्वामी परमेश्वरका अनुष्ठान अर्थात् ध्यान करके मनुष्य फिर शोक नहीं करता। उनका यथार्थ स्वरूप जानकर जो ध्यान है, वही उनका अनुष्ठान है। सर्व कामनाओंका त्याग करके सर्व-भूतोंमें समभावसे अवस्थित उस आत्माका ध्यान करके पुनः कभी शोक नहीं करता। क्योंकि उसको जाननेसे अभयप्राप्त होता है, उससमय शोकका अवसर ही नहीं रहता है। अतः भय-दृष्टि कैसे हो सकती है? वह व्यक्ति इसी देहमें ही अविद्या-कृत काम-कर्मादि बन्धनोंसे विमुक्त हो जाता है। विमुक्त होकर भी विमुक्त होता है अर्थात् फिर शरीर-ग्रहण नहीं करता है ॥ ८७ ॥ १ ॥

टीका।

मुमुक्षुको तत्पदसे आत्माको लक्ष्य करानेके अभिप्रायसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके सम्बन्धसे आत्मज्ञानका उदय करानेके लिये इस मन्त्रकी प्रवृत्ति है। क्षेत्र शरीर है और क्षेत्रज्ञ आत्मा है।

वह आत्मा अङ्गुष्ठमात्ररूपसे हृदय-कमलमें और कूटस्थरूपसे द्विदल-कमलमें अनुष्ठान अर्थात् उपासना करनेयोग्य है। इस शरीरसे जब जीवात्मा निकल जाता है, तो उसके निकलनेके लिये एकादश द्वार हैं। नीचेके मल-मूत्रत्यागकरनेवाले दो द्वार, मध्यमका नाभि-द्वार, चौथा मुख-द्वार, पाचवां और छठां दो नासिकाके द्वार, सातवां और आठवां चक्षुके दो द्वार, नवां और दशवां कर्णके द्वार और योगियोंके निकलनेका एकादश ब्रह्मरन्ध्र-द्वार माने गये हैं। शरीरको क्षेत्र मानकर उसमें पुरी-की कल्पना की गयी है। और निकलेके एकादश स्थानोंमें द्वार-की कल्पना की गयी है। शरीररूपी क्षेत्र और कूटस्थ पुरुष-रूपी क्षेत्रज्ञ, दोनोंके स्वरुपके स्पष्टीकरणके लिये ऐसी लौकिक कल्पना की गयी है। मुमुक्षु साधक जब देहके स्वरूपको इस प्रकारसे हृदयङ्गम करके सावधान होकर क्षेत्र-ज्ञान प्राप्त कर लेता है, और साथ-ही-साथ जन्म-रहित, नित्य, स्वभावसे ही ज्ञानमय तथा चिन्मय क्षेत्रज्ञ आत्माकी उपासना करता हुआ उसके यथार्थ स्वरूपको समझ लेता है, तब वह हर्ष-शोकसे विमुक्त होकर मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है। इसप्रकार-से क्षेत्रसे निःसङ्ग चिन्मय आत्माको जो योगी देखता है, वह उसी आत्माको देखता है। इसप्रकारसे क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञका स्वानुभव प्राप्त करनेवाला आत्मज्ञानी सब बन्धनोसे मुक्त होकर निःश्रेयस प्राप्त कर लेता है ॥ ८७ ॥ १ ॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्,
होता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमस-
दब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥८८॥२॥

हंस, शुचिषत्, वसुः, अन्तरिक्षसत्, वेदिषत्, अतिथिः, दुरोणसत्, नृषत्, वरसत्, ऋतसत्, व्योमसत्, अब्जा, गोजाः, ऋतजाः, अद्रिजाः, ऋतं, बृहत्॥ ८८॥२॥

मन्त्रार्थ ।

(परमात्मा) 'हंस' शुचिषत्, 'वसु' 'अन्तरिक्षसत्' होता, 'वेदिषत्', अतिथि 'दुरोणसत्' 'नृषत्', 'वरसत्', 'ऋतसत्', 'व्योमसत्', 'अब्जा', 'गोजा' ,ऋतजा, 'अद्रिजा' और सत्य-स्वरूप तथा महत् हैं ॥ ८८॥२ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

स तु नैकपुरवर्त्येवाऽऽत्मा, किन्तर्हि ?—सर्वपुरवर्त्ती। कथं ? हंसः—हन्ति गच्छतीति, शुचिषत् शुचौ दिवि आदित्यात्मना सीदतीति। वसु वासयति सर्वानिति । वाय्वात्मना अन्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत् । होता अग्निः "अग्निर्वै होता" इति श्रुतेः । वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषत् । "इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः" इति मन्त्रवर्णात्। अतिथिः सोमः सन् दुरोणे कलसे सीदतीति दुरोणसत् । ब्राह्मणोऽतिथिरूपेण वा दुरोणेषु गृहेषु सीदतीति दुरोणषत् । नृषत्—नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत् । वरसत् वरेषु देवेषु सीदतीति वरसत्। ऋतसत् ऋतं सत्यं यज्ञो वा, तस्मिन् सीदतीति ऋतसद् । व्योमसत् व्योम्नि आकाशे सीदतीति व्योमसत् । अब्जा अप्सु शङ्ख-शुक्ति-मकरादिरूपेण जायत इति अब्जाः । गोजाः—गवि

पृथिव्यां व्रीहि-यवादिरूपेण जायत इति गोजाः। ऋतजाः यज्ञाङ्गरूपेण जायत इति ऋतजाः अद्रिजाः पर्वतेभ्यो नद्यादिरूपेण जायत इति अद्रिजाः। सर्वात्माऽपि सन् ऋतम् अवितथस्वभाव एव। बृहत् महान् सर्वकारणत्वात्। यदाऽप्यादित्य एव मन्त्रेणोच्यते ; तदाप्यस्यात्म-स्वरूपत्वमादित्यस्याङ्गीकृतत्वात् ब्राह्मण-व्याख्यानेऽप्यविरोधः। सर्वव्याप्येक एवाऽऽत्मा जगतो नाऽऽत्मभेद इति मन्त्रार्थः ॥ ८॥२॥

भाष्यानुवाद ।

वह आत्मा केवल एक ही शरीररूपी पुरीमें वास करता है, ऐसा नहीं है, तो क्या वह सारे शरीररूपी पुरीमें वास करता है? किस प्रकार?—वह हनन अर्थात् (सर्वत्र) गमन करता है, इसकारण 'हंस' पदवाच्य है, शुचि अर्थात् स्वर्गलोकमें सूर्य्य-रूपसे अवस्थान करनेसे 'शुचिषत्', सब वस्तुओंमें उनकी स्थिति होनेसे 'वसु', वायुरूपसे अन्तरीक्षमें अवस्थान करनेसे अन्तरिक्षसत् है। श्रुतिमें जो अग्निको 'होता' कहा गया है, सो अग्निस्वरूप 'होता' ही है और पृथ्वीरूपा वेदीमें अवस्थान करता है, इसकारण वेदिषत् है। श्रुतिमें कहा है कि, "यह प्रसिद्ध वेदी पृथ्वीका ही स्वरूप है उसके अतिरिक्त नहीं है"। वही सोमरूपी अतिथि होकर दुरोण—कलशमें अवस्थान करनेसे अथवा ब्राह्मण अतिथिरूपसे गृह—दुरोणमें उपस्थित होनेसे अतिथि और 'दुरोणसत्', मनुष्यमात्रमें वास करनेसे नृषत्, श्रेष्ठ देवताओंमें अवस्थान करनेसे 'वरसत्', ऋतका अर्थ सत्य या यज्ञ है, उसमें रहनेके कारण 'ऋतसत्', आकाशमें अव-

तिके कारण 'व्योमसत्' शङ्ख, शुक्ति और मकरादिरूपसे
से उत्पन्न होनेसे 'अब्जा', पृथ्वीमें धान, यव आदिरूपसे
न्न होनेके कारण 'गोजा,' यज्ञाङ्गरूपसे उत्पन्न होनेसे
तजा' और पर्वतसे नदी आदिरूपसे उत्पन्न होनेसे 'अद्रिजा'
द्वाच्य हैं । वे सर्वात्मा होनेपरभी स्वयं ऋत अर्थात्
यस्वरूप ही हैं और सबका कारण होनेसे बृहत्—महान् हैं ।
ब्राह्मणोक्त व्याख्याके अनुसार सूर्यको उपलक्ष्य करके यह
न है, यदि ऐसा समझा जाय, तौभी सूर्यको ही आत्मारूपसे
कार करनेसे ब्रह्म-विषयमें कोई विरोध नहीं होता है । फलतः
तरहसे ही हो, जगत्में सर्वथा एकही आत्मा है, आत्म-
नहीं है ॥८८॥२॥

टीका ।

पहले मन्त्रमें पिण्डके विचारसे आत्माका लक्ष्य कराकर इस
से ब्रह्माण्डकी वहिर्दृष्टिसे आत्माकी स्वरूपोपलब्धि कराने-
प्रयत्न किया गया है । जैसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विचार करके
मानुसन्धान करनेकी शैली है, वैसे ही दूसरी शैली यह है कि,
ाण्डके विशेष-विशेष भागोंमें सर्व्वव्यापक ब्रह्मसत्ताका दर्शन
ा जाय, ऐसा करनेसे भी आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें सहायता होती
सर्वत्र गमनशील प्राणरूपसे जो सत्ता है, वह भी ब्रह्म ही
इसकारण उसको 'हंस' कहते हैं । अधः, ऊर्द्ध्व, मध्य-
का प्रकाशक सूर्य्य भी वही है, इसकारण 'शुचिषत्' है ।
भूतोंमें मणिकी मालामें सूत्रके समान उनकी स्थिति होनेसे

'वसु' कहाते हैं। पृथ्वी-गोलकका वेष्टनरूप जो अन्तरिक्ष है,
समें वायुके नाना स्तररूपसे वही विद्यमान हैं, इसकारण
न्तरिक्षसत् है। मध्यशक्ति-विशिष्ट अग्नितत्त्वमें उनका अव-
थान होनेसे वे होता कहाते हैं। जिसप्रकार यज्ञीय-पदार्थका
ाधार वेदी होती है, उसीप्रकार यावत् प्रपञ्चका आधार पृथ्वी
। इसीकारण यज्ञकी वेदी पृथ्वीकी ही प्रतिकृति मानी जाती
। अतः पृथ्वीरूपा वेदी और यज्ञकी वेदीके सम्बन्धसे वे वेदि-
त् हैं। यज्ञीय कलश (दुरोण) में सोमरूपसे आहूत होनेसे
दुरोणसत् कहाते हैं। वे ही अतिथिरूपसे गृहमें उपस्थित
ाकर गृहीको पवित्र करते हैं, इसकारणसे अतिथि कहाते हैं।
र्णावयव जीवरूपी मनुष्यमात्रमें ही उनकी पञ्चकोषोंपूर्ण करने-
ाली पञ्चकला विद्यमान है। यही कारण है कि, चतुर्विध-
ूतसङ्घ धर्माधर्मके अधिकारी नहीं होते, एकमात्र मनुष्य ही
र्माधर्म प्राप्त करनेका अधिकारी होता है। इसकारण वे नृपत्
हाते हैं। अलौकिक दैवी-शक्तियोंके अधिकारी देवपिण्डमें
नका अवस्थान होनेसे वे 'वरसत्' हैं। 'ऋत' शब्दसे श्रद्धा,
त्य और यज्ञका बोध होता है। श्रद्धाके द्वारा गुरु और
पास्यदेवके दर्शन होते हैं, श्रद्धासे ही सब कर्मोंकी उत्तम फलो-
ात्ति होती है। श्रद्धा ही सब अभ्युदयका मूल है। सत्यके
वलम्बनसे निःश्रेयसका मार्ग सदा खुला रहता है। धर्म और
ज्ञ दोनों पर्य्याय-वाचक शब्द हैं। इसकारण यावत् यज्ञ-
ाधनसे अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। इसकारण

वे 'ऋतसत्' हैं। आकाश अनादि अनन्त और सर्वव्यापक है। विराट् अनादि अनन्त देश उसका यथार्थ स्वरूप है। वह उनकी प्रतिकृति है, इसकारण 'व्योमसत्' हैं। जलसे उत्पन्न यावत् पदार्थ वही है, इसकारण 'अब्जा' है। पृथ्वीसे उत्पन्न यावत् पदार्थ वही है, इस कारण 'गोजा' है। यज्ञसे वृष्टि और वृष्टिसे यावत् अन्नादिकी उत्पत्ति होती है, इसकारण वह 'ऋतजा' है। पर्वतसे उत्पन्न यावत् पदार्थ भी वही है अतः वह 'अद्रिजा' है। सत्य ही ब्रह्म है। क्योंकि सत्यमें 'अस्ति' और 'भाति' दोनोंका विकाश है। जो जैसा है, उसका वैसा ही रूप 'अस्ति'भावका प्रकाशक है, और जो जैसा है, उसका वैसा ही अनुभव होना यह 'भाति' का प्रकाशक है। इसकारण ऋतरूप हैं। और वे बृहत् इस कारण हैं कि, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड उनके अङ्गमें स्थित है। इसी कारण वे ब्रह्म कहाते हैं। तात्पर्य्य यह है कि, जैसे गायकरूप-धर्मी, गायनशक्ति और गानरूपधर्म एक ही सम्बन्ध-गुम्फित है, उसीप्रकार जो मनुष्य ब्रह्म, और ब्रह्मशक्ति एवं यावत् सृष्टि-प्रपञ्चको एकरूपमें देखनेमें समर्थ होता है, वही स्वस्वरूपकी उपलब्धि करनेमें समर्थ होता है ॥८८॥२॥

ऊर्द्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥८६॥३॥

प्राणं (प्राणवायुं) ऊर्द्ध्वं उन्नयति (ऊर्द्ध्वगतिमत्तया प्रेरयति) अपानञ्च (वायुं) प्रत्यक् (अधो) अस्यति (क्षिपति प्रेरयति), मध्ये (हृदि)

आसीनं (अवस्थितं) (तं) वामनं (भजनीयं) विश्वे (सर्वे) देवाः (चक्षुराद्यः) उपासत इति ॥८९॥३॥

मन्त्रार्थ ।

(जो) प्राणवायुको ऊपर लेजाता है, अपानको नीचे लेजाता है, हृदयमें विराजमान तथा उपास्य (उस) वामनकी समस्त इन्द्रियां उपासना करती हैं ॥ ८६ ॥ ३ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

आत्मनः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते—ऊर्ध्वं हृदयात् प्राणं प्राणवृत्तिं वायुमुन्नयति ऊर्ध्वं गमयति। तथाऽपानं प्रत्यक्—अधोऽस्यति क्षिपति य इति वाक्यशेषः। तं मध्ये हृदय-पुण्डरीकाकाशे आसीनं बुद्धावभिव्यक्तविज्ञानप्रकाशनं, वामनं वर्णनीयं सम्भजनीयं, विश्वे सर्वे देवाः चक्षुरादयः प्राणा रूपादिविज्ञानं बलिमुपाहरन्तो विश इव राजानमुपासते, तादर्थ्येनानुपरतव्यापारा भवन्तीत्यर्थः। यदर्था यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्यापाराः, सोऽन्यः सिद्ध इति वाक्यार्थः॥ ८६ ॥ ३ ॥

भाष्यानुवाद ।

आत्माका स्वरूप प्राप्तिके लिये लक्षण कह रहे हैं,—(जो) प्राण अर्थात् प्राण-वायुकी क्रियाओंको हृदयसे ऊर्द्ध्व ले जाता है, और अपानको नीचे प्रेरित करता है, श्रुतिमें "यः" पद अव्यक्त है, हृदय-कमलरूपी आकाशमें विराजमान, बुद्धिमें जिसका ज्ञान अभिव्यक्त या प्रकाशित होता है, भजनीय उस वामनकी चक्षुरादि प्राण या इन्द्रियगण, प्रजा जैसे उपहारादि देकर राजाकी उपासना करती है, उसीप्रकार रूपादिविषयोंका

अनुभव करती हुई उपासना करती हैं। तात्पर्य्य यह है कि, उसी आत्माके अर्थ इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापारमें लगी रहती हैं। प्राणादि इन्द्रियोंके व्यापारसमूह जिसके लिये और जिसकी प्रेरणासे सम्पन्न होते हैं, वह इन इन्द्रियोंसे पृथक् स्वतन्त्र है, यह वाक्यार्थ है ॥ ८६ ॥ ३ ॥

टीका ।

स्वस्वरूपकी उपलब्धिके अभिप्रायसे आत्मानुसन्धान अन्य प्रकारसे किया जाता है। शरीरमें आकर्षण-विकर्षण-शक्तिकी प्रत्यक्ष क्रिया श्वास-प्रश्वास है। प्राण और अपानकी शक्ति उनका कारण है, एक प्राणकी शक्ति है, जो ऊपरको खींचती है, दूसरी अपानकी शक्ति है, जो नीचेको खींचती है। यही कालकी लीलाका क्षेत्र है। आकर्षण-विकर्षण शक्तिमयी कार्य्य-रूपसे प्राण और अपानरूपधारी क्रियायें पिण्डमें जीवनी-शक्तिकी रक्षा करती हैं। इन दोनों क्रियाओंके स्थगित होते ही पिण्ड प्राण-शून्य हो जाता है। मृत्युलोकमें इसीका नाम मृत्यु है। जबतक पिण्डमें आत्माका निवास रहता है, तबतक उसमें प्रकृतिकी आकर्षण-विकर्षण-क्रिया बनी रहती है। इस आकर्षण-विकर्षण-क्रियाके द्वारा प्रकृतिका स्वरूप और दोनोंकी सन्धिमें पुरुषके स्वरूपका स्वानुभव प्राप्त करनेयोग्य है। इसीकारण अजपा जपकी इतनी महिमा है। इन दोनों शक्तियोंके अवलम्बनसे ही अजपा जपके द्वारा इन दोनोंसे अतीत और इनके मध्यमें स्थित आत्माकी उपलब्धि करनेयोग्य

है । वह पिण्डरूपी राज्यका अधीश्वर, सब इन्द्रियोंका द्रष्टा और नियामक है । इसप्रकारसे समझकर आकर्षण और विकर्षण-क्रियासे अतीत हो स्वस्वरूपका स्वानुभव प्राप्तकरना चाहिये ॥ ८६ ॥ ३ ॥

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत् ।६०।४।

शरीरस्थस्य अस्य देहिनः (देहवतो) विस्रंसमानस्य (देहं त्यजतः) देहात् विमुच्यमानस्य (सतः) अत्र (देहे) किं परिशिष्यते ? (न किञ्चिदपि इत्यर्थः) एतद्वै तदिति ॥ ६० ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ ।

शरीरस्थ इस देहीके देहसे निकल जानेपर यहां क्या अवशिष्ट रहता है ? (कुछ भी नहीं रहता है) यह भी वही है॥६०॥४॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

किञ्च,—अस्य शरीरस्थस्य आत्मनो विस्रंसमानस्य अवस्रंसमानस्य भ्रंशमानस्य देहिनो देहवतः। विस्रंसनशब्दार्थमाह-देहात् विमुच्यमानस्येति। किमत्र परिशिष्यते प्राणादिकलापे, न किञ्चन परिशिष्यते; अत्र देहे पुरस्वामि-विद्रवण इव पुरवासिनाम्। यस्य आत्मनः अपगमे क्षणमात्रात् कार्य्य-कारण-कलापरूपं सर्वमिदं हतबलं विध्वस्तं भवति विनष्टं भवति; सोऽन्यः सिद्धः ॥ १० ॥ ४ ॥

भाष्यानुवाद ।

और भी कहते हैं,—इस शरीरस्थ देही आत्माके विस्रंसमान या भ्रंसमान होनेपर, विस्रंसन् शब्दका अर्थ श्रुति स्वयं कहती है—

देहसे वहिर्गत होनेपर प्राणादिकलापमय इस देहमें क्या अव-शिष्ट रहता है, कुछभी नहीं रहता है। पुरस्वामीके अभावसे जिसप्रकार पुरवासिगण विध्वस्त हो जाते हैं, उसीप्रकार जिस आत्माके अभावसे कार्य्य-कारणात्मक यह सभी तत्क्षण वलहीन, विध्वस्त–विनष्ट हो जाता है, वह आत्मा इन सवसे पृथक् प्रमाणित हुआ ॥ ९० ॥ ४ ॥

टीका ।

अव देह-देहीका सम्वन्ध दिखाकर आत्माका अनुभव कराते हैं। वह सम्वन्ध दो प्रकारसे दिखाया जाता है, एक तो उन लोगोंके लिये जो देहको ही सव कुछ समझते हैं, और दूसरा विशेषज्ञके लिये, जो तीनों शरीरसे अतिरिक्त आत्माको मानते हैं। तात्पर्य्य यह है कि, जब देही अर्थात् देहस्थ आत्मा चेतन स्थूलशरीरको छोड़ता हुआ और सब शरीरों अर्थात् सूक्ष्म-शरीर और कारण शरीरसे अलग हो जाता है, तो कुछ भी अवशेष नहीं रहता अर्थात् देहातिरिक्त जो कुछ है, सो वही आत्मा है ॥ ९० ॥ ४ ॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ९१ ॥ ५ ॥

कश्चन (कश्चिदपि) मर्त्यः (मरणधर्मा मनुष्याः) प्राणेन न जीवति, अपानेन (च) न (जीवति) । तु (पुनः) इतरेण (तद्विलक्षणेन) जीवन्ति (प्राणान् धारयन्ति), यस्मिन् एतौ (प्राणापानौ) उपाश्रितौ (अधीनतया वर्त्तते) ॥ ९१ ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ ।

कोईभी मनुष्य प्राण या अपानके द्वारा जीवित नहीं रहता है, किन्तु ये दोनों जिसके आश्रित हैं, ऐसे किसी अन्यके द्वारा ही जीवित रहता है ॥ ६१ ॥ ५ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

स्यान्मतं—प्राणापानाद्यपगमादेवेदं विध्वस्तं भवति; न तु तद् व्यतिरिक्तात्मापगमात् प्राणादिभिरेवेह मर्त्यो जीवतीति। नैतदस्ति—न प्राणेन, न अपानेन चक्षुरादिना वा मर्त्यो मनुष्यो देहवान् कश्चन जीवति न कोऽपि जीवति । न ह्येषां परार्थानां संहत्यकारित्वाज् जीवनहेतुत्वमुपपद्यते । स्वार्थेनासंहतेन परेण केनचिदप्रयुक्तं संहतानामवस्थानं न दृष्टम्, यथा गृहादीनां लोके, तथा प्राणादीनामपि संहतत्वाद् भवितुमर्हति । अत इतरेणैव संहत-प्राणादि-विलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तो जीवन्ति प्राणान् धारयन्ति । यस्मिन् संहत-विलक्षण आत्मनि सति परस्मिन् एतौ प्राणापानौ चक्षुरादिभिः संहतावुपाश्रितौ; यस्य असंहतस्यार्थे प्राणापानादिः सर्वं स्वव्यापारं कुर्वन् वर्त्तते संहतः सन् स ततोऽन्यः सिद्ध इत्यभिप्रायः ॥ ६१ ॥ ५ ॥

भाष्यानुवाद ।

शंका होसकती है कि, प्राणादिवायुके निकल जानेके कारण ही यह (शरीर) विनष्ट हो जाता है, प्राणादिके अतिरिक्त आत्माके निकल जानेसे नहीं । क्योंकि विनाशशील प्राणिगण प्राणादिके द्वाराही जीवन धारण करते हैं ? नहीं, ऐसा नहीं है ।

मर्त्य—मनुष्य अर्थात् कोईभी देहधारी प्राणके द्वारा अथवा अपानके द्वारा या चक्षुरादि इन्द्रियोंके द्वारा जीवन धारण नहीं करता । क्योंकि ये सभी संहत्यकारी और परार्थ हैं, अतः जीवनधारणके कारण नहीं हो सकते हैं । जगत्में स्वार्थ और असंहत किसी अन्यके द्वारा परिचालित न होकर जिसप्रकार गृहादि किसी संहत वस्तुका अवस्थान नहीं देखा जाता, अतः प्राणादि संहतहोनेसे इस विषयमें भी ऐसी ही होना उचित है । अतएव प्राणादि संहतसे विलक्षण किसी अन्यके द्वारा सब संहत होकर जीवित रहते हैं । संहतसे विलक्षण जिस परमात्माके रहनेसे ये प्राण और अपान चक्षुआदि इन्द्रियोंके साथ संहत होकर वर्त्तमान रहते हैं, जिस असंहतके लिये प्राण-अपानादि संहत होकर अपना-अपना व्यापार करते हैं, वह असंहत प्राणादिसे पृथक् है, यह इसके द्वारा सिद्ध हुआ ॥ ६१ ॥ ५ ॥

टीका ।

अब अन्यप्रकारसे आत्माका अनुभव प्राप्त करानेका प्रयत्न किया जाता है । देहमें सब समय प्राण और अपानकी क्रिया देखनेमें आती है; और साधारण दृष्टिसे यही जाना जाता है कि, प्राणापानके आकर्षण-विकर्षणकी यह क्रिया शरीरस्थ सब क्रियाओंका मूल है, इसकारण शक्तिसे शक्तिमान्का लक्ष्य कराया जाता है । चित्सत्ताके अवलम्बनसे मनुष्य जीवित रहता है, प्राणापानके अवलम्बनसे नहीं । प्राणापान-क्रिया जिस शक्तिका स्वरूप है, वह जड़-शक्ति, चेतन आत्माके ही आश्रयसे

स्थित है। शक्ति-सम्बन्धसे वही शक्तिमान् है, वही पुरुष है, वही वह आत्मा है ॥९१॥५॥

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्मसनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ९२ ॥ ६ ॥

हे गौतम ! हन्त ते (तुभ्यं) इदं गुह्यं सनातनं ब्रह्म प्रवक्ष्यामि, आत्मा मरणं प्राप्य च यथा भवति (तच्च प्रवक्ष्यामि) ॥ ९२ ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ ।

हे गौतम ! यह गोपनीय सनातन—नित्य ब्रह्म तुमको कहता हूं, और मृत्युके बाद आत्माकी जैसी दशा होती है, सो भी तुमको कहता हूं ॥ ९२ ॥ ६ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

हन्त इदानीं पुनरपि ते तुभ्यं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म सनातनं चिरन्तनं प्रवक्ष्यामि । यद्विज्ञानात् सर्वसंसारोपरमो भवति अविज्ञानाच्च यस्य मरणं प्राप्य यथाऽऽत्मा भवति—यथा संसरति, तथा शृणु, हे गौतम ! ॥ ९२ ॥ ६ ॥

भाष्यानुवाद ।

हे गौतम ! अब पुनः तुम्हारे लिये यह गुह्य अर्थात् गोपनीय सनातन अर्थात् चिरन्तन ब्रह्मको कहता हूं, जिसको जाननेसे संसारसे निवृत्ति होजाती है। और जिसको नहीं जाननेसे आत्मा मृत्यु प्राप्त होकर जिसप्रकार होता है अर्थात् जिसप्रकार संसारमें आता है, सो सुनो ॥ ९२ ॥ ६ ॥

टीका ।

इस मन्त्रमें पूर्वकथित आश्रय और आश्रित-सम्बन्धके रहनेसे जो बद्ध दशा होती है, उससे बचानेके लिये सूचना की गयी है । शक्तिमान् और शक्ति, द्रष्टा और दृश्य, इनका परस्पर सम्बन्ध जब अज्ञानसे बना रहता है, तभी जीवत्व होता है, वही बद्ध दशा है । शुद्ध, निर्लिप्त, चिन्मय आत्मा, जिसका स्वरूप समझानेके लिये पहले मन्त्रोंमें बहुत प्रयत्न हुआ है, वह यदि अज्ञानवश फंसा रहे, तो आवागमन-चक्रमें फंसकर उसको जन्मान्तरकी प्राप्ति होती रहती है ॥ ९२ ॥ ६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ९३ ॥ ७ ॥

अन्ये (केचन) देहिनः यथाकर्म यथाश्रुतं (स्वस्वकर्मविद्यानुसारेण) शरीरत्वाय (शरीरग्रहणार्थं) योनिं प्रपद्यन्ते । अन्ये (देहिनः) स्थाणुं (स्थावरदेहं) अनुसंयन्ति (प्राप्नुवन्ति) ॥ ९३ ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ ।

अपने-अपने ज्ञान और कर्मके अनुसार कोई कोई देही शरीरग्रहणके लिये योनिमें प्रवेश करता है; कोई-कोई स्थावर-देह प्राप्त करता है ॥ ९३॥७ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

योनिं योनिद्वारं शुक्र-बीज-समन्विताः सन्तोऽन्ये केचिदविद्यावन्तो मूढाः प्रपद्यन्ते, शरीरत्वाय शरीर-ग्रहणार्थं देहिनो देहवन्तः, योनिं प्रविशन्तीत्यर्थः । स्थाणुं वृक्षादिस्थावरभावं, अन्ये अत्यन्ताधमा मरणं प्राप्य अनुसंयन्ति

अनुगच्छन्ति । यथाकर्म—यद् यस्य कर्म, तद् यथाकर्म यैर्यादृशं कर्म इह जन्मनि कृतं, तद्वशेन इत्येतत् । तथा च यथाश्रुतं—यादृशञ्च विज्ञानमुपार्जितं, तदनुरूपमेव शरीरं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः, "यथाप्रज्ञं हि सम्भवाः" इति श्रुत्यन्तरात् ॥ ९३॥७ ॥

भाष्यानुवाद ।

कोई अज्ञानी मूढ़ देही शरीर-ग्रहणके लिये शुक्र-बीज-समन्वित होकर योनि-द्वारमें प्रवेश करते हैं, दूसरे जो और भी अधम होते हैं, वे मरणके बाद स्थाणु अर्थात् वृक्षादि स्थावर-भावको प्राप्त होते हैं । जिसका जैसा कर्म अर्थात् इस जन्ममें जिसने जैसा कर्म किया है, उसके अनुसार और जिसने जैसा ज्ञान उपार्जन किया है, तदनुसार ही शरीर प्राप्त करता है। अन्य श्रुतिमें कहा है—"जैसा ज्ञान होता है, उसीके अनुसार जन्म होता है" ॥ ९३॥७ ॥

टीका ।

आहार, निद्रा, भय, मैथुन, ज्ञान और सुखेच्छा, इसप्रकारसे ये छः वृत्तियां जीवमात्रमें स्वभावसे रहती हैं । चाहे उद्भिज्ज हो, चाहे स्वेदज हो, चाहे अण्डज हो, चाहे जरायुज हो, चाहे मनुष्य हो, सबमें प्रथम दो तमोगुणकी, दूसरी दो रजोगुणकी, और तीसरी दो सत्त्वगुणकी, वृत्तियां समानरूपसे विद्यमान रहती हैं । केवल मनुष्य-पिण्डमें जब जीव पहुंचता है, तब उसमें सदसत् कर्मका अधिकार प्राप्त होता है । उसीके द्वारा वह धर्माधर्मका अधिकारी होता है । साथ ही साथ सदसत्

विवेकरूपी ज्ञानाधिकार भी उसको प्राप्त होता है, जिसके द्वारा वह कर्म करनेमें कुछ स्वाधीनता भी लाभ करता है। इसप्रकार कर्माधिकार और ज्ञानाधिकार प्राप्त करके मनुष्य अधर्म और धर्म-जनित पाप-पुण्यका अधिकारी भी होता है। अज्ञानके कारण जिसको आत्माका स्वानुभव प्राप्त नहीं होता है, ऐसा बद्ध जीव मृत्युके अनन्तर अपने अपने सत् और असत् कर्म तथा उत्तम एवं अधम ज्ञानके तारतम्यके अनुसार प्रेतादिलोकोंमें घूमता हुआ पुनः इस मृत्युलोकमें जन्म-ग्रहण करता है। उस समय या तो योनि-द्वारमें प्रवेश करके स्थूल शरीर प्राप्त करता है, अथवा स्थावरत्व प्राप्त करता है। चतुर्विध भूतसंघके तत्ववेत्ता मुनियोंका यह सिद्धान्त है कि, यद्यपि उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज और पूर्णावयव मनुष्य, सबमें ही स्त्री और पुरुषके संयोग-जनित मैथुनी सृष्टि होती है, वृक्षादि उद्भिज्ज-सृष्टिमें भी स्त्री-वृक्ष और पुरुष-वृक्ष अथवा स्त्री-पराग और पुरुष-परागके सम्बन्धसे यह मैथुनी सृष्टि-क्रिया सम्पादित होती है, परन्तु उद्भिज्ज-सृष्टिमें तत्वतः योनिका कार्य्य पृथिवी करती है। क्योंकि, बीज पृथिवीमें बोये जानेपर उससे अङ्कुरोत्पत्ति होती है। उसी प्रकार स्वेदज-सृष्टिमें योनिका कार्य्य पृथिवी,जल, रक्तादि अन्य तत्व करते हैं। तात्पर्य्य यह है कि, अण्डज, जरायुज और मनुष्य-सृष्टिमें मातृ-गर्भका सम्बन्ध रहता है उद्भिज्ज स्वेदजके स्थाणु सृष्टिमें ऐसा नहीं रहता। इसीकारण सर्वदर्शी वेद इस मन्त्रद्वारा प्रकाशित करते हैं कि, जब जीव आवागमन-

चक्रके द्वारा आकर पुनः इस मृत्युलोकमें जन्म लेता है, तब वह योनिद्वारमें प्रवेश करके स्थूल शरीर प्राप्त करताहै अथवा अन्य प्रकारसे वृक्षादियोनिको प्राप्त करता है। पूर्वजन्मोंमें वह अज्ञानान्ध और आत्म-विमुख जीव जिस प्रकारके उत्तम, मध्यम और अधम कर्मका संग्रह करता है। तथा जिस श्रेणीका ज्ञानसंग्रह करता है, उसीप्रकारका स्थूल शरीर उसको कर्म-फल-भोगके लिये दूसरे जन्ममें मिलता है ॥ ९३॥७ ॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्म्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥ ९४॥८ ॥

य एष पुरुषः सुप्तेषु कामं (भोग्यविषयं) कामं (स्वेच्छानुसारेण) निर्मिमाणः (सम्पादन् सन्) जागर्ति; तत् (सः पुरुषः) एव शुक्रं (शुद्धं) तत् (एव) ब्रह्म, तत् एव अमृतम् (अनश्वरं) उच्यते। सर्वे-लोकाः तस्मिन् (परमकारणे ब्रह्मणि) श्रिताः (आश्रिताः)। कश्चन् उ (कश्चिदपि) तत् (ब्रह्म) न अत्येति (अतिक्रम्य न वर्त्तते)। एतद्वै (एतदेव) तत् ॥ ९४॥८ ॥

मन्त्रार्थ ।

सुप्त दशामें जो यह पुरुष इच्छानुसार काम्य-विषयोंको निर्माण करते हुए जाग्रत रहता है, वही शुद्ध, वही ब्रह्म और अमृत-अविनाशी कहाता है। सम्पूर्ण लोक उसीमें आश्रित हैं। उसको कोई भी अतिक्रम नहीं कर सकता है, यह भी वही है ॥९४॥८॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

यत् प्रतिज्ञातं गुह्यं ब्रह्म प्रवक्ष्यामीति तदाह—य एष सुप्तेषु प्राणादिषु जागर्ति—न स्वपिति। कथम्—कामं कामं तं तमभिप्रेतं स्त्र्याद्यर्थमविद्यया निर्मिमाणो निष्पादयन् जागर्ति पुरुषो यस्तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं, तद्ब्रह्म नान्यद् गुह्यं ब्रह्मास्ति। तदेव अमृतं अविनाश्युच्यते सर्वशास्त्रेषु। किञ्च पृथिव्यादयो लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मणि आश्रिताः सर्वलोककारणत्वात् तस्य। तदु नात्येति कश्चनेत्यादि पूर्ववदेव॥ ९४॥ ८॥

भाष्यानुवाद।

"गुह्य ब्रह्मस्वरूप कहूँगा" कहकर जो प्रतिज्ञा हुई है, सो कह रहे हैं,—यह जो पुरुष प्राणादिके सुप्त होनेपर भी जाग्रत रहता है, सोता नहीं। किस प्रकार? काम्यमान स्त्रीआदि विषयोंको अविद्याके द्वारा निर्माण करते हुए जो पुरुष जाग्रत रहता है, वही शुक्र—शुभ्र वही ब्रह्म है, उससे पृथक् दूसरा कोई गुह्य ब्रह्म नहीं है। सब शास्त्रोंमें वही अमृत या अविनाशी कहाता है। पृथिवी आदि सब लोक उसी ब्रह्ममें आश्रित हैं, क्योंकि वही सबका कारण है। कोई भी उसको अतिक्रम नहीं कर सकता इत्यादि पूर्ववत् ही है॥ ९४॥ ८॥

टीका।

आत्माका स्वानुभव जो वाक्, मन और बुद्धिसे अतीत है, उसको शब्दद्वारा नानाप्रकारसे समझानेका प्रयत्न करते हुए जीवकी अज्ञान-दशाका वर्णन प्रसङ्गसे करते हुए अब इस मन्त्रमें पुनः जीवकी स्वाभाविक दशामें उसी तत्त्वातीत

पद्को लक्ष्य करा रहे हैं। बद्ध जीव जब जाग्रत् अवस्थासे सुप्त अवस्थाको प्राप्त होता है, ऐसी जड़ावस्थामें जो चेतन जागता रहता है, वही आत्मा है। गाढ़ निद्रासे उठकर निद्रा-विमुक्त जीव जब कहता है कि "मैं बहुत अच्छा सोया" यह अनुभव दिलानेवाला सुषुप्ति-दशामें भी जो ज्ञानरूपसे स्थित चेतन है, वही ब्रह्म है, वही आत्मा है। इस मन्त्रमें विषयादि-का निर्मातारूपसे जिसको लक्ष्य कराया गया है, सर्वाश्रय होनेसे उसका ऐसा होना सम्भव ही है। इसकारण शंकाका अवसर ही नहीं है। अघटन-घटना-पटीयसी सर्वशक्तिमयी ब्रह्म-प्रकृति ब्रह्मके आश्रयसे ही सृष्टि-स्थिति-लय-कारिणीरूपसे नित्य स्थित है। वे ही सुप्तावस्थामें जाग्रत् रहते हैं, और वे ही प्रकृतिके द्रष्टा भी हैं। वही पुरुष ब्रह्मशब्द–वाच्य है। यह भी वही है॥ ८४॥ ८॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ ६५॥ ६॥

यथा एक अग्निः भुवनं प्रविष्टः (सन्) रूपं रूपं प्रति प्रतिरूपः (तत्तदुपाधि-सदृशप्रकाशः) बभूव, तथा सर्वभूतान्तरात्मा (सर्वेषां भूतानां अभ्यन्तरस्थ आत्मा) एकः (एव सन्) रूपं रूपं (प्रतिदेहं) प्रतिरूपः (तत्तद् देहोपाध्यनुरूपः) बहिः च (स्वयमविकृत एव) (तिष्ठति) ॥ ९५ ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ।

एक ही अग्नि जिस प्रकार जगत्में प्रविष्ट होकर नाना रूप-में परिणत होती है, उसी प्रकार सब भूतोंके अभ्यन्तरमें स्थित एक ही आत्मा नानारूपमें प्रतीयमान होता है और सबके बाहर भी है॥ ६५॥ ६॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

अनेक-तार्किक-कुबुद्धि-विचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नमपि आत्मैकत्वविज्ञानमसकृदुच्यमानमपि अनृजुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसि नाऽऽधीयत इति तत्प्रतिपादने आदरवती पुनः पुनराह श्रुतिः–अग्निर्यथा एक एव प्रकाशात्मा सन् भुवनं—भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भुवनं—अयं लोकस्तमिमं प्रविष्टोऽनुप्रविष्टः, रूपं रूपं प्रति—दार्व्वादिदाह्यभेदं प्रतीत्यर्थः, प्रतिरूपस्तत्र तत्र प्रतिरूपवान् दाह्यभेदेन बहुविधो बभूव। एक एव तथा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां भूतानामभ्यन्तर आत्मा अतिसूक्ष्मत्वाद् दार्व्वादिष्विव सर्वदेहं प्रति प्रविष्टत्वात् प्रतिरूपो बभूव, बहिश्च स्वेनाविकृतेन रूपेणाऽऽकाशवत्॥ ९५॥ ९॥

भाष्यानुवाद।

अनेक तार्किकोंकी कुबुद्धिद्वारा जिनका अन्तःकरण विचलित या विकृत हो गया है, ऐसे कुटिलबुद्धि ब्राह्मणोंके हृदयमें, यह आत्म-एकत्व--विज्ञान प्रमाणसहित समर्थित एवं बार-बार उपदिष्ट होने परभी स्थान नहीं पाता; इसकारण उसी विज्ञानके प्रतिपादनमें आग्रह युक्त होकर श्रुति पुनः पुनः उसीका प्रतिपादन कर रही है। जिस तरह एकही अग्नि प्रका-

शात्मिका होकर भुवनमें अर्थात् सब भूत जहां उत्पन्न होते हैं, 'भुवन' शब्दवाच्य इस लोकमें प्रविष्टहोकर प्रत्येक रूप अर्थात् लकड़ी आदि प्रत्येक जलाने योग्य वस्तुओंके अनुसार प्रतिरूप होती है, यानी अलग-अलग दाह्यपदार्थोंके अनुसार बहुविध हुई है; उसीप्रकार काष्ठादिके अन्तर्गत अग्निके समान सब भूतोंके अभ्यन्तरमें विराजमान अन्तरात्मा एक होकर भी अतिसूक्ष्म होनेके कारण सब देहोंमें प्रविष्ट होकर प्रतिरूप हुआ है, तथापि बहिः अर्थात् आकाशके समान स्वरूपतः वह निर्विकार है ॥ ६५ ॥ ६ ॥

टीका ।

आत्माकी सर्वव्यापक और निर्लिप्त सत्ताका अनुभव कराने के लिये अब रूपान्तरसे कहा जाता है। जैसे पञ्चतत्त्वोंमें मध्यम तत्त्वरूपी अग्नितत्त्व पञ्चभूतात्मक सृष्टिके सब स्थलमें व्याप्त है, परन्तु जब वह प्रकट होता है, तब अपने प्रकट होने के अवलम्बनके अनुसार वह अग्नितत्त्व नानारूपोंमें प्रतीयमान होता है। अग्नि व्यापक होनेसे काष्ठमें भी निहित है, जब अरणिके द्वारा घर्षित होनेपर वह प्रकट होती है, तो रूई आदिके अवलम्बनसे वैसाही रूपधारण कर लेती है। समुद्रमें वड़वानलरूपसे, वनमें दावानलरूपसे, विद्युत्में विद्युत्-प्रभारूपसे एक ही अग्नि नानारूपको धारण करती है, वैसेही एक अद्वितीय आत्मा विभिन्न उपाधिके द्वारा विभिन्नरूपसे प्रतीयमान होता है। वह एक ही आत्मा अर्थात् पुरुष प्रकृति-संजात

संष्टिके अनन्त उपाधिके द्वारा अनन्तरूपोंमें प्रतीयमान होता है। फलतः उसीकी सत्तासे सबकी स्वतन्त्र-सत्ताके प्रतीयमान होनेपर भी वह सबसे अतीत, निर्लिप्त, चिन्मय एवं निर्विकार है ॥ ९५ ॥ ९ ॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९६ ॥ १० ॥

एक (एव) वायुः यथा भुवनं प्रविष्टः (सन्) रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव, तथा एक (एव) सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं (प्रतिदेहं) प्रतिरूपः । वहिः च (स्वेन स्वरूपेण अविकृतः तिष्ठति) ॥ ९६ ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ ।

एक ही वायु जिसप्रकार जगत्में प्रविष्टहोकर प्रत्येक वस्तुके अनुरूप अलग-अलग रूपको प्राप्त हुआ है, उसी प्रकार एक ही सर्वभूतोंका अन्तरात्मा अलग-अलग देहके अनुसार अलग-अलग रूपको प्राप्त हुआ है। तथापि वह निर्विकार है ॥ ९६ ॥ १० ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

तथाऽन्यो दृष्टान्तः,—वायुर्यथैक इत्यादि । प्राणात्मना देहेषु अनुप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेति समानम् ॥ ९६ ॥ १० ॥

भाष्यानुवाद ।

उसी प्रकार यह दूसरा दृष्टान्त है,—वायु जिस प्रकार एक

होकर भी इत्यादि । प्राणरूपसे देहमें प्रविष्ट हो प्रत्येक देहके अनुसार तदनुरूप हुआ है । बाकी सब पूर्ववत् है ॥९६॥१०॥

टीका ।

ब्रह्म-धारणाकी सिद्धिके लिये अन्य उदाहरणसे कहा जाता है कि, जैसे एकमात्र वायु व्यापक होनेपर भी अवस्था और अवलम्बन-भेदसे पिण्डमें श्वास-प्रश्वास, उद्गार, हिचकी, छींक आदिके भेदसे नानारूपसे प्रतीयमान होता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्डमें शीतल और उष्ण, मन्द और प्रबल तथा आकाशके नाना स्तरोंके भेदसे विभिन्न प्रकारसे अनुभूत होता है, वैसे ही एक और अद्वितीय आत्मा नाना उपाधिके सम्बन्धसे नाना प्रकारसे प्रतीयमान होता है । वह एक अद्वितीय आत्मा सबमें अनुस्यूत रहने पर भी सबसे अलग है ॥ ९६ ॥ १० ॥

सूर्य्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु—
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥९७॥११॥

यथा सूर्य्यः सर्वलोकस्य चक्षुः (चक्षुर्नियन्तृतया चक्षुरन्तस्थः सन् अपि) चाक्षुषैः बाह्यदोषैः न लिप्यते, तथा सर्वभूतान्तरात्मा एकः (सन् अपि) लोकदुःखेन न लिप्यते (न संस्पृश्यते) बाह्यः (असङ्गस्वभावत्वात्) ॥ ९७ ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ ।

जैसे सर्वलोकके चक्षु सूर्य्य, चक्षुके बाहरी दोषोसे लिप्त

नहीं होते, उसीप्रकार सब भूतोंका एक अन्तरात्मा लोकके दुःखोंमें लिप्त नहीं होता है ॥ ६७ ॥ ११ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

एकस्य सर्वात्मत्वे संसारदुःखित्वं परस्यैव स्यादिति प्राप्तम्; अत इदमुच्यते,—सूर्य्यो यथा चक्षुष आलोकेनोपकारं कुर्वन् मूत्र-पुरीषाद्य-शुचिप्रकाशनेन तद्दर्शिनः सर्वलोकस्य चक्षुरपि सन् न लिप्यते चाक्षुषैः अशुच्यादिदर्शननिमित्तैः आध्यात्मिकैः पापदोषैः बाह्यैश्च अशुच्यादि-संसर्गदोषैः । एकः सन् तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः । लोको ह्यविद्यया स्वात्मनि अध्यस्तया काम-कर्मोद्भवं दुःखमनु-भवति, न तु सा परमार्थतः स्वात्मनि । यथा रज्जु-शुक्तिकोपरगगनेषु सर्प-रजतोदक-मलानि न रज्ज्वादीनां स्वतो दोषरूपाणि सन्ति । संसर्गिणि विपरीतबुद्ध्यध्यासनिमित्तात् तद्दोषवद् विभाव्यन्ते । न तद्दोषैस्तेषां लेपो विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्या हि ते । तथा आत्मनि सर्वो लोकः क्रिया-कारक-फलात्मकं विज्ञानं सर्पादिस्थानीयं विपरीतमध्यस्य तन्निमित्तं जन्म-जरा-मरणादिदुःखमनुभवति, न त्वात्मा सर्वलोकात्माऽपि सन् विपरीताध्यारोप-निमित्तेन लिप्यते लोकदुःखेन । कुतः? बाह्यः। रज्ज्वादिवदेव विपरीतबुद्-ध्यध्यासबाह्यो हि स इति ॥ ९७ ॥ ११ ॥

भाष्यानुवाद ।

एक ही परमात्मा सर्वात्मा होनेके कारण संसार-दुःख भी उन्हींको होता है, (यदि) ऐसी शंका हो, इसलिये यह कहते हैं,—ज्योति द्वारा चक्षुका उपकार करनेवाले सूर्य्य जिस प्रकार

मल-मूत्रादि अपवित्र वस्तुओंके प्रकाशन द्वारा उस अपवित्र-दर्शी मनुष्यका चक्षुरूप होकर भी चक्षुके अशुचि आदि दर्शन निमित्त जो आध्यात्मिक पाप तथा अपवित्र संसर्गरूप जो बाहरी दोष हैं, उनमें लिप्त नहीं होते, उसी प्रकार सब भूतोंका अन्तरात्मा एक होकर भी संसारके दुःखमें लिप्त नहीं होते हैं। मनुष्य अपनेमें अध्यस्त अविद्याके द्वारा ही कामना और क्रियासे उत्पन्न दुःखका अनुभव करता है। वस्तुतः आत्मामें वह अविद्या नहीं है, जिस प्रकार रज्जु (रस्सी) शुक्तिका (सितुहा) ऊषर-भूमि और आकाशमें यथाक्रम सर्प, रजत (चांदी) जल और मालिन्य उनके अपने दोष नहीं हैं, केवल विपरीत बुद्धिके अध्यास-वशात् उनमें इन दोषोंकी भावना होती है, किन्तु इन दोषोंसे रज्जु आदि पदार्थोंका कुछभी लेप नहीं रहता है। क्योंकि ये सब पदार्थ विपरीतबुद्धिके अध्याससे अतीत हैं; उसी प्रकार सब लोग सर्पादिकी तरह आत्मामें क्रिया, कारक और क्रिया-फलात्मक विपरीत विज्ञानका अध्यास करके उसी अध्यासके कारण जन्म, जरा-मरणादि दुःखका अनुभव करते हैं। आत्मा सब लोकोंका आत्मा होकर भी विपरीत आरोप-जनित लोक-दुःखमें लिप्त नहीं होता है। क्योंकि वह आत्मा बाह्य, अर्थात् रज्जु आदि की तरह विपरीत बुद्धि-जनित अध्याससे अतीत है ॥ ९७ ॥ ११ ॥

टीका ।

अब अन्यप्रकारसे स्वस्वरूपानुसन्धान करा रहे हैं। जैसे

सूर्य्य ब्रह्माण्डके समष्टि और व्यष्टि सब भूतोंका प्रकाशक होने-परभी भूतोंका दोष-गुण सूर्य्यको स्पर्श नहीं कर सकता; उसी प्रकार आत्मा सब भूतोंका प्रकाशक होनेपर भी सबसे निर्लिप्त है। सूर्य्यदेव परमात्माके अधिदैव ज्योति हैं। उनका अधिभूत रूप जीवमात्रका चक्षु-गोलक है। जिस प्रकार चिन्मय आत्मा सब भूतोंका प्रकाशक है, उसीप्रकार सूर्य्यदेव जहां जो कुछ प्रकाश है, उन सबके मूल हैं। ग्रह-उपग्रहोंकी ज्योति, विद्युत् और अग्निकी ज्योति, दिनका पूर्णप्रकाश और रात्रिका अल्प प्रकाश, सबही सूर्य्यदेवसे प्राप्त होता है। जीवमात्रका चक्षु-गोलक जो कुछ देखता है, वह भी सूर्य्यदेवकी सहायतासे देखता है। शास्त्रभी यही कहते हैं कि, सूर्य्यदेव नेत्रके अधिदैव हैं। इस प्रकारसे सूर्य्यदेवका और जगत्के पदार्थोंका प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध होने परभी जगत्के शुभ, अशुभ, पवित्र, अपवित्र आदि विषय और गुण-दोषके साथ सूर्य्यदेवका कोईभी सम्बन्ध नहीं रहता है। इसी उदाहरणसे यह औदाहरण समझने योग्य है कि, चिन्मय परमात्मा जड़-चेतनात्मक सब भूतोंमें परिव्याप्त होकर द्रष्टारूपसे सबको देखते हैं। परन्तु वे किसी गुण-दोषमें अथवा किसी उपाधिमें लिप्त नहीं होते हैं। त्रिगुणमयी प्रकृतिके गुण-दोष और उसके अविद्यारूपके उपाधिसमूह उसीमें रहते हैं; प्रकृति-राज्यके पदार्थसमूह प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं और उसीमें लय होते हैं, परमात्मा उनसे सदा निर्लिप्त रहते हैं॥

॥ ६७ ॥ ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ ९८ ॥ १२ ॥

वशी (सर्वनियन्ता) यः सर्वभूतान्तरात्मा एकः (एक एव सन्) एकं (एव) रूपं बहुधा करोति, आत्मस्थं (स्वहृदयप्रकाशमानं) तम् (आत्मानं) ये धीराः अनुपश्यन्ति (साक्षात् अनुभवन्ति) तेषां (एव) शाश्वतं (नित्यं) सुखं (भवति), इतरेषां न ॥ ९८ ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ ।

सबका नियन्ता और सब भूतोंका अन्तरात्मा जो एक होकर एकही रूपको बहुधा बना लेता है, अपनेमें ही विराजमान उस आत्माको जो धीर देखते अर्थात् साक्षात्कार करते हैं, उन्हींको शाश्वत नित्य सुख प्राप्त होता है, अन्यको नहीं॥९८।१२॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

किञ्च, स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्रः एकः, न तत्समोऽभ्यधिको वा अन्योऽस्ति । वशी सर्वं ह्यस्य जगद् वशे वर्त्तते । कुतः ?—सर्वभूतान्तरात्मा । यत एकमेव सदेकरसमात्मानं विशुद्धविज्ञानरूपं नानारूपाद्यशुद्धोपाधिभेदवशेन बहुधाऽनेकप्रकारं यः करोति, स्वात्मसत्तामात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वात् । तम् आत्मस्थं स्वशरीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्याकारेणाभिव्यक्तमित्येतत् । नहि शरीरस्य आधारत्वमात्मनः, आकाशवदमूर्त्तत्वात्, आदर्शस्थं मुखमिति यद्वत् । तमेतमीश्वरं आत्मानं ये निवृत्तबाह्यवृत्तयः अनुपश्यन्ति, आचार्य्यागमोपदेशम् अनु साक्षादनुभवन्ति, धीरा विवेकिनः

तेषां परमेश्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं सुखमात्मानन्दलक्षणं भवति, नेतरेषां वाह्यासक्तबुद्धीनामविवेकिनां स्वात्मभूतमपि अविद्याव्यवधानात् ॥९८॥१२॥

भाष्यानुवाद ।

और भी, वह परमेश्वर सर्वगत स्वतन्त्र और एक हैं । उनके समान या उनसे अधिक और कोई नहीं है । वशी अर्थात् सारा जगत् उनका वशवर्त्ती है । क्योंकि (वह) सब भूतोंका अन्तरात्मा है, जिससे जो, सदा एक रस, विशुद्धविज्ञानस्वरूप एक ही आत्माको (अपनेको) अशुद्ध नामरूपादि उपाधिभेदके अनुसार बहुधा अर्थात् अनेकप्रकार करता है । क्योंकि अपनी सत्तामात्रसे ही अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्न है; आत्मस्थ अर्थात् अपने शरीरके हृदयाकाशमें, बुद्धिमें चैतन्यरूपसे प्रकाशमान, आकाशकी तरह अमूर्त (मूर्त्तिरहित), होनेसे शरीर जिनका आधार नहीं हो सकता, आदर्शमें (आइनामें) प्रतिविम्वित मुखके समान ईश्वर आत्माको जो धीर-विवेकिगण वाह्य वृत्तियोंसे शून्य होकर आचार्य्य और आगमके (वेदके) उपदेशके अनुसार साक्षात् अनुभव करते हैं, परमेश्वरभावप्राप्त उन्हींको शाश्वत नित्य आनन्द-स्वरूप सुख प्राप्त होता है । इनके अतिरिक्त जो वाह्य-विषयोंमें आसक्तचित्त और अविवेकी हैं, स्वस्वरूप होनेपर भी अविद्याका व्यवधान होनेके कारण उनको यह प्राप्त नहीं होता है ॥ ९८-१२ ॥

टीका ।

सृष्टिका यावत् दृश्य-प्रपञ्च त्रिगुणमयी प्रकृतिका ही

विलास है । ब्रह्मप्रकृति ब्रह्मके अधीन है। पुरुषकी सत्तासे ही प्रकृतिकी सत्ता है । अतः जब प्रकृति परमपुरुषके अधीन है, तो प्रकृति-विलासरूप यावत् भूतप्रपञ्च उन्हींके वशमें है, इसमें सन्देह ही क्या है । इस कारण वे वशी कहाते हैं । वे एक और अद्वितीय हैं। वे मोतीकी मालामें सूत्रके समान सब भूतोंके अन्त-रात्मा हैं । वे एक होनेपर भी बहुरूप धारण करते हैं । यद्यपि त्रिगुणमयी प्रकृति गुण-तरङ्गके घात-प्रतिघातसे समुद्रकी उर्मि-मालाके सदृश अनन्त रूपधारण करके दृश्य-प्रपञ्चका विस्तार करती है, परन्तु आत्माके चिन्मयप्रकाशसे ही दृश्य प्रपञ्चका प्रकाश होता है । यदि चेतन न हो, तो किसीका अस्तित्व ही अनुभूत न हो, इस कारण यह मानना ही पडेगा कि, वे ही प्रकृति-सञ्जात अनन्त उपाधियोंके द्वारा अनन्तरूप बना लेते हैं । इस विज्ञानका रहस्य अनुभव करके जो धीर व्यक्ति अप-नेमें इस प्रकारसे सर्वव्यापक ब्रह्मसत्ताका अनुभव करता है, उसको नित्यानन्दकी प्राप्ति होती है । स्वस्वरूपकी उपलब्धि न करने वालेको यह परमानन्द प्राप्त नहीं हो सकता है ॥९८—१२॥

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना—
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा—
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥९९--१३॥

अनित्यानां (विनाशशीलानां) नित्यः, (अविनाशी) चेतनानां चेतनः, यः एक (सन्) बहूनां (संसारिणां), कामान् (अभिलषिता-

र्थात्) विदधाति (प्रददाति), आत्मस्थं तं ये धीराः अनुपश्यन्ति, तेषां (एव) शाश्वती (नित्या) शान्तिः, इतरेषां न ॥ ६६-१३ ॥

मन्त्रार्थ ।

(जो) अनित्योंका नित्य, चेतनोंका चेतन है, एक होकर भी जो बहुतोंका अभीष्ट प्रदान करता है, आत्मस्थ उसको जो धीरगण साक्षात् करते हैं, उन्हींको शाश्वती (नित्या) शान्ति प्राप्त होती है, अन्योंको नहीं ॥ ६६-१३ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

किञ्च, नित्योऽविनाशी, अनित्यानां विनाशिनाम् । चेतनश्चेतनानां चेतयितॄणां ब्रह्मादीनां प्राणिनाम्, अग्निनिमित्तमिव दाहकत्वं, अनग्नीनां उदकादीनाम्, आत्मचैतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमन्येषाम् । किञ्च, स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः कामिनां संसारिणां कर्मानुरूपं कामान् कर्मफलानि स्वानुग्रहनिमित्तांश्च कामान् य एको बहूनाम् अनेकेषाम् अनायासेन विदधाति प्रयच्छतीत्येतत् । तम् आत्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः तेषां शान्तिरुपरतिः शाश्वती नित्या स्वात्मभूतैव स्यात्, न इतरेषां, अनेवंविधानाम् ॥ ९९-१३ ॥

भाष्यानुवाद ।

और क्या, अनित्य विनाशशील वस्तुओंका नित्य एवं चेतयितृ ब्रह्मादिकोंका भी चेतन अर्थात् अग्निके सम्पर्कसे ही जिस प्रकार जलादि पदार्थोंमें दाहकता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार आत्माके चैतन्यसे ही अन्योका चेतयितृत्व या चैतन्य है। और भी—जो सर्वज्ञ सर्वेश्वर एक होकर भी अनेक कामना-

परायण संसारिगणके कर्मानुरूप कर्मफल, तथा अपनी कृपासे भी काम्य-विषयोंको अनायास विधान करते हैं अर्थात् प्रदान करते हैं, आत्मस्थ उनको जो धीर व्यक्तिगण साक्षात् दर्शन करते हैं, उन्हींको नित्य स्वात्मस्वरूपा शान्ति अर्थात् उपरति प्राप्त होती है। अन्य जो ऐसे नहीं हैं, उनको नहीं ॥ ९९ ॥ १३ ॥

टीका ।

ब्रह्म सत्‌रूप है तथा चित्‌रूप है। उसकी वह सत्सत्ता एवं चित् सत्ता भी अविकारी और नित्य है। उसकी सत्सत्ता प्रकृतिमें प्रतिफलित होती है, और उसकी चित्सत्ता कूटस्थरूपसे सब पिण्डों-में व्याप्त है। प्रकृति त्रिगुणमयी होनेके कारण त्रिगुणसे उत्पन्न सब दृश्यप्रपञ्च विकारवान् हैं और विकारवान् होनेसे अनित्य हैं। प्राकृतिक यावत् पदार्थके अनित्य होनेपर भी एक और अद्वितीय अस्तिभावमय जो सत्सत्ता है, वह नित्य है। इस कारण यह मानना पड़ेगा कि, सब अनित्योंका वह नित्य है। ब्रह्मकी चित्सत्ता ही क्षुद्रवृक्षादि तथा पिपीलिकासे लेकर सब श्रेणीके मनुष्य और देवपिण्डोंतकमें कूटस्थ रूपसे व्याप्त है। सहज-पिण्ड, मानवपिण्ड और देवपिण्डमें उस चित्सत्ताके विकाशका तारतम्य अवश्य होता है। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि, ब्रह्मकी वह चित्सत्ता ही सब पिण्डोंमें चेतनता प्रदान करती है। इस कारण वह सब चेतनोंका चेतन है। दूसरी ओर वही ब्रह्म अपनी सगुण द्रष्टावस्थामें स्वयं निर्लिप्त रहकर भी अपनी ईश्वरीय सत्ताद्वारा सबका नियन्ता और पालक बनकर अनन्त-

कोटि-जीवोंकी कामनाओंको पूर्ण करता है। यही उस निर्लिप्त ब्रह्मका सगुण ईश्वरत्व है। ऐसे सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् परमात्माको जो धीर आत्मज्ञानी महापुरुष अपने अन्दर देखता है, अर्थात् अपने आत्मरूपमें देखता है उसीको नित्य शान्ति मिलती है अर्थात् निःश्रेयस प्राप्त होता है। जो ऐसा अनुभव नहीं करता, उस बद्ध जीवको कदापि स्थायी शान्ति नहीं मिलती ॥ ९९ ॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१००॥१४॥

अनिर्देश्यं (निर्देष्टुमशक्यम्) परमं सुखं (आत्मानन्दलक्षणम्) तत् एतत् इति मन्यन्ते। नु (वितर्के) कथं केन प्रकारेण तत् (परमं सुखं) विजानीयाम् (आत्मबुद्धिगम्यं कुर्य्याम्) भाति किमु (प्रकाशते किम् ?) विभाति वा ? ॥ १०० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ ।

अनिर्देश्य (जिस) परम सुखको (ब्रह्मज्ञगण) 'वही यह' अर्थात् प्रत्यक्ष करने योग्य समझते हैं, उसको किस प्रकार जानूं ? क्या वह प्रतिभात होता है ? क्या प्रत्यक्ष होता है ॥ १०० ॥ १४ ॥

शाङ्करभाष्यम् ।

यत्तदात्मविज्ञानं सुखम् अनिर्देश्यं निर्देष्टुमशक्यं परमं प्रकृष्टं प्राकृतपुरुषवाङ्मनसयोरगोचरमपि सत् निवृत्तैषणा ये ब्राह्मणाः, ते यत् तदेतत् प्रत्यक्षमेवेति मन्यन्ते, कथं नु केन प्रकारेण तत् सुखमहं विजानीयाम् ।

इदमित्यात्मबुद्धिविषयं आपादयेयम्, यथा निवृत्तैषणा यतयः । किमु तद्भाति दीप्यते प्रकाशात्मकं तत् यतोऽस्मद्बुद्धिगोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं दृश्यते किम्वा नेति ॥ १०० ॥ १४ ॥

भाष्यानुवाद ।

वह जो आत्मविज्ञान रूप सुख है, वह अनिर्देश्य निर्देश करनेके अयोग्य और परम उत्कृष्ट अर्थात् साधारण पुरुषोंके वाक् एवं मनके अगोचर होनेपर भी वासना-रहित जो ब्राह्मण हैं, वे इसको 'तदेतत्' अर्थात् प्रत्यक्ष ही है ऐसा समझते हैं । मैं किस प्रकारसे उस सुखको जानूं अर्थात् उन विगतवासना यतियोंकी तरह 'यह है' इस प्रकार अपनी बुद्धिका विषय करूँ? क्या वह प्रकाशित होता है अर्थात् प्रकाशात्मक है ? जिससे "मैं" इस बुद्धिका विषय होकर स्पष्टरूपसे देखा जाता है या नहीं॥१००॥१४॥

टीका ।

बुद्धिकी दो गति होती है, एक बहिर्मुखिनी और दूसरी ब्रह्ममुखिनी । इसीकारण त्रिगुण-भेदसे बुद्धिके तीन भेद शास्त्रोंने किये हैं। सात्त्विक बुद्धि वह कहाती है, जो सब भूतोंमें ऐक्य स्थापन करके अव्यय ब्रह्मभावका दर्शन करे, वह एक रस रहनेवाली बुद्धि सात्त्विक कहाती है । यह सात्त्विक बुद्धि ही ब्रह्म-समुद्रके तटपर पहुंच कर ब्रह्मीभूत हो जाती है, तब स्वरूपज्ञानका उदय बुद्धिके लय होनेपर होता है । ज्ञान भी दो प्रकारका होता है, एक तटस्थज्ञान और दूसरा स्वरूपज्ञान। जहां ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूपी त्रिपुटि रहती है, वह तटस्थज्ञान है । और

जहां यह त्रिपुटि न रहे, वह स्वरूपज्ञान कहाता है। बुद्धिके लय होनेपर और ज्ञानकी त्रिपुटिके लय होनेपर तथा द्वैतस्थिति के विलय होनेपर अपनी अस्मिता, प्रकृतिमें और प्रकृतिके ब्रह्म में विलीन हो जानेपर आत्मस्वरूपका अनुभव प्राप्त होता है। इस मन्त्रमें जो प्रश्न है, वह इसी समयके बुद्धिके विलय होनेके पूर्वका प्रश्न है। वह लोकातीत वाङ्मन और बुद्धिसे अतीत भावातीतभाव ऐसे प्रश्न द्वारा ही प्रकट होता है, अन्य प्रकारसे नहीं। पूर्व मन्त्रमें, सत्, चित् और आनन्दमय ब्रह्म के सत् और चित्, इन दोनों भावोंके अवलम्बनसे आत्मपद-लक्ष्य कराया गया है। ब्रह्मके वे दोनों भाव बुद्धिके द्वारा दूर से लक्षित कराये जा सकते हैं। जैसा कि, मन्त्रोंमें कराया गया है। परन्तु आनन्दभाव वैसा नहीं हो सकता है। अस्तिके द्वारा सद्भाव, और भातिके द्वारा चिद्भावका अनुभव होनेके अनन्तर अद्वैतस्थितिमें जब सत्, चित् और आनन्द, इन तीनों का एक साथ अनुभव होता है, उस बुद्धि और तटस्थज्ञानके विलयकी अवस्थामें परमानन्दका स्वानुभव होता है। जहां-तक बुद्धिराज्य है, जहांतक तटस्थज्ञानका अधिकार है, वहांतक द्वैतकी स्थिति है, जहांतक द्वैतकी स्थिति है, वहांतक निरानन्द अथवा परमानन्दके अभावकी अवस्था है, ऐसा समझना चा-हिये। जहांतक प्राकृतिक दृश्य है, जहांतक त्रिगुण-वैषम्य है, वहांतक चाञ्चल्य है। और जहांतक ये सब बातें हैं, वहां तत्त्वा-तीत ब्रह्मानन्दका उदय असम्भव है। अतः सत्सत्ता और

चित्सत्ताका अनुभव अलग-अलग प्राप्त करके जब बुद्धि ब्रह्म-समुद्रके तटपर पहुंच जाती है और लयको प्राप्त होने लगती है, तब उसकी दशा यही होती है कि, "किमु भाति विभाति वा" । उस तत्त्वातीत एवं भावातीत स्वरूपज्ञानकी अद्वैत अवस्थाको इस प्रकारके शब्द बिना प्रकाशित नहीं कर सकते हैं । इसी कारण श्रीभगवान्ने अनुगत शिष्यसे कहा है, "त्रैगुण्य-विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !" । फलतः मन्त्र कहता है कि, "अनिर्देश्य परम सुखको वह यह है" ऐसा मानते हैं, कैसे उसको जानूं, क्या वह प्रकाशित है ? क्या उसका अनुभव होता है ?" जब सच्चिदानन्दमय ब्रह्मसमुद्रके तटपर पहुंचकर बुद्धितत्त्व थककर लयोन्मुख होता है, तब ऐसी अवस्थाको प्राप्त करके लय हो जाता है । तब अविद्या और अस्मिताका साथ-ही-साथ लय होकर जीवका जीवत्व परमानन्द पारावारमें निमग्न हो जाता है । वही स्वस्वरूपका अनुभव है, वही परमानन्दका उदय है ॥ १००–१४ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १०१–१५ ॥

इति कठोपनिषदि द्वितीयाध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥२॥२॥

तत्र (तस्मिन्) सूर्य्यः न भाति चन्द्रतारकं (चन्द्रः तारकासङ्घश्च) न (भाति) इमाः (दृश्यमानाः) विद्युतः न भान्ति, अयम् अग्निः

कुतः । भान्तं (प्रकाशमानं) तम् (आत्मानं) एव अनु (अनुसृत्य) सर्वं (सूर्य्यादिकं ज्योतिः) भाति (प्रकाशं लभते), इदं सर्वं (जगत्) तस्य (आत्मज्योतिषः) भासा (दीप्त्या) विभाति (प्रकाशते) ॥१०१॥१५॥

मन्त्रार्थ ।

वहां सूर्य्य, चन्द्र और तारागण प्रकाशित नहीं होते, विद्युत-समूहभी प्रकाशित नहीं होते, इस अग्निकी तो बात ही क्या है। (अधिकन्तु) उसी प्रकाशमानसे ही सब भासमान होता है। यह सब उसीकी दीप्तिसे दीप्तिमान हैं ॥ १०१ ॥ १५ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

अत्रोत्तरमिदं—भाति च विभाति चेति । कथम्—न तत्र तस्मिन् स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्य्यो भाति, तद् ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः । तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयम् अस्मद्दृष्टिगोचरोऽग्निः। किं बहुना, यदिदमादित्यादिकं सर्वं भाति, तत्तमेव परमेश्वरं भान्तं दीप्यमानं अनुभाति अनुदीप्यते । यथा जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनुदहति, न स्वतः तद्वत् । तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्य्यादि विभाति । यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च । कार्य्यगतेन विविधेन भासा तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते । न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्त्तुं शक्यम्। घटादीनाम् अन्यावभासकत्वादर्शनात्, भासनरूपाणाञ्चाऽऽदित्यादीनां तद्दर्शनात् ॥ १०१ ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य गोविन्द-भगवत्पूज्यपादशिष्य श्रीमदाचार्य्य श्रीशङ्कर-भगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये द्वितीय-वल्लीभाष्यं समाप्तम् ।

भाष्यानुवाद ।

पूर्वमन्त्रोक्त प्रश्नका यह उत्तर है कि, भासितभी होता है और प्रतिभासितभी होता है। किसप्रकार? सूर्य्य सर्वका प्रकाशक होनेपरभी अपने आत्मभूत ब्रह्ममें प्रकाशित नहीं होते अर्थात् उस ब्रह्मको प्रकाशित नहीं कर सकते हैं, चन्द्र, तारा और उसीप्रकार ये विद्युतसमूहभी प्रकाश नहीं पाते। हमारे प्रत्यक्षगोचर अग्निकी तो बात ही नहीं, अधिक क्या यह जो सूर्य्यादि सब प्रकाशित हो रहे हैं, सो उसी परमेश्वर के प्रकाशमान होनेसे उन्हींके अनुगतरूपसे प्रकाश पाते हैं। जल, उल्मुक (जलती हुई लकड़ी) आदि पदार्थ जिसप्रकार अग्निके संयोगसे दाहकारी अग्निके अनुगतरूपसे दाह करते हैं, अपने स्वभावसे नहीं, उसीप्रकार ये सूर्य्यादि सब उसीकी दीप्तिसे प्रकाशित होते हैं। जिससे इसप्रकार होता है, वही ब्रह्म भात और विभात होता है, एवं कार्य्यगत विविध दीप्तिमें उस ब्रह्मकी दीप्तिरूपता स्वतः ही जानी जाती है। क्योंकि जिसकी स्वाभाविक दीप्ति नहीं होती, वह कभी अन्यको दीप्तिमान नहीं बना सकता। देखा जाता है कि, दीप्तिहीन घटादि पदार्थ दूसरेका प्रकाशक नहीं होते हैं और प्रकाशमय आदित्यादि अन्यके प्रकाशक होते हैं ॥ १०६ ॥ १५ ॥

कठोपनिषद्के द्वितीय अध्यायकी द्वितीया वल्लीका

भाष्यानुवाद समाप्त ॥ २ ॥ २ ॥

टीका।

पूर्वमन्त्रोक्त अवस्थामें समाधि थी, अद्वैतभावस्थित स्वरूपका अनुभव था; उसके अनन्तर जब पुनः व्युत्थान दशा हुई, तब कहा जाता है कि, उस सच्चिदानन्दरूपी पारावारको कोईभी प्रकाशित नहीं कर सकता है। उसमें सूर्य्य, चन्द्र, तारा और यह विद्युत्भी प्रकाशित नहीं हो सकतीं, अग्निकी तो बात ही क्या है। उसके प्रकाशित होनेपर सब उसका अनुसरण करके प्रकाशित होते हैं और उसीकी दीप्तिसे यह सब दीप्तिमान होता है। संसारमें जो प्रकाशक पदार्थ हैं, उनको लौकिक रीतिसे गिनाया गया है। पार्थिव ज्योतिमें विद्युज्ज्योति प्रधान है, इसकारण अग्निकी ज्योतिसे उसकी विशेषता दिखायी गयी है। साथ-ही-साथ ज्योतिष्मान् मण्डलो और सूर्य्यतकको गिनाकर यह कहा गया है कि, सर्वप्रकाशक आत्मा स्वयं प्रकाशमान है, सब प्रकाशितकरनेवालोंका प्रकाशक है। इसकारण यह स्वतः सिद्ध है कि, आत्माके चिन्मय प्रकाशका अनुमान किसी उदाहरणसे नहीं कराया जा सकता है। क्योंकि वह स्वयं प्रकाशरूप और सबका प्रकाशक है। इन दोनो मन्त्रोंकी सन्धिमें यह शंका हो सकती है कि, समाधिसे व्युत्थान होनेपर क्या स्वस्वरूपकी स्मृति रहती है? जब वहां बुद्धि ही नहीं पहुँचती तो स्मृतिका अस्तित्व कहां रहा? यदि ऐसा नहीं होता है, तो व्युत्थान दशामें आत्माके यावत् लक्षण कैसे कहे जा सकते हैं? इस श्रेणीकी शंकाओंका स्वानुभवप्राप्त

मुनियोके द्वारा समाधान यह है कि, मनके साथ चित्तका विलय हो जानेसे स्मृति रह ही नहीं सकती है। और बुद्धि-तत्त्व जब अस्मिताको लेकर पहले ही लय हो जाता है, तो अन्तःकरणका चिन्हमात्रभी उस पूर्ण समाधि-अवस्थामें नहीं रहता। अतः स्मृतिका अस्तित्व खपुष्पवत् है। इस अवस्थाका रहस्य यह है कि, ज्ञान चिदंश है, इसकारण सर्वव्यापक और नित्य स्थित है, तटस्थज्ञान और स्वरूपज्ञानमें भेद अवश्य है। दूसरीओर चतुर्विध भूतसङ्घके ज्ञानमें तारतम्य है और वह तारतम्य महान् है, परन्तु सब अवस्थाका जो ज्ञान है, वह ज्ञान आत्माके चिदंशसे ही सम्बन्ध रखता है। सुतरां निर्विकल्प समाधिके स्वरूपज्ञानका सम्बन्ध जब प्रकारान्तरसे व्युत्थान दशा-प्राप्त तत्त्वज्ञानीके अन्तःकरणके तटस्थज्ञानके साथ है, तो शब्दद्वारा इसप्रकारसे आत्माको जो समझानेका प्रयत्न है, वह सत्यमूलक ही है॥ १०१ ॥ १५ ॥

कठोपनिषत्के द्वितीय अध्यायका द्वितीया वल्लीकी टीका समाप्त ।

तृतीया वल्ली ।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥ १०२ ॥ १ ॥

एषः (संसाररूपः) अश्वत्थः ऊर्ध्वमूलः (ऊर्ध्वं मूलं, यस्य, सः) अवाचः (अधोवर्त्तिन्यः) शाखाः विस्तारो यस्य सः) अवाक्शाखः सनातनः (अनादिप्रवाहरूपः) तदेव शुक्रं इत्याद्यंशः पूर्ववत्॥१०२॥१॥

मन्त्रार्थ ।

यह संसाररूपी अश्वत्थ सनातन है । इसका मूल ऊपरकी ओर है और शाखायें नीचेकी ओर हैं। वही शुक्र वही ब्रह्म, वही अमृत है । सब लाक उसमें आश्रित हैं, उसको कोई अति-क्रम नहीं कर सकता है । यह भी वही है ॥ १०२ ॥ १ ।

शाङ्कर-भाष्यम् ।

तूलावधारणेनैव मूलावधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके यथैवं संसार-कार्य्यवृक्षावधारणेन तन्मूलस्य ब्रह्मणः स्वरूपावदिधारयिषया इयं तृतीया वल्ली आरभ्यते—ऊर्ध्वमूलः ऊर्ध्वं मूलं यत् तद्विष्णोः परमं पद-मस्येति सोऽयं अव्यक्तादिस्थावरान्तः संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः । वृक्षश्च व्रश्चनात्, विनश्वरत्वात् । जन्म-जरा-मरण-शोकाद्यनेकानर्थात्मकः, प्रतिक्षण-

मन्यथास्वभावो माया-मरीच्युदक-गन्धर्वनगरादिवत् दृष्टनष्टस्वरूपत्वाद-वसाने च वृक्षवदभावात्मकः, कदली-स्तम्भवन्निःसारोऽनेकशतपाखण्ड-बुद्धिविकल्पास्पदः, तत्त्वविजिज्ञासुभिरनिर्धारितेदंतत्त्वो वेदान्तनिर्धारितपर-ब्रह्ममूलसारः, अविद्या-काम-कर्माव्यक्तवीज-प्रभवः, अपरब्रह्म-विज्ञान-क्रिया-शक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः, सर्वप्राणिलिङ्गभेदस्कन्धतृष्णाजलासेकोद्भूत-दर्पोबुद्धीन्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः श्रुति-स्मृति-न्यायविद्योपदेशपलाशो यज्ञ-दान-तपाऽऽद्यनेकक्रियासुपुष्पः, सुख-दुःख-वेदनानेकरसः, प्राण्युपजीव्या-नन्तफलः तत्तृष्णासलिलावसेकप्ररूढजडीकृतदृढवद्धमूलः सत्यनामादिसप्त-लोकब्रह्मादिभूतपक्षिकृतनीडः, प्राणि-सुख-दुःखोद्भूत-हर्ष-शोकजातनृत्यगीत-वादित्रक्ष्वेलिता-स्फोटित-हसिताकृष्टरुदित-हाहा-मुञ्च-मुञ्चेत्याद्यनेक-शब्द-कृततुमुलीभूतमहारवे , वेदान्त-विहित-ब्रह्मात्म-दर्शनासङ्ग-शस्त्र-कृतोच्छेद एष संसारवृक्षः अश्वत्थः, अश्वत्थवत् काम-कर्म-वातेरित-नित्यप्रचलित-स्वभावः, स्वर्ग-नरक-तिर्यक्प्रेतादिभिः शाखाभिरवाक्शाखः । सनातनः अनादित्वाच्चिरं प्रवृत्तः । यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं, तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मत् चैतन्यात्मज्योतिःस्वभावं, तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात्, तदेवामृतं, अविनाशस्वभावमुच्यते कथ्यते, सत्यत्वात्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' अनृतमन्यदतो मर्त्यम् । तस्मिन् परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगर-मरीच्युदकमायासमाः परमार्थदर्शनाभावावगमनाः श्रिता आश्रिताः, सर्वे समस्ता उत्पत्तिस्थितिलयेषु । तदु तद् ब्रह्म नात्येति नातिवर्त्तते, मृदादिक-मिव घटादिकार्य्यं कश्चन कश्चिदपि विकारः । एतद्वैतत् ॥१०२॥१॥

भाष्यानुवाद ।

जगत्में जिसप्रकार (शेमर) वृक्षकी रूई देखनेसे उसके

मूलके अस्तित्वका अनुमान किया जाता है, उसीप्रकार कार्य्य-भूत इस संसार-वृक्षके अवधारण अर्थात् अस्तित्वके दर्शनसे उसके मूलभूत ब्रह्मके अवधारणकी इच्छासे तृतीयवल्ली आरम्भ होती है,—ऊर्ध्वमूल अर्थात् विष्णुका जो परमपद है, वही इसका मूल है, अव्यक्त (प्रकृति)से आरम्भ करके स्थावर (वृक्षादि) पर्य्यन्त यह जो संसारवृक्ष है, यह ऊर्ध्वमूल है और वृश्चन अर्थात् छेद्य (छेदनयोग्य) तथा विनश्वर होनेसे वृक्ष कहाता है । लगातार जन्म-जरा-मरणशोकादिबहुअनर्थात्मक, प्रति-क्षण अन्यथा स्वभाव, माया, मरीचि-जल और गन्धर्वनगरादि की तरह दृष्ट-नष्ट स्वभाव अर्थात् देखते-देखते नष्ट होनेवाला स्वभाव होनेसे अवसानमेंभी वृक्षकी तरह अभावमय, केलेके स्तम्भके समान असार, सैकड़ों पाखण्डियोंकी बुद्धिकी कल्पना-का विषय और तत्त्वजिज्ञासुगण जिसको 'इदंतत्त्व' अर्थात् प्रत्यक्ष निर्द्धारणमें असमर्थ हैं, वेदान्त-निर्द्धारित परब्रह्म जिसका सारभूत मूल है, अविद्या, काम, कर्म और अव्यक्तरूप (प्रकृति) बीजसे उत्पन्न, अपरब्रह्मके विज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्तिसमन्वित, हिरण्यगर्भ जिसका अङ्कुर है, समस्त प्राणियों के सूक्ष्मदेहका विभाग जिसका स्कन्ध है, तृष्णारूपी जल-सेकसे जिसकी वृद्धि होती है, बुद्धि और इन्द्रियोंका विषय जिसके नवपल्लवके अङ्कुर है, श्रुति, स्मृति और न्यायविद्याके उपदेश जिसके पत्ते हैं, यज्ञ, दान, तपस्यादि अनेक क्रियायें जिसके उत्तम पुष्प हैं, सुख-दुःख-वेदनाका अनुभव जिसका

विविध रस है, प्राणियोका उपभोग्य फल ही जिसका फल है, फल-तृष्णारूप जलसेकसे जिसके दृढ़वन्धन अर्थात् अवान्तर मूलसमूह प्ररूढ़ तथा जटिल किये गये हैं, सत्यादि नामक (भू, भुव, स्व, मह, जन, तप और सत्य) सप्तलोकस्थ ब्रह्मादिरूप पक्षियोंने जिसमें नीड़ (घोंसला) बनाया है, प्राणियोंके सुख-जनित हर्ष, दुःख-जनित शोकसे उत्पन्न नृत्य, गीत, वाद्य, क्रीड़ा, आस्फोटन अर्थात् गर्व्व दिखाना, हास्य, रोदन, आकर्षण, "हाय हाय"! छोड़ो, छोड़ो! इत्यादि बहुप्रकारके शब्द-द्वारा जिसमें महाकोलाहल मचा है, वेदान्त-विहित ब्रह्मात्म-दर्शनरूप असङ्गशस्त्रद्वारा जिसका छेदन होता है; ऐसा यह संसारवृक्ष ही अश्वत्थवृक्ष अर्थात् अश्वत्थ वृक्षकीतरह कामना और कर्मरूपीवायुद्वारा सतत चलायमान, स्वर्ग, नरक, तिर्य्यक् और प्रेतादि-देह-प्राप्तिरूप शाखा अवाक्शाख अर्थात् अधोगामीशाखायुक्त सनातन अर्थात् अनादि होनेसे चिरकालसे प्रवृत्त है। इस संसारवृक्षका जो मूल है, वही शुक्र—शुभ्र वा शुद्धज्योतिर्मय अर्थात् चैतन्य आत्मज्योति स्वभाव है, सबसे महत् होनेसे वही ब्रह्म है। सत्यस्वभाव होनेसे वही अमृत अविनाशी कहा जाता है। "विकार और कुछ नहीं है, केवल वाक्यारम्भ नाममात्र है" अन्य अनृत—मिथ्या है। अतः मर्त्य—मरणशील है। गन्धर्वनगरी, मरीचिकाजल, और मायाके समान तात्त्विक दृष्टिमें मिथ्यारूपसे प्रतीयमान यह समस्त लोक सृष्टि, स्थिति और विनाश-दशामें परमार्थ

सत्य उसी ब्रह्ममें आश्रित रहता है । घटादि कार्य्य जिसप्रकार मिट्टीको अतिक्रम करके नहीं रह सकता है, उसीप्रकार कोईभी विकार उस ब्रह्मको अतिक्रम नहीं कर सकता है । यह वही है ॥ १०२ ॥ १ ॥

टीका ।

अब कार्य्यब्रह्म और कारण-ब्रह्मकी एकता तथा दोनोंका रहस्य उद्घाटन करके स्वस्वरूपकी उपलब्धि करानेका प्रयत्न किया जाता है । सब वृक्षोंमें शक्तिशाली और विभूतिरूप अश्वत्थ वृक्षका उदाहरण देकर औदाहरण समझाया जाता है । दृश्य-प्रपञ्चरूपी कार्य्य-ब्रह्म अश्वत्थ वृक्षके समान है । उसका मूल ऊपरकी ओर है और शाखायें नीचेकी ओर हैं । उसका मूल कारणब्रह्म है । जैसे मूलके सहारेसे वृक्ष जीवित रहता है, उसीप्रकार चिन्मय ब्रह्मसत्ताके आश्रयसे ही यह दृश्य-प्रपञ्च स्थित है । तत्त्वज्ञानका सार यह है कि, पृथ्वी जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाशमें लय हो जानेपर आकाशसे परे चिन्मय पुरुषकी कल्पनाकी जाती है । इसीकारण आकाशरूपी अनन्तशय्यापर विष्णुभगवान्‌का ध्यान शास्त्र-सम्मत है । इस समष्टि विज्ञानके अनुसार कारणब्रह्मको ऊर्ध्व और कार्य ब्रह्मकी अधःकल्पना की गयी है । व्यष्टि-पिण्डमें भी इसीप्रकार अधः, उर्ध्वकी कल्पना विज्ञानानुमोदित है । पिण्डमें सहस्रदलकी कल्पना मस्तकके उपरि भागमें की गयी है, और मूलाधारमें प्रकृतिकी कल्पना की गयी है । इस विचारसेभी उर्ध्वमूल और

अधःकी काव्यमयी कल्पना स्वाभाविक है। यह अश्वत्थवृक्ष सनातन है। इस विषयमें अनेक प्रकारकी शंकायें हो सकती हैं। यथा—जब वृक्ष सनातन है, तो उसकी शाखायें भी सनातन हैं? इससे सृष्टिका नित्यत्व भी सिद्ध होता है? अतः अनित्य सृष्टि-प्रपञ्चका सनातन होना कैसे सम्भव है? जब कारणब्रह्म मूल है, और कार्य्यब्रह्म शाखाआदि है, तो ऐसे अश्वत्थ वृक्षका स्वरूप समझानेसे आत्माकी उपलब्धि कैसे हो सकती है? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि, ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिमें 'अहं ममेतिवत्' सम्बन्ध है। ब्रह्मशक्ति ब्रह्मकी ही है। दृश्य-प्रपञ्च ब्रह्मशक्तिका विलास है। जैसे एक मनुष्यके मरजानेपर अनन्तकोटि मनुष्य जीवित रहते हैं, उसीप्रकार अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरी ब्रह्मशक्ति-महामायाके अनादि-अनन्त विलासक्षेत्रमें एक ब्रह्माण्डके प्रलय होनेपर अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जीवित रहते हैं। इस विज्ञानके अनुसार जैसे कारणब्रह्म सनातन है, वैसेही उसकी प्रकृतिसंजात दृश्य-प्रपञ्चभी सनातन है। वह सभी परमपुरुष परमात्माके चिन्मय सत्ताके द्वारा सत्तावान् है। परिणामरूपी होनेसे क्या ब्रह्माण्ड क्या पिण्ड, दोनोंही सादि और सान्त हैं, परन्तु धारारूपसे सृष्टि-धारा अनादि-अनन्त है। सच्चिदानन्दमय ब्रह्मको इस महाद्रुमके मूलरूपसे अनुभव करनेपर और ब्रह्मसे ब्रह्म-प्रकृतिका सम्बन्ध जाननेपर तथा उस प्रकृतिका चतुर्विंशति तत्त्वमय महाद्रुमके अङ्ग-प्रत्यङ्गको समझ लेनेपर जब जिज्ञासुके अन्तः-

करणमें एकतत्त्वमयी सात्त्विकधृति एवं निर्विकल्पसमाधिमय सात्त्विक ज्ञानका उदय होता है, तब वह कार्य्यब्रह्म और कारणब्रह्मकी एकताका अनुभव करके अद्वैतभावापन्न हो निस्त्रैगुण्य होकर स्वस्वरूपकी उपलब्धि करनेमें समर्थ होता है॥ १०२ ॥ १ ॥

यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१०३॥२॥

यदिदं किंच सर्वं जगत् प्राणे (परस्मिन् ब्रह्मणि) निःसृतम् (उत्पन्नं सत्) एजति (यत् प्रेरणयता चेष्टते), एतत् (प्राणाख्यं ब्रह्म) महद् भयं (भयानकं) उद्यतं (उद्धृतं) वज्रं (वज्रमिव) ये विदुः ते अमृताः (मुक्ताः) भवन्ति ॥१०३॥२॥

मन्त्रार्थ।

यह जो कुछ जगत् है, सब प्राणसे उत्पन्न और उसीसे स्पन्दमान (क्रियावान्) है। जो इसको महाभय और उद्यत वज्र की तरह जानते हैं, वे अमृत होजाते हैं ॥ १०३॥२ ॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

यद्विज्ञानादमृता भवन्तीत्युच्यते, जगतो मूलं तदेव नास्ति ब्रह्मासत एवेदं निःसृतमिति। तन्न, यदिदं किञ्च यत्किञ्चेदं जगत् सर्वं प्राणे परस्मिन् ब्रह्मणि सति एजति कम्पते, तत एव निःसृतं निर्गतं सत् प्रचलति नियमेन चेष्टते। यदेवं जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्म तत् महद्भयं, महच्च तत् भयञ्च— बिभेत्यस्मादिति महद्भयम्। वज्रमुद्यतं उद्यतमिव वज्रम्, यथा वज्रोद्यतकरं स्वामिनम् अभिमुखीभूतं दृष्ट्वा भृत्या नियमेन तच्छासने प्रवर्त्तन्ते, तथेदं

चन्द्रादित्य-ग्रह-नक्षत्र-तारकादिलक्षणं जगत् सेश्वरं नियमेन क्षणमप्यविश्रान्तं वर्त्तत इत्युक्तं भवति । ये एतत् विदुः स्वात्मप्रवृत्ति-साक्षिभूतमेकं ब्रह्म, अमृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति ॥ १०३॥२ ॥

भाष्यानुवाद ।

जिसके विज्ञानसे अमर होते हैं, ऐसा कहा जाता है, जगत्का मूल उस ब्रह्मका ही तो अस्तित्व नहीं है, क्योंकि यह जगत् असत्से उत्पन्न है ? ऐसा नहीं । यह जो कुछ अर्थात् यह जो कुछ जगत् है, वह सभी प्राणरूप परब्रह्मकी सत्तासे ही स्पन्दमान होता है, उसीसे उत्पन्न होकर नियमानुसार चेष्टा करता है । यह जो जगत्की उत्पत्तिआदिका कारण ब्रह्म है, वह महद्भय अर्थात् वह महत् भी है, भय भी उससे भयभीत होता है, इसलिये महाभय है । उठायेहुए वज्रकीतरह—जिसप्रकार प्रभुको हाथमें वज्र उठाये हुए सामने आते देखकर भृत्य—सेवकगण नियमितरूपसे उसके शासनमें रहते हैं, उसीप्रकार चन्द्र, सूर्य्य, ग्रह, नक्षत्र और तारादि ईश्वरपर्य्यन्त समस्त जगत् क्षणभरभी विश्राम न करके उसके नियमाधीन रहता है । अपने कर्मका साक्षिभूत इस एक ब्रह्मको जो जानते हैं, वे अमृत अर्थात् मृत्युरहित हो जाते हैं ॥१०३॥२ ॥

टीका ।

इससे पहले मन्त्रमें कारण-ब्रह्म और कार्य्य-ब्रह्म दोनोंकी एकतासे अद्वैतपदका निर्देश कराया गया है । अब इस मन्त्र में केवल कार्य्यब्रह्मरूपी जगत्के अन्तर्निहित मौलिक शक्तिके

निर्देशसे मुक्तिपदके स्वरूपकी ओर लक्ष्य कराया जाता है। ब्रह्म-प्रकृतिकी वैषम्यावस्थामें जो क्रिया उत्पन्न करता है, वह प्राण है। प्रकृतिकी सृष्टि, स्थिति और लयकरनेवाली जो कुछ क्रियायें हैं, वे सब प्राणके अधीन हैं। इसकारण प्राणको शास्त्रोंने ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा ईश्वररूपसे वर्णन किया है। जड़ा-प्रकृतिको प्राण ही क्रिया-शक्ति-सम्पन्न करता है। प्राण ही सृष्टि के यावत् क्रियाओंका उत्पन्नकरनेवाला और नियामक है। प्रकृति-राज्यकी यावत् क्रियायें नियमबद्ध हैं। उसी नियम-बद्ध क्रियाको धर्मभी कहते हैं। इसी अवस्थासे धर्माधर्मकाभी सम्बन्ध है। समष्टि प्रकृतिके नियमानुकूल जो क्रिया है, वह धर्म है और प्रतिकूल जो क्रिया है, वह अधर्म है। इसीकारण धर्मको आश्रय करके एक छोटेसे छोटा जीव भी निर्भय होकर आगे बढ़ सकता है और अधर्मको आश्रय करके इन्द्रको परा-स्त करनेवाले त्रिलोकविजयी महिषासुरआदिकाभी पतन हो सकता है। प्राणशक्तिके इस सर्वव्यापक और जगत्नियामक स्वरूपके रहस्यको जो तत्त्वज्ञानी समझते हैं और साथ-ही-साथ अतिसावधान होकर जगत्प्राणके स्वाभाविक क्रियाकीओर लक्ष्य रखकर संसार-पथमें चलते हैं और इस नियामिका शक्ति में बाधा डालनेवाली विरुद्ध क्रियाको महाभयका कारण तथा वज्रके समान नाशकरनेवाली समझते हैं, वे मुक्तिपदको प्राप्त हो जाते हैं। प्रकृतिमें क्रिया उत्पन्नकरनेवाला प्राण जब कर्म-के बीजरूपी स्वाभाविक संस्कारके अनुसार जगदीश्वरकी इच्छा

के द्वारा क्रियाशील रहता है, तो उसकी गति आत्माकी ओर होती है और वह प्रवाह जीवको स्वतः ही मुक्तिभूमिमें पहुँचा देता है । परन्तु यदि ऐसा न हो और प्राणकी गति अस्वाभाविक हो जाय, तथा जीव अपनी अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेषादिके वशीभूत होकर अपनी इच्छा और अहंकारसे अस्वाभाविक संस्कारको उत्पन्न करता हुआ प्राणकी स्वाभाविक गति में बाधा पहुँचावे तो वह महाभयको प्राप्त होता है और वज्रका प्रहार जिसप्रकार व्यर्थ नहीं जाता है, उसीप्रकार उसपर नियामक प्राणका प्रहार वृथा नहीं जाता है । ब्रह्मप्रकृतिके नियम, उसकी नियामिका प्राण-क्रिया, उसके धर्म और अधर्म की व्यवस्था, प्रकृतिके अस्वाभाविक गतिसे बचनेका उपाय, विरुद्ध गतिसे भय और उसके शासनकी अव्यर्थताको समझकर जो तत्त्वज्ञानी महापुरुष सदा सब क्षणमें अतिसावधान रहता है, वह अवश्य ही मुक्तिभूमिमें पहुंच जाता है एवं स्वस्वरूपकी उपलब्धि कर लेता है ॥ १०३॥२ ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्य्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥१०४॥३॥

अग्निः अस्य (जगत्कारणस्य ब्रह्मणः) भयात् तपति, सूर्य्यः भयात् तपति । (अस्य) भयात् इन्द्रश्च, वायुश्च, पञ्चमः मृत्युः धावति ॥ १०४॥३ ॥

मन्त्रार्थ ।

अग्नि इन्हींके भयसे उत्ताप देती है, इन्हींके भयसे सूर्य्य

तपते हैं और इन्हींके भयसे इन्द्र, वायु एवं पञ्चम मृत्युभी धावित होती है ॥ १०४ ॥ ३ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

कथं तद्भयात् जगद् वर्त्तते इत्याह, भयात् भीत्या अस्य परमेश्वरस्य अग्निस्तपति भयात् तपति सूर्य्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति-पञ्चमः । न हीश्वराणां लोकपालानां समर्थानां सतां नियन्ता चेत् वज्रोद्यतकरवत्, न स्यात् स्वामिभयभीतानामिव भृत्यानां नियता प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥ १०४॥३ ॥

भाष्यानुवाद ।

किसप्रकार उसके भयसे जगत् प्रवृत्त है, सो कहते हैं—उन्हीं परमेश्वरके भयसे अग्नि तपती है, सूर्य्य तपते हैं, इन्द्र, वायु और पञ्चम मृत्युभी धावित होती है । क्योंकि जो स्वयं शासन-शक्ति-सम्पन्न लोकपाल और समर्थ हैं, उनका यदि वज्रोद्यत हाथके समान कोई नियन्ता न होता तो कभी भी प्रभु-भयसे भीत सेवककी तरह इन लोगोंकी नियमित कार्य्य-प्रवृत्ति नहीं होती ॥१०४॥३॥

टीका ।

कार्य्य-ब्रह्मके अन्तर्गत सर्वव्यापक आत्मोन्मुख नियामिका शक्तिको लक्ष्यमें रखकर चलनेवाले तत्त्वज्ञानी कैसे मुक्तिपदको प्राप्त करते हैं और उसका विरुद्धाचरण करनेवाले कैसे महाभयको प्राप्त होते हैं, इसका रहस्य पूर्वमन्त्रमें कहा गया है। अब सर्वशक्तिमान्‌की नियामिका शक्ति-विशेषके भयसे दैवीराज्यके

संचालकगण सदा भयभीत रहकर कैसे अपना-अपना कार्य्य यथावत् किया करते हैं सो कहा जाता है। पहले कार्य्यब्रह्म और कारणब्रह्मकी एकता प्रतिपादनद्वारा बुद्धि और धृतिको सत्त्वगुणभावापन्न किया गया। तदनन्तर दृश्यप्रपञ्चमें सर्वशक्तिमान् परमपुरुषकी नियामिका शक्ति-विशेषपर लक्ष्य रखकर महाभयसे बँचने और मुक्त होनेका पथ प्रदर्शित किया गया। अब इस मन्त्रद्वारा सर्वशक्तिमान् जगन्नियन्ताकी विशेष महिमाका कीर्तन करके सगुण और निर्गुण ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन किया जाता है। पूर्वमन्त्रमें जो महाभय और इस मन्त्रमें भय शब्दका प्रयोग है, इन दोनोंका स्वारस्य भिन्न-भिन्न है। जीवकेन्द्र की स्वविषयवासनासे उत्पन्न जीव-बन्धनकारी और नानादुःखप्रद आवागमनचक्रको स्थायी रखनेवाली जो अवस्था है, वही महाभयशब्दवाच्य है। परन्तु ईश्वरीय नियमके पालनकरनेवाले जो दैवराज्यके संचालक हैं; उनका ईश्वरीय नियम भङ्ग कदापि न हो, इस विषयकी जो उनकी दृढ़ भावना है, अथवा यों कहा जाय कि, दैवराज्यकी शृङ्खलाके दृढ़नियमके भङ्ग न होनेकी जो व्यवस्था है, वही इस मन्त्रमें 'भय' शब्द वाच्य है। जैसे एक साम्राज्यके राजप्रतिनिधिगण राजाज्ञा और राजनिर्मित नियम-भङ्ग करनेमें राजपदसे च्युत और दण्डार्ह हुआ करते हैं, वैसे ही सूर्य्यपद, अग्निपद, वायुपद, इन्द्रपद और यमपदके अधिदैव अधीश्वरगण उस सर्वशक्तिमान् अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड-नायक परमात्माके नियम-पालन करनेमें तत्पर रहते हैं और कदापि

उनका भङ्ग न हो,इसलिये भयभीत रहते हैं। यावत् ज्योति और यावत् प्रकाश जहांसे प्रत्येक ब्रह्माण्डमें पहुंचता है, वह सूर्य्य-लोक है, और उसके अधिदैव सूर्य्यदेव कहाते हैं। क्योकि जड़-क्रिया विना चेतनके कार्य्यकारी नहीं हो सकती, इसकारण सूर्य्यलोकके अधिदैवका होना विज्ञान-सिद्ध है। मध्यमतत्त्व-रूपी व्यापक अग्नितत्त्वका केन्द्र अग्निलोक है, उसके अधिदैव अग्निदेव कहाते हैं। इसीप्रकार वायुलोक और उसके अधी-श्वरको भी समझना उचित है। देवराजकी राजधानी इन्द्रपुरी स्वर्लोकमें है। सब देव जो ब्रह्माण्डमें अधिदैवकार्य्यमें नियुक्त हैं, उनके संचालक देवराज इन्द्र हैं। मृत्युलोक, प्रेतलोक, नरक-लोक और पितृलोक, इनके संयमनकरनेवाले पुण्य-पापके फल-विधाता यम हैं, उनकी राजधानी पितृलोकमें है। ये सब ही उस सर्वशक्तिमान्के दृढ़नियमके भयसे अपने-अपने दैव-कार्य्यमें सदा नियुक्त रहते हैं। अथवा यों समझा जाय कि सूर्य-की क्रिया, वायुकी क्रिया, अग्निकी क्रिया, देवराजके आज्ञाधीन देवताओंकी क्रिया और यम-धर्मराजके अधीन शासनकी क्रिया यदि बन्द हो जाय या इनमेंसे कोई एक भी बन्द हो जाय, तो सृष्टि उच्छृङ्खल होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। और सृष्टिके साथ वे स्वयं नष्ट हो जायंगे। इसप्रकारसे सर्वशक्तिमान् पर-मात्मा जो निर्लिप्त रहकरभी अपनी प्रकृतिके द्वारा कार्य्यब्रह्म-रूपी दृश्य-प्रपञ्च तथा सृष्टिके यावत् विभागोंको सुसंचालन कैसे कराते हैं, इसका रहस्य जो सदा हृदयङ्गम करता है, वह

भगवद्भावापन्न होकर अवश्य ही निःश्रेयस प्राप्त करता है॥१०४॥३॥

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥१०५॥४॥

इह (अस्मिन् एव देहे) चेद् (यदि) बोद्धुं (अवगन्तुम्) अशकत् (शक्तो भवेत्) (तदा) शरीरस्य विस्रसः (विस्रंसनात्, पतनात्) प्राक् (पूर्वमेव) (मुच्यते)। ततः (अनवबोधादेव) सर्गेषु (लोकेषु) शरीरत्वाय (देहलाभाय) कल्पते॥१०५॥४॥

मन्त्रार्थ।

यदि इसी देहमें जाननेमें समर्थ हो, शरीरान्तके पहले ही मुक्त हो जाता है (और ऐसा नहीं हो तो नाना) लोकोंमें शरीर प्राप्त करता है॥१०५॥४॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

तच्चेह जीवन्नेव चेत् यदि अशकत्—शक्नोति शक्तः सन् जानात्येतद् भयकारणं ब्रह्म बोद्धुमवगन्तुं प्राक् पूर्वं शरीरस्य विस्रसोऽवस्रंसनात् पतनात् संसारबन्धनात् विमुच्यते। न चेदशकद्बोद्धुं ततोऽनवबोधात् सर्गेषु—सृज्यन्ते येषु स्रष्टव्याः प्राणिनः इति सर्गाः—पृथिव्यादयो लोकाः, तेषु सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय शरीरभावाय कल्पते समर्थो भवति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः। तस्माच्छरीरविस्रंसनात् प्रागात्मबोधाय यत्न आस्थेयः॥१०५॥४॥

भाष्यानुवाद।

इसी देहमें अर्थात् जीवित अवस्थामें ही यदि भय-कारण ब्रह्मको जाननेमें समर्थ हो, तो शरीर-विस्रंसन अर्थात् देह-

पात होनेके पहले ही संसार-बन्धनसे विमुक्त हो जाता है। और यदि जाननेमें समर्थ न हो तो उस अवबोधके अभावसे स्रष्टव्य प्राणिगण जिन सब लोकोमें सृष्ट होते हैं, उन पृथिव्यादि लोकोमें शरीर प्राप्त करता है अर्थात् शरीर-ग्रहण करता है। अतः शरीर-पातके पहले ही आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥१०५॥४॥

टीका।

नानाप्रकारसे स्वरूपोपलब्धि करानेका प्रयत्न करके अब यह मन्त्र कहता है कि, यदि योग्य शरीर पाकर जीव आत्मानुसंधान न कर सका, तो वह पुनः जन्म-मरणके चक्रमें प्रवाहित होकर घोर क्लेश भोगकरके महाभय प्राप्त करता है। यदि आत्मज्ञानी व्यक्ति इसी जन्ममें स्वस्वरूपकी उपलब्धि कर लेता है, तो कुलाल-चक्रवत् उसका शरीर काम करते रहनेपर भी वह जीवन्मुक्त हो जाता है। और उसके शरीर छोड़ते समय उसकी चेतन-सत्ता समुद्रमें आकाश-पतित वारि-विन्दुकी तरह ब्रह्ममें लीन हो जाती है। और उसका जीव-केन्द्र नष्ट हो जानेपर उसके चतुर्विंशतितत्त्व मूलप्रकृतिके यथास्थानमें लय हो जाते हैं। इसी को पुरुषकी स्वस्वरूप-प्राप्ति, और प्रकृतिका स्वकारणमें लय कहते हैं। परन्तु उस जीवकेन्द्रमें स्वस्वरूपकी उपलब्धि नहीं हुई तो वहांकी चिज्जड़-ग्रन्थि ज्योंकी त्यों बनी रहती है और उस चिज्जड़ग्रन्थिमय जीवका आवागमन-चक्र और जन्म-मरणका क्रमभी ज्योंका त्यों बना रहता है ॥१०५॥४॥

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि,
यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।
यथा ऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके,
छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ १०६ ॥ ५ ॥

आदर्शे (दर्पणे) (मुखं) यथा (दृश्यते); आत्मनि (बुद्धौ परमात्मा) तथा परिददृशे (परिदृश्यते) । स्वप्ने यथा पितृलोके तथा । अप्सु (जले) यथा, गन्धर्व लोके तथा परिददृशे इव । ब्रह्मलोके छायातपयोः (आलोकान्धकारयोः) इव (आत्माऽनात्मनोः दर्शनं भवति), ॥ १०६ ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ ।

जैसे दर्पणमें (मुखका प्रतिबिम्ब) वैसेही बुद्धिमें (आत्माका प्रतिबिम्ब दिखायी देता है) जैसे स्वप्नमें वैसेही पितृलोकमें, और जैसे जलमें वैसेही गन्धर्वलोकमें भी (परमात्म) दर्शन होता है । (केवल) ब्रह्मलोकमें अन्धकार और प्रकाशकी तरह (स्पष्ट आत्मा और अनात्माका) दर्शन होता है ॥ १०६ ॥ ५ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यस्मादिहैवाऽऽत्मनो दर्शनं आदर्शस्थस्येव मुखस्य स्पष्टमुपपद्यते, न लोकान्तरेषु ब्रह्मलोकादन्यत्र । सच दुष्प्राप्यः । कथम् ? इत्युच्यते— यथा आदर्शे प्रतिबिम्बभूतम् आत्मानं पश्यति लोकः अत्यन्तविविक्तं, तथा इह आत्मनि स्वबुद्धावादर्शवन्निर्म्मलीभूतायां विविक्तमात्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः । यथा स्वप्ने अविविक्तं जाग्रद्वासनोद्भूतं, तथा पितृलोके अविविक्तमेव दर्शनं आत्मनः कर्मफलोपभोगासक्तत्वात् । यथा च अप्सु अवि-

भक्तावयवमात्मस्वरूपं परीव ददृशे परिदृश्यत इव तथा गन्धर्वलोके अविविक्तनेवदर्शनमात्मनः। एवञ्च लोकान्तरेष्वपि शास्त्रप्रामाण्यादवगम्यते। छायातपयोरिव अत्यन्तविविक्तं ब्रह्मलोके एवैकस्मिन्। स च दुष्प्रापोऽत्यन्तविशिष्ट-कर्म-ज्ञान-साध्यत्वात्। तस्मादात्मदर्शनाय इहैव यत्नः कर्त्तव्य इत्यभिप्रायः॥ १०६॥ ५॥

भाष्यानुवाद।

जिससे, यहीं दर्पणमें मुखकी तरह आत्माका स्पष्ट दर्शन होता है, ब्रह्मलोकके अतिरिक्त अन्य किसी लोकमें ऐसा दर्शन नहीं होता है। वहभी अतिदुर्लभ है। कैसे सो कहा जाता है—मनुष्य जिसप्रकार दर्पणमें प्रतिविम्बित अपने मुखको अत्यन्त स्पष्टरूपसे देखता है, दर्पणकी तरह अतिनिर्मलीभूत आत्मामें—अपनी बुद्धिमें अतिस्पष्टरूपसे आत्म-दर्शन होता है। स्वप्नमें जिसप्रकार अविविक्त अर्थात् जाग्रत्समयके संस्कार-सहित, पितृलोकमेंभी वैसेही अविविक्तरूपसे आत्माका दर्शन होता है। क्योंकि कर्म-फल भोगमें आसक्त रहता है। जलमें जैसे अवयवहीन अवस्थामें मानो आत्म-दर्शन होता है, गन्धर्वलोकमें भी वैसेही अविविक्तरूपसे आत्माका दर्शन होता है। शास्त्र-प्रमाणके अनुसार अन्यान्य लोकोंमेंभी इसीप्रकार जाना जाता है। एकमात्र ब्रह्मलोकमें ही छाया और आतप अर्थात् अन्धकार और प्रकाशकी तरह अत्यन्त विविक्त अर्थात् स्पष्टरूपसे दर्शन होता है। वह ब्रह्मलोक अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि वह अतिविशिष्ट कर्म, ज्ञान,

और उपासनाद्वारा प्राप्तकरने योग्य है। अभिप्राय यह है कि, इसकारण यहां ही आत्म-दर्शनकेलिये यत्न करना कर्त्तव्य है ॥ १०६ ॥ ५ ॥

टीका ।

अन्तःकरणके अवस्था-भेदसे और लोकोंके अनुभवके भेदसे इस मन्त्रमें चार अवस्थाओंका वर्णन किया गया है। प्रथम प्रकारमें दर्पणकेसाथ बुद्धिकी अवस्थाका उदाहरण दिया गया है। दर्पण जितना मलिन और स्वच्छ होता है, उसीके अनुसार उसमें मुख देखनेसे मुख दिखाई देता है। उसीप्रकार बुद्धि जितनी-जितनी आवरण-रहित होती जाती है, उतना ही उसमें द्रष्टा आत्माका स्वरूप प्रकाशित होता जाता है। विषय-मलसे मलिन अन्तःकरणवाले व्यक्तिकी बुद्धिमें आत्म-ज्योति आच्छन्न रहती है। और विषय-राग-रहित तत्त्वज्ञानी जीवन-मुक्तकी बुद्धि आत्मदर्शनमें समर्थ होती है। दूसरा उदाहरण स्वप्न और पितृ-लोकका है। स्वप्नावस्थामें जिसप्रकार सदसत् ज्ञानविहीन जीव सुख और दुःखको तद्वत् होकर भोग लेता है, उसी-प्रकार यम-धर्मराजके अधीन होकर जीव सुख-दुःख भोगता है। एषणाओंके प्रबल बन्धनमें जकड़ा हुआ जीव पितृ-लोकमें ही पहुँचता है, आगे नहीं जाता। पितृलोकके राजा भगवान् यम धर्मराज हैं। वे ही जीवके पुण्य और पापके अनुसार सुख-दुःख पहुंचानेकी व्यवस्थाकरनेवाले हैं। सुख-दुःख भोगानेके लिये उनके अधीन चार लोक हैं। वे ही प्रेतलोक, नरकलोक,

मृत्युलोक और पितृलोक कहाते हैं । स्वप्नमें जिसप्रकार आत्माके स्वरूपकी विस्मृति रहती है; और इन्द्रिय-सम्बन्धसे सुख-दुःखका ही बोध बना रहता है, वैसे ही पितृलोकतककी यह अवस्था समझने योग्य है । तीसरी अवस्थाको जल और गन्धर्व-लोकके उदाहरणसे समझाया गया है । गन्धर्व-लोक पितृ-लोकसे उन्नत है और केवल सुखपूर्ण है । जलमें जिसप्रकार सूर्य्य-प्रतिबिम्बकी अथवा चन्द्र-प्रतिबिम्बकी झलकें दिखायी देती हैं, उसीप्रकार गन्धर्व्वलोकादि उन्नत सुखपूर्ण लोकोंमें आनन्दमय आत्मा वैषयिक सुखसे मिश्रित होकर अनुभवमें आता है । क्योंकि विषयमें जो कुछ आनन्द है, वह अपार ब्रह्मानन्द पारावारका ही विप्रुट है । चौथा उदाहरण आतप और छायाके सम्बन्धसे ब्रह्मलोकका दिया गया है । ब्रह्मलोक ज्ञानमय उन्नत लोक है । अतः जैसे दिनका प्रकाश और रात्रिका अन्धकार अथवा आतप और छायाका भेद अलग-अलग स्पष्ट अनुभव होता है, वैसे ही सर्वोन्नत ब्रह्मलोकमें अनात्मा और आत्माका अनुभव अलग-अलग स्पष्टरूपसे हुआ करता है । तात्पर्य्य यह है कि, बुद्धिकी शक्तिका विचार करके श्रेष्ठ पुरुषोंको इसी जन्ममें ही ऐसा प्रयत्न करना उचित है कि, यह अवसर वृथा न जाय, और बुद्धिका आवरण दूर करके आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो सके । यदि कदाचित् ऐसा न हो सके, तो पितृ-लोक, स्वर्गलोकादि भोगलोकोंकी इच्छा न करे और ज्ञानमय ब्रह्मलोक-प्राप्तिकी तीव्र वासना रक्खे ॥ १०६ ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति॥१०७॥६॥

पृथग् उत्पद्यमानानां इन्द्रियाणां पृथग्भावं (आत्मनो भिन्नत्वं), उदयास्तमयौ च यत्, धीरः (जनः) (एतत्) मत्वा (ज्ञात्वा) न शोचति (दुःखभाक् न भवति) ॥ १०७ ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ ।

पृथक् उत्पन्न इन्द्रियोंका जो पृथक् भाव और उदय तथा अस्तमय जो भाव है, धीर व्यक्ति (इसको) जानकर दुःख नहीं करता है ॥ १०७ ॥ ६ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

कथमसौ बोद्धव्यः किम्वा तदवबोधे प्रयोजनमित्युच्यते—इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्व-विषय-ग्रहणप्रयोजनेन स्वकारणेभ्यः आकाशादिभ्यः पृथगुत्पद्यमानानाम् अत्यन्तविशुद्धात् केवलाच्चिन्मात्रादात्मस्वरूपात् पृथग्भावं स्वभावविलक्षणात्मकतां, तथा तेषामेवेन्द्रियाणां उदयास्तमयौ चोत्पत्ति-प्रलयौ जाग्रत्स्वापावस्थापेक्षया नाऽऽत्मन इति मत्वा ज्ञात्वा विवेकतो धीरो धीमान् न शोचति । आत्मनो नित्यैकस्वभावस्याव्यभिचाराच्छोकादिकारणत्वानुपपत्तेः । तथा च श्रुत्यन्तरम् " तरति शोकमात्मवित् " इति ॥ १०७ ॥ ६ ॥

भाष्यानुवाद ।

वह किसप्रकार जाननेयोग्य है एवं उसको जाननेका प्रयोजन ही क्या है ? सो कहा जाता है,—अपने-अपने विषय-

ग्रहणके उद्देश्यसे अपने कारणरूप आकाशादिसे पृथक्-पृथक्-रूपसे उत्पन्न श्रोत्रादि इन्द्रियोंका जो, अतिशयविशुद्ध केवल चिन्मात्र आत्मासे पृथग् अस्तित्व है, अर्थात् स्वभावकी विलक्षणता है एवं पृथग्भावसे उत्पन्न इन्द्रियोंका जो उदय तथा अस्तमय अर्थात् जाग्रत् अवस्थामें उत्पत्ति और स्वप्नावस्थामें प्रलय, यहभी आत्माका नहीं, इन्द्रियोंका ही है; धीर—बुद्धिमान् व्यक्ति विवेकसे इसको जानकर शोक नहीं करता है। क्योंकि आत्मा स्वभावसे ही नित्य और एक है, कभी उसके इस स्वभावमें व्यतिक्रम नहीं होता है। अतः उसके लिये शोक दुःखादिका कुछभी कारण नहीं हो सकता है। दूसरी श्रुतिमें भी है—आत्मज्ञ व्यक्ति शोकसे अतीत होता है ॥ १०७ ॥ ६ ॥

टीका।

अब इस लोकमें बुद्धिका आवरण दूर करके जीवन्मुक्त व्यक्ति सात्त्विक ज्ञान और सात्त्विक धृतिको प्राप्त करके कैसा अधिकार प्राप्त करता है, सो कहा जाता है। इन्द्रियोंमें वैषयिक सुखके निमित्त जो बद्ध जीवका फंसाव होता है, उसका क्रम यह है कि, अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित चैतन्य अविद्याके कारण अस्मिताके प्रभावसे अपनी पृथक् सत्ता मान लेता है। उस समय बुद्धि अहङ्कारद्वारा और मन चित्तद्वारा आक्रान्त होकर पृथक् कार्य्य करने लगते हैं। इस दशामें देही अपनेको देहरूप समझ लेता है। तब इन्द्रियां विषयाकार वृत्तिको धारण करके विषयवत् हो जाती हैं, एवं विषय-प्राप्तिमें सुख और

विषयके अप्राप्तिमें दुःख अनुभव करती हैं, तब राग-द्वेष और अभिनिवेशके फन्देमें फंसकर जीव त्रिविध तापयुक्त महाभय-को प्राप्त होता है। यह बद्ध जीवकी स्वाभाविक अवस्था है। परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुष जब विद्याके प्रभावसे अविद्याका प्रभाव नष्ट करके आत्मा और अनात्माकी पृथक्ताको जान जाते हैं, तब आत्माका अनुभव प्राप्त करके देखते हैं कि, चिन्मय आत्मा निर्लिप्त है और अन्तःकरण ही वैषयिक सुख-दुःखका भोक्ता है, ऐसा जानकर धीर व्यक्ति न विचलित होते हैं न फंसते हैं। आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त तब अनात्म-सम्बन्धीय अन्तः-करणसे लेकर विषयपर्यन्त सब भावोंको एक अद्वितीय चिन्मय आत्मासे पृथक् समझते हैं। और तत्त्वज्ञानकी सहायतासे देखते हैं कि, कैसे इन्द्रिय-सुखका उदय-अस्त होता है। वे देखते हैं कि, अन्तःकरण जड़ होनेपरभी चिन्मय आत्माके प्रतिबिम्ब-द्वारा चेतनभावको धारण करता है, और अन्तःकरण इन्द्रिय-वत् होकर विषयाकार अवस्थाको प्राप्त होनेपर शान्त हो जाता है, उस अवस्थामें आत्मामें परमानन्दभावका थोड़ासा प्रतिबि-म्बित होनेपर उस विषय-समाधिमें अन्तःकरणको आनन्दकी प्राप्ति होती है। यही विषयानन्दकी उदयावस्था है। जब इस विषयाकार वृत्तिका अभाव होता है, तो इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयसे रहित हो जाती हैं और मनके सम्पर्कशून्य होनेसे अन्तः-करण अपनी समाधि अवस्थाको छोड़कर तरङ्गायित हो जाता है, तब ब्रह्मानन्दकी आभा नहीं रहनेसे दुःखका अनुभव होता

है। यही विषयानन्दकी अस्तावस्था है। आत्मज्ञानी इसको प्रत्यक्ष करके अविचलित रहते हैं ॥ १०७ ॥ ६ ॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥१०८॥७॥

इन्द्रियेभ्यः मनः परं, मनसः (अपि) सत्त्वं (बुद्धिः) उत्तमम् । महान् आत्मा सत्त्वादधि (अधिकः) अव्यक्तं महतः उत्तमम् ॥१०८॥७॥

मन्त्रार्थ ।

इन्द्रियोंकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ है, मनकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिकी अपेक्षा आत्मा श्रेष्ठ है, और महत्की अपेक्षा अव्यक्त श्रेष्ठ है ॥ १०८ ॥ ७ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

यस्मादात्मन इन्द्रियाणां पृथग्भाव उक्तो नाऽसौ वहिरधिगन्तव्यः, यस्मात् प्रत्यगात्मा स सर्वस्य, तत् कथमित्युच्यते,—इन्द्रियेभ्यः परं मन इत्यादि । अर्थानामिहेन्द्रियसमानजातीयत्वाद् इन्द्रियग्रहणेनैव ग्रहणम् । पूर्ववदन्यत् । सत्त्वशब्दाद् बुद्धिरिहोच्यते ॥ १०८ ॥ ७ ॥

भाष्यानुवाद ।

जिस आत्मासे इन्द्रियोंका पृथग्भाव या पार्थक्य कहा गया है, वह आत्मा वाहरसे जाननेयोग्य नहीं है। क्योंकि वह सवका प्रत्यगात्मा है । तव कैसे (जानने योग्य है) सो कहा जाता है,—इन्द्रियोंकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ है, इत्यादि । अर्थ अर्थात् इन्द्रियों का विषय शब्दादि इन्द्रियोंके समान-जातीय हैं, इसकारण

यहां इन्द्रियोंके ग्रहणसे ही उनका ग्रहण हुआ है। अन्य सभी पूर्ववत् है। यहां 'सत्त्व' शब्दसे बुद्धि कही गयी है ॥१०८॥७॥

टीका।

अब जिज्ञासुके लिये आत्माकी सान्निध्य-प्राप्तिके अर्थ विषयोंसे प्रत्याहार कराकर उसको सरल मार्ग बता रहे हैं। इन्द्रियां विषय सङ्ग करके मनको फंसाती हैं। इसकारण इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, यदि मन इन्द्रियोंमें न लगे, तो इन्द्रियां कुछ नहीं कर सकतीं। यही कारण है कि, मन इन्द्रियोंका राजा कहाता है। मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है; क्योंकि मनका हाल बुद्धि ही जान सकती है। बुद्धिसे परे आत्माका अनुभव होता है, इसकारण आत्मा बुद्धिसे स्वतन्त्र है। अब बीचकी अवस्थाको समझानेके लिये कहा जाता है कि, महत्तत्त्वसे उत्तम अव्यक्तका अनुभव है। जो तत्त्व चिन्मय प्रतिबिम्बको धारण करता है, उसको महत् कहते हैं। दर्पण महत् है और आत्मा मुखरूप है। महत्का जो अंश सदसद्विवेक कार्य्य करता है, वह बुद्धि कहाता है। और केवल आत्मप्रतिबिम्बधारी अवस्था महत् कहाती है। इन दोनों का सम्बन्धकरानेवाला अव्यक्त है। वही अव्यक्त, कहीं मूलप्रकृति कहीं ब्रह्मशक्ति और कहीं महामाया नामसे अभिहित होता है। इसप्रकारसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि, महत् और अव्यक्तको समझकर समाधिस्थ होनेसे आत्माके स्वानुभवकी प्राप्ति होती है॥१०८॥७॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वञ्च गच्छति ॥१०९॥८॥

व्यापकः (सर्वव्यापी) अलिङ्गः एव पुरुषः तु (पुनः) अव्यक्तात् च (अपि) परः । जन्तुः (प्राणी) यं (पुरुषं) ज्ञात्वा (अधिगम्य) मुच्यते, अमृतत्वं च (अपि) गच्छति ॥ १०६॥८ ॥

मन्त्रार्थ ।

सर्वव्यापी अलिङ्ग पुरुष अव्यक्तसेभी परे है । जिसको जानकर जीव मुक्त हो जाता है और अमृतत्त्वको प्राप्त करता है ॥ १०६ ॥ ८ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकः व्यापकस्याप्याकाशादेः सर्वस्य कारणत्वात् । अलिङ्गो—लिङ्ग्यते गम्यते येन तल्लिङ्गं बुद्ध्यादि तदविद्यमानं अस्येति सोऽयं अलिङ्ग एव । सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत् । यं ज्ञात्वा आचार्य्यतः शास्त्रतश्च मुच्यते जन्तुः अविद्यादिहृदयग्रन्थिभि र्जीवन्नेव; पतितेऽपि शरीरेऽमृतत्वञ्च गच्छति । सोऽलिङ्गः परोऽव्यक्तात् पुरुष इति पूर्वेणैव सम्बन्धः ॥ १०६॥८ ॥

भाष्यानुवाद ।

व्यापक आकाशादि सबका कारण होनेसे सर्वव्यापी और अलिङ्ग—जिसके द्वारा लिङ्गन अर्थात् गति होती है, वह बुद्धि-आदि लिङ्ग जिसमें नहीं है, वह अलिङ्ग अर्थात् सब संसार-धर्म-वर्जित पुरुष अव्यक्तसे भी परे हैं । जीव आचार्य्य और शास्त्रद्वारा जिसको जानकर जीवित अवस्थामें ही अविद्या आदि हृदय-ग्रन्थिसे विमुक्त हो जाता है और शरीरान्तके बाद भी अमृतत्व लाभ करता है । वह अलिङ्गपुरुष अव्यक्तसेभी परे है, पूर्ववाक्यके साथ इसका सम्बन्ध है ॥ १०६॥८ ॥

टीका ।

प्रकृति-परिणामसे उत्पन्न प्रधान-प्रधान तत्त्वोंको दिखाकर उससे परे अनुभवगम्य आत्माको पहले लक्ष्य कराया गया है। प्रकृतिकी दो अवस्थायें हैं, एक व्यक्त दूसरा अव्यक्त। प्रकृतिके व्यक्तावस्थाके ही बुद्धि, मन, इन्द्रियादि अङ्गसमूह हैं। ये सब प्रकृतिकी वैषम्यावस्थाके परिणाम हैं। इनका वर्णन पहले मन्त्रमें आया है। साम्यावस्था प्रकृति ही अव्यक्त कहाती है। यह व्यक्तावस्थासे ऊपरकी अवस्था है, जहां सब जगत् प्रलयकालमें इसी अव्यक्तमें लय हो जाता है। आत्माका अनुभव अव्यक्तसे परे है। प्रकृति परिणामिनी है। इसकारण लिङ्गभावसे सम्बन्धयुक्त है, परन्तु एक अद्वितीय सर्वव्यापक चिन्मय-आत्मा लिङ्गभावसे रहित होनेके कारण अलिङ्ग कहाता है और अलिङ्ग होनेसे ही उसकी एक अद्वितीय अपरिणामी सर्वव्यापक स्वरूपकी सिद्धि होती है। तत्त्वज्ञानी व्यक्ति चतुर्विंशतितत्त्वोंके अन्वय-व्यतिरेकद्वारा जब अव्यक्तका अनुभव अस्तिभावमें प्राप्त कर लेता है, उसके अनन्तर निर्विकल्प समाधिद्वारा तत्त्वातीत होकर अव्यक्तसे परे अद्वितीय-चिन्मय परमपुरुषका स्वानुभव प्राप्त करके जीवन्मुक्त होकर अमृतत्व प्राप्त कर लेता है॥१०९॥८॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
 न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो-
 य एतद्द् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥११०॥९॥

अस्य (पूर्वोक्तस्य) रूपं (स्वरूपं) संदृशे (प्रत्यक्षविषये) न तिष्ठति, (अतः) कश्चन (कोऽपि) एनं (पुरुषं) चक्षुषा न पश्यति। मनीषा (विकल्पहीनया) हृदा (हृदयस्थया बुद्ध्या) मनसा (मननेन अभिक्लृप्तः (अभिव्यक्तः विज्ञातः भवतीत्यर्थः) ये (जनाः) एवं पुरुषं विदुः ते अमृताः (मुक्ताः) भवन्ति ॥ ११० ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ।

इसका स्वरूप प्रत्यक्ष-विषय नहीं होनेसे कोईभी इसको चक्षु-द्वारा नहीं देख सकता है। विकल्प-रहित बुद्धिके द्वारा मननकी सहायतासे वह अभिव्यक्त होता है। जो उसको जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं ॥ ११० ॥ ९ ॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

कथं तर्हि तस्य अलिङ्गस्य दर्शनमुपपद्यते ? इत्युच्यते,— न संदृशे दर्शनविषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनोऽस्य रूपम्। अतो न चक्षुषा सर्वेन्द्रियेण, चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात्। पश्यति नोपलभते कश्चन कश्चिदप्येनं प्रकृतमात्मानम्। कथं तर्हि तं पश्येदित्युच्यते—हृदा हृत्स्थया बुद्ध्या। मनीषा मनसः संकल्पादिरूपस्येष्टे नियन्तृत्वेनेति मनीट् तया हृदा मनीषा विकल्पवर्जितया बुद्ध्या। मनसा मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन। अभिक्लृप्तोऽभिसमर्थितोऽभिप्रकाशित इत्येतत्। आत्मा ज्ञातुं शक्य इति वाक्यशेषः। तमात्मानं ब्रह्मैतद् ये विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ११० ॥ ९ ॥

भाष्यानुवाद।

तब किसप्रकारसे उस अलिङ्गका दर्शन हो सकता है ? सो कहा जाता है,—इस प्रत्यगात्माका रूप दर्शनके विषयमें

नहीं आता है। अतः कोई भी चक्षुद्वारा अर्थात् किसीभी इन्द्रियोंके द्वारा इस आत्माका दर्शन या उपलब्धि नहीं कर सकता है। यहां चक्षुके ग्रहणसे ही सब इन्द्रियोंको समझना चाहिये। तो किसतरह दर्शन करें? कहते हैं,—हृदा अर्थात् हृदयस्था मनीषा अर्थात् विकल्प-रहित बुद्धिद्वारा, 'मनसा' अर्थात् मननरूप सम्यक् दर्शनसे सम्यकरूपसे प्रकाशित होता है अर्थात् इसीतरह आत्माको जाना जा सकता है, वाक्यमें इतनाहीं शेष या अनुक्त रहा है। उस आत्माको जो ब्रह्मरूपसे जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं॥ ११० ॥ ९ ॥

टीका।

आत्माके प्रत्यक्ष करनेका उपाय कहा जाता है। अव्यक्तसे परे जो आत्मा है, उसको प्रत्यक्ष कैसे किया जा सकता है? ऐसी शंका जिनको प्रत्यक्ष नहीं हुआ है, उनके चित्तमें हुआ ही करती है। इसलिये कहा जाता है कि, नेत्रेन्द्रियद्वारा वह प्रत्यक्षकरने योग्य नहीं है। क्योंकि नेत्र प्राकृतिक है और आत्मा प्रकृतिसे परे है। विकल्प-रहित बुद्धिद्वारा निदिध्यासनसे उसका साक्षात्कार होता है। जो बुद्धि बहुशाखायुक्त होकर दृश्य प्रपञ्चकी अनुगामिनी होती है, वह सविकल्प कहाती है। ऐसी बुद्धि आत्मानुसन्धानके अनुपयुक्त है। जो बुद्धि दृश्यप्रपञ्चसे विमुख है और एकतत्त्वसे युक्त होकर शान्त है, वही बुद्धि विकल्प-रहित हो सकती है। ऐसी एकतत्त्वयुक्त आत्मोन्मुख बुद्धिकी सहायतासे बार-बार निदिध्यासन करनेपर आत्माका

प्रत्यक्ष होता है, ऐसी बुद्धि उस समय अव्यक्तमें लय हो जाती है। और अव्यक्तकी लयावस्थामें स्वस्वरूपका उदय होता है। इसप्रकारसे जो आत्माको जान लेते हैं, वे निर्वाणको प्राप्त करके अमृत हो जाते हैं ॥ ११० ॥ ९ ॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥१११॥१०॥

यदा पञ्च ज्ञानानि (इन्द्रियाणि) मनसा सह अवतिष्ठन्ते (विषयेभ्यः व्यावृत्य अन्तर्मुखतया तिष्ठन्ति), बुद्धिश्च न विचेष्टते (विषयान् प्रति न धावति) तां परमां गतिम् आहुः (वदन्ति) ॥ १११॥१० ॥

मन्त्रार्थ ।

जब पांचो ज्ञानेन्द्रियां (विषयको त्याग करके) मनके साथ अवस्थान करती हैं, एवं बुद्धिभी चेष्टा नहीं करती है, उसीको परमा गति कहते हैं ॥१११॥१०॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

सा हृन् मनीट् कथं प्राप्यते ? इति तदर्थो योग उच्यते—यदा यस्मिन् काले स्वविषयेभ्यो निवर्त्तितानि आत्मन्येव पञ्च ज्ञानानि। ज्ञानार्थत्वात् श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि ज्ञानान्युच्यन्ते। अवतिष्ठन्ते सह मनसा यदनुगतानि, तेन संकल्पादिव्यावृत्तेनान्तःकरणेन। बुद्धिश्च अध्यवसायलक्षणा न विचेष्टति स्वव्यापारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १११ ॥ १० ॥

भाष्यानुवाद ।

हृदयस्थ विकल्परहित वह बुद्धि कैसे प्राप्तकी जाय ?

इसके लिये 'योग' कहा जाता है। ज्ञानोत्पत्तिका साधन होनेसे श्रोत्रादि इन्द्रियोंको 'ज्ञान' कहा जाता है। वे पांचों ज्ञानेन्द्रियां जिससमय अपने-अपने विषयोसे निवृत्त होकर मनके साथ आत्मामें अवस्थान करती हैं, अर्थात् इन्द्रियां जिसके अधीन हैं, उस संकल्पादि-रहित अन्तःकरणके साथ निवृत्त होती हैं और निश्चयात्मिका बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती अर्थात् अपने विषयमें नहीं लगती, उसीको परमा गति कहते हैं॥ १११॥१०॥

टीका।

अब पूर्व विषयको और तरहसे कहा जाता है। अन्तःकरण जीवके बन्धन-मोक्षका कारण है। अन्तःकरणके चार अङ्ग हैं। यथा—मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार। संकल्प-विकल्प करता हुआ इन्द्रियोंका राजा बनकर जो बन्धन-दशाको स्थायी रखता है, वह मन है। स्मृति और संस्कारको धारणकरनेवाला चित्त है। द्वैतको बनानेवाला और अपनापन स्वतन्त्ररखनेवाला अहङ्कार है। ज्ञानको धारणकरनेवाली एवं सद्-सत् विचारकरनेवाली बुद्धि है। अन्तर्मुख योगी इन लक्षणोंसे अन्तःकरण-चतुष्टयको समझ सकते हैं। इन चारोंमेंसे मन चित्तका अनुयायी और बुद्धि अहङ्कारकी अनुयायिनी है। बन्धन-दशामें पञ्चज्ञानेन्द्रियां, पञ्चकर्मेन्द्रियां मनको विषयमें लगाकर स्वयं विषयमें लगी रहती हैं, राजयोगकी अवस्थामें इसके विपरीत होता है। तब मन विषयसे प्रत्या-

हार कर लेता है, शरीरके साथ कर्मेन्द्रियका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। पाचों ज्ञानेन्द्रियोंकी गति तब अपने-अपने विषयसे हटकर मनकी ओर हो जाती है। इन्द्रियोंको अपने अधीन रखनेवाला मन योगयुक्त कहाता है, इस समय स्मृति और संस्कारके लय हो जानेसे चित्तका विलय हो जाता है। मनकी इस योगयुक्त अवस्थाको इस मन्त्रमें कहा है। इससमय ज्ञानेन्द्रियां मनके साथ रहनेपरभी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दादि अपने-विषयसे सम्बन्ध-रहित हो जाती हैं। दूसरी ओर बुद्धिमें जबतक अहङ्कारका सम्बन्ध रहता है, तबतक अपने-अपने अहङ्कारके अनुसार वह सदसत् विचारके कार्य्यमें लगी रहती है, परन्तु इस योग-युक्त अवस्थामें इसके विपरीत होता है। जब तत्त्वज्ञानके प्रभावसे द्वैतविचारके नष्ट होजानेसे अहङ्कार का विलय हो जाता है, तब योगयुक्त बुद्धि निश्चेष्ट होकर आत्मोन्मुख हो जाती है, जैसा कि, पहले कहा गया है। तब अपने आप ही स्वस्वरूपका उदय होता है, जिसको योग-शास्त्रमें कहा है "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" यही सब योगोंका राजा राजयोगकी अन्तिम क्रिया है। इस अवस्थामें साधक निःश्रेयस प्राप्त कर लेता है ॥ १११॥१० ॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११२॥११॥

तां (उक्तलक्षणां) स्थिरां (निश्चलां) इन्द्रियधारणां 'योगम्' इति मन्यन्ते । तदा अप्रमत्तः (प्रमाद-रहितः) भवति; हि (यस्मात्) योगः

प्रभवाप्ययौ (हितसाधकः अहितसाधकश्च भवति) ॥ ११२॥११ ॥

मन्त्रार्थ ।

इन्द्रियोंके उस स्थिर धारणाको योग कहते हैं, उससमय (साधक) प्रमाद-रहित होता है। क्योंकि योग ही प्रभव (सिद्धि) और अप्यय (विनाश) का कारण होता है॥११२॥११॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

तामीदृशीं तदवस्थां योगमिति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम्। सर्वानर्थ-संयोग-वियोग-लक्षणा हि इयमवस्था योगिनः। एतस्यां ह्यवस्थायां अविद्या-ध्यारोपण-वर्जितस्वरूपप्रतिष्ठ आत्मा। स्थिरामिन्द्रिय-धारणां—स्थिरामचलां इन्द्रिय-धारणां बाह्यान्तःकरणानां धारणमित्य : । अप्रमत्तः प्रमादवर्जितः समाधानं प्रति नित्यं प्रयत्नवान्, तदा तस्मिन् काले, यदैव प्रवृत्तयोगो भव-तीति सामर्थ्यादवगम्यते। न हि बुद्ध्यादिचेष्टाभावे प्रमादसम्भवोऽस्ति। तस्मात् प्रागेव बुद्ध्यादिचेष्टोपरमाद् अप्रमादो विधीयते। अथवा यदैवे-न्द्रियाणां स्थिरा धारणा, तदानीमेव निरङ्कुशमप्रमत्तत्वमित्यतोऽभिधीयते अप्रमत्तस्तदा भवतीति। कुतः? योगो हि यस्मात् प्रभवाप्ययौ उपजना-पायधर्मक इत्यर्थः। अतोऽपायपरिहाराय अप्रमादः कर्त्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ११२ ॥ ११ ॥

भाष्यानुवाद ।

वियोगात्मक होनेपरभी इस अवस्थाको 'योग' समझते हैं। क्योंकि इस अवस्थामें सब प्रकारके अनर्थ-सम्बन्धोंसे योगीका वियोग होता है। इसी अवस्थामें ही आत्मा अविद्याके आरो-पसे रहित होकर स्वरूपमें अवस्थान करता है। स्थिरका अर्थ-

चंचलता-रहित, इन्द्रियधारणाका अर्थ वाहरी अन्तःकरणोंकी धारणा है। (साधक) जब योगमें प्रवृत्त हो, तब समाधानके लिये अप्रमत्त अर्थात् प्रमादरहित हो। मूलमें नहीं रहने पर भी "तदा" शब्द रहनेसे 'जब' समझा जाता है। बुद्धि आदिकी चेष्टाका अभाव हो जानेसे प्रमादकी सम्भावना नहीं है; इस कारण बुद्धि आदिकी क्रियासे विराम होनेके पूर्व ही प्रमाद-त्याग विहित हुआ है। अथवा, जब इन्द्रियोंकी स्थिर धारणा होती है, तभी अव्याहतरूपसे प्रमाद-राहित्य होता है। इसकारण भी उस समय अप्रमत्त होनेका विधान किया गया है। क्योंकि योग ही प्रभव और अव्ययरूप हित और अहित-साधन का कारण है। अभिप्राय यह है कि, इसलिये अपाय या अहितके परिहारके लिये प्रमाद त्याग करना उचित है ॥११२॥११॥

टीका।

पूर्वकथित अवस्थाको आत्मज्ञानी योगिराज 'योग' समझते हैं। इस योगयुक्त अवस्थामें सब इन्द्रियां अपने-अपने कारणमें लय होती हुई अव्यक्तमें लय रहती हैं। इसकारण इस अवस्थाको उच्च श्रेणीकी इन्द्रिय-धारणाकी अवस्था भी कह सकते हैं। इस अवस्थामें योगी अप्रमत्त होता है इस योगयुक्त अवस्थामें इन्द्रियाँ रहती भी हैं, नहीं भी रहती हैं; रहती इसलिये हैं कि, कारणमें लय होकर रहती हैं, जैसा कि, महाप्रलय के समय जगत् कारणमें लय होकर रहता है, और नहीं भी रहती हैं, इसप्रकारसे कहा जा सकता है कि, इन्द्रियोंका चालक मन

लय हो जाता है। इसी समाधिस्थ दशामें योगिराज प्रभव और अप्यय दोनोंका कार्य्य करनेमें समर्थ रहता है। अप्रमत्त योगी इसप्रकारसे समाधिस्थ होकर शक्तिशाली तथा शक्तिसे अतीतभी हो जाता है। यदि उसकी समाधि निर्विकल्प रही, तो वह अभ्युदयकी पराकाष्ठाको प्राप्त करके ब्रह्मीभूत हो जाता है। यदि किसी कारणविशेषसे उसकी धारणा स्थिर नहीं रही और उसकी समाधि सविकल्प होगयी, तो वह पुनः प्राकृतिक सिद्धियोंके प्रकाश करनेका केन्द्र बन जाता है। ये ही दोनों अवस्थाएँ यथाक्रम प्रभव और अप्यय नामसे अभिहित हुई हैं। अप्रमत्त योगीको सिद्धियोंके जालसे उन्मुक्त करके उसके लिये स्वरूपोपलब्धिका द्वार उद्घाटन कर दिया है ॥ ११२ ॥ ११ ॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥११३॥१२॥

वाचा (वाक्येन) न एव, मनसा (अन्तःकरणेन) न, चक्षुषा न प्राप्तुं (ज्ञातुं) शक्यः। 'अस्ति' इति ब्रुवतः (आत्मास्तित्ववादिनः) अन्यत्र तत् (आत्मस्वरूपं) कथम् उपलभ्यते ॥ ११३ ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ ।

(आत्मा) न वाक्यके द्वारा, न मनके द्वारा, और न चक्षुके द्वारा ही प्राप्त करने योग्य है। 'है' ऐसा कहनेवालेके सिवाय अन्यत्र किसतरह उसको जान सकते हैं ॥ ११३॥१२ ॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेद् ब्रह्म "इदं तत्" इति विशेषतो गृह्येत, बुद्ध्याद्युपरमे च ग्रहणकारणाभावादनुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म। यद्धि करणगोचरं तत् 'अस्ति' इति प्रसिद्धं लोके, विपरीतञ्चासदित्यतश्चानर्थको योगोऽनुपलभ्यमानत्वाद् वा "नास्तीति" उपलब्धव्यं ब्रह्म इत्येवं प्राप्ते इदमुच्यते। सत्यम्—

नैव वाचा, न मनसा, न चक्षुषा—नान्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यत इत्यर्थः। तथाऽपि सर्वविशेषरहितोऽपि जगतो मूलमित्यवगतत्वादस्त्येव कार्य्य-प्रविलापनस्यास्तित्वनिष्ठत्वात्। तथा हीदं कार्य्यं सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्य्येण अनुगम्यमानं सद्बुद्धिनिष्ठामेवावगमयति। यदाऽपि विषयप्रविलापनेन प्रविलाप्यमाना बुद्धिः, तदाऽपि सा सत्प्रत्ययगर्भैव विलीयते बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे, मूलं चेज्जगतो न स्यात्, असदन्वितमेवेदं कार्य्यमसदित्येव गृह्यते, नत्वेतदस्ति—सत् सदित्येव तु गृह्यते। यथा मृदादि कार्य्यं घटादि मृदाद्यन्वितम्। तस्माज्जगतो मूलमात्मा अस्तीत्येवोपलब्धव्यः। कस्मात्, अस्तीति ब्रुवतोऽस्तित्ववादिन आगमार्थानुसारिणः श्रद्दधानादन्यत्र नास्तिकवादिनि नास्ति जगतो मूलमात्मा, निरन्वयमेवेदं कार्य्यमभावान्तं प्रविलीयत इतिमन्यमाने विपरीतदर्शिनि कथं तद् ब्रह्म तत्त्वत उपलभ्यते, न कथञ्चनोपलभ्यत इत्यर्थः ॥ ११२॥१२ ॥

भाष्यानुवाद।

ब्रह्म यदि बुद्धिआदिका विषय होता, तो "यह वह है" इसप्रकार विशेषरूपसे उसको ग्रहण किया जाता। किन्तु बुद्धि

आदिका विषय नहीं होनेसे, जाननेका उपाय नहीं होनेके कारण निश्चय ही ब्रह्म नहीं है । क्योंकि जगत्में जो इन्द्रिय-गोचर है, वही सत् है, जो इसके विपरीत है, वह 'असत्' नामसे प्रसिद्ध है । इसकारण योग-साधन निष्प्रयोजन है, अथवा जब उपलब्धि ही नहीं होती तो ब्रह्म नहीं ही है, ऐसी आशंकाके लिये यह कहते हैं, सत्य है । वाक्यद्वारा, मनद्वारा, चक्षुद्वारा अथवा अन्यान्य इन्द्रियोंके द्वाराभी प्राप्त करने योग्य नहीं है, तथापि कार्य्यका विलय जब सत्यवस्तुमें ही होसकता है, तब सबप्रकारके विशेषगुणरहित होनेपरभी जगतका मूलकारणरूपसे अवश्य ही उसका अस्तित्व है । यह कार्य्य सूक्ष्मताके तारतम्यकी परम्पराके अनुसार एक दूसरेका अनुगमन करता हुआ (अन्तमें) सत् निष्ठामें ही रह जाता है, जब विषयोंके विलय या विनाशके साथ-ही-साथ बुद्धिभी लय हो जाती है, उससमय भी वह मानो 'सत्' प्रत्ययके गर्भमें ही विलीन होती है । सत् और असत्के निर्णय-में बुद्धि ही हम लोगोंकी एकमात्र प्रमाण है । जगत्का मूल यदि असत् होता, तो मिट्टी आदिसे बना हुआ घटादि कार्य्य जिसप्रकार मृत्तिका-युक्त ग्रहण किया जाता है, उसीप्रकार असत् कारण युक्त कार्य्य—जगत्भी 'असत्'रूपसे ग्रहण किया जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता । वरन् 'सत्' करके ही ग्रहण किया जाता है । अत एव जगत्का मूल आत्मा है, यह अवश्य ही मानना चाहिये । अतः (आत्मा) 'है' ऐसा

कहनेवाले आत्मास्तित्ववादी, शास्त्रका अनुसरण करनेवाले श्रद्धावान्‌के सिवाय अन्यत्र नास्तिकवादी और जगत्‌का मूल 'आत्मा' नहीं है, यह 'जगत्‌रूपी कार्य्य निरन्वय है, अर्थात् कारण-रहितरूपसे ही इसका अभाव (नाश) होगा, ऐसा माननेवाले, विपरीतदर्शी नास्तिकोंके निकट वह ब्रह्म तत्त्वतः किसतरह उपलभ्य हो सकता है, किसीप्रकार उपलब्ध नहीं हो सकता है ॥११३॥१२॥

टीका ।

पूर्वमन्त्र जैसे योगीको सिद्धिके जालमें फंसनेसे बचाता है, उसीप्रकार यह मन्त्र उसको नास्तिकतासे बचाकर अप्रमादी होनेके लिये सावधान करता है। आत्मा किसप्रकार चक्षुआदि ज्ञानेन्द्रिय, वचन और मनसे अतीत है, इसका बहुत कुछ वर्णन पहले आचुका है। ऐसे आत्माकी उपलब्धि करनेके पथमें अन्तराय बहुत हैं। आत्माकी उपलब्धि करते समय इन्द्रियादि काम नहीं दे सकती हैं, क्योंकि वह इन्द्रियगोचर नहीं है। वाक्य और मन वहां पहुंच ही नहीं सकते हैं। लौकिक बुद्धिका वह विषय नहीं है। क्योकि बुद्धिभी प्राकृतिक है। लौकिक बुद्धि प्रधानमें लय होती है, प्रधान अव्यक्तमें लय होता है, और अव्यक्त प्रकृति जब पुरुषमे लय होती है, तब स्वस्वरूपका उदय होता है। अतः लौकिक बुद्धिके लयहोनेके अनन्तर स्वस्वरूपकी उपलब्धितक योगीको अनेक सन्धियोंका अतिक्रमण करना पड़ता है। वे सन्धियां अतिसूक्ष्माति-

सूक्ष्म होनेके कारण उनको अतिक्रम करते समय अप्रमत्त रहना बहुत ही कठिन है। लौकिक बुद्धिसे समाहित बुद्धिकी सन्धि, तदनन्तर अस्मिताकी सन्धि, तदनन्तर विद्या और अविद्याकी सन्धि, इसप्रकारकी सन्धियोंमें जड़वाद, आत्मातिरिक्तशक्तिवाद, शून्यवाद, निरीश्वरवाद आदि अनेक प्रमादके लक्षणोंके उदय होनेकी और उनमें फंस जानेकी भी सम्भावना रहती है। इस-कारण श्रुति योगीको सावधान करती है। यदि योगी प्रथमसे ही श्रद्धालु और आस्तिक हो, तथा उसकी श्रद्धा सात्त्विक हो, तो इन सन्धियोंमें उसकी सात्त्विक धृति बनी रहती है, एवं आस्तिकताके कारण योगी नीचेकी सन्धियोंमें ही अप्रमत्त नहीं रहता, बल्कि ऊपरकी इन सन्धियोंमेंभी अप्रमत्त और स्थिरलक्ष्य रहकर स्वस्वरूपकी उपलब्धि करनेमें समर्थ होता है ॥ ११३॥१२ ॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥११४॥१३॥

उभयोः (मध्ये) तत्त्वभावेन (सत्यरूपेण) 'अस्ति' 'सत्' इत्येव उपलब्धव्यः 'अस्ति' इति (एवं) उपलब्धस्य (उपलब्धुः सकाशे) तत्त्व-भावः प्रसीदति ॥ ११४॥१३ ॥

मन्त्रार्थ ।

दोनोंमें 'अस्ति' की ही तत्त्व-भाव अर्थात् यथार्थरूपसे उपलब्धि करनी चाहिये । 'अस्ति 'रूपसे ही उपलब्धि

करनेवालेका तत्त्वभाव प्रसन्न होता है, अर्थात् प्रकाशित होता है ॥ ११४॥१३ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

तस्मादपोह्यासद्वादिपक्षमासुरम् अस्तीत्येव आत्मा उपलब्धव्यः सत्-कार्य्यो बुद्ध्याद्युपाधिः । यदा तु तद्रहितोऽविक्रिय आत्मा, कार्य्यञ्च कारणव्यतिरेकेण नास्ति, "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इति श्रुतेः, तदा तस्य निरुपाधिकस्यालिङ्गस्य सदसदादिप्रत्ययविषयत्ववर्जितस्य आत्मनः तत्त्वभावो भवति । तेन च रूपेणाऽऽत्मोपलब्धव्य इत्यनुवर्त्तते । तत्राप्युभयोः सोपाधिकनिरुपाधिकयोरस्तित्वतत्त्वभावयोः । निर्द्धारणार्था षष्ठी । पूर्वमस्तीत्येवोपलब्धस्य आत्मनः सत्कार्य्योपाधिकृतास्तित्वप्रत्ययेनोपलब्धस्येत्यर्थः । पश्चात् प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिरूप आत्मनस्तत्त्वभावः विदिताविदिताभ्यामन्योऽद्वयस्वभावो "नेति नेति" "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" "अदृश्येऽनात्म्येऽनिलयने" इत्यादिश्रुतिनिर्दिष्टः प्रसीदति अभिमुखी भवति । आत्मनः प्रकाशनाय पूर्वमस्तीत्युपलब्धवत इत्येतत् ॥११४॥१३॥

भाष्यानुवाद ।

इस कारण असुरोचित असद्वादियोंका पक्ष परित्याग करके सत्कार्य्य बुद्धि आदिउपाधि-युक्त आत्माको 'अस्ति' 'है' ऐसा जानना चाहिये । जब विकारहीन आत्मा उपाधि-रहित होता है और "विकार केवल वाक्यारम्भ नाममात्र है मृत्तिका ही सत्य है" इस श्रुतिके अनुसार जब कारणके विना कार्य्यकी सत्ता ही नहीं है, तब उपाधि-रहित, अलिङ्ग एवं सदसदात्मक बुद्धि-वर्जित उस आत्माका तत्त्वभाव होता है,

आत्माका वही रूप उपलब्ध करना चाहिये । उसमें भी सोपाधिक और निरुपाधिक अर्थात् अस्तित्व और तत्त्वभाव,इन दोनोंके निर्धारणके लिये षष्ठीका प्रयोग है । पहले 'अस्ति' रूपही उपलब्ध होता है, अर्थात् प्रथम कार्य्य-सम्बन्धसे आत्माकी "सत्"प्रतीति बुद्धिद्वारा होती है, पश्चात् आत्माका सब उपाधिसे रहित 'तत्त्वभाव', जो विदित और अविदितसे पृथक् है, स्वभावसे ही अद्वितीय है, एवं जो "यह नहीं है, यह नहीं है" "स्थूल, अणु और ह्रस्व नहीं है" "अदृश्य अनात्म्य (देहरहित) और विलय-रहित है" इत्यादि श्रुतिद्वारा निर्दिष्ट हुआ है, वह प्रसन्न होता है, अर्थात् आत्माके प्रकाशित होनेके लिये इससे पहले जिसने 'अस्ति' रूपसे आत्माकी उपलब्धिकी है, उसके अभिमुख होता है अर्थात् उसके सामने प्रकाशित होता है ॥ ११४ ॥ १३ ॥

टीका ।

पूर्वमन्त्रकी प्रक्रियाके अनुसार समाधि-पथके नाना सन्धियोंमें कहीं न फंसकर परमतत्त्वरूपी आत्माकी उपलब्धि विना रोक-टोक कैसे हो सकती है, सो कहा जाता है । योगी अपनी सात्त्विक श्रद्धा, सात्त्विक धृति और परमतत्त्वरूपी परमात्मामें आस्तिकतासे स्थिर-लक्ष्य होकर एकबारही अस्तिभावकी उपलब्धि करे, तो सफलता होगी । अस्ति, और भाति, ये दोनों भाव अलग-अलग उपलब्धि करनेयोग्य हैं । परमतत्त्वभावमें अस्ति, भाति और आनन्द, ये तीनों एकसाथ अनुभवमें आते

हैं। यही तीनों भावोंकी अद्वैत स्थिति है। अस्तिभावसे ही प्रकृतिकी अव्यक्तावस्थाका घनिष्ट सम्बन्ध है। इसकारण अस्तिभावका प्रथम अनुभव स्वतःसिद्ध है। प्रकृतिकी लयावस्थामें जो समाधिस्थ योगी सब सन्धियोंमें अप्रमत्त रहकर अस्तिभावका अनुभव कर लेता है, उसके सन्मुख चिन्मय आत्माका स्वस्वरूपमें उदय हो जाता है ॥ ११४॥१३ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥११५॥१४॥

अस्य हृदि श्रिताः (अन्तःकरणगताः) सर्वे कामा (वासनाः) यदा प्रमुच्यन्ते, अथ (अनन्तरं) मर्त्यः (मरणशीलः मनुष्यः) अमृतो भवति। अत्र (अस्मिन् एव देहे) ब्रह्म समश्नुते ॥११५॥१४॥

मन्त्रार्थ।

जब इसके हृदयकी सब वासनायें छूट जाती हैं, उसके बाद मरणशील मनुष्य अमृत हो जाता है और इसी देहमें ब्रह्मकी उपलब्धि करता है ॥ ११५॥१४॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

एवं परमार्थदर्शिनो यदा यस्मिन् काले सर्वे कामाः कामयितव्यस्यान्यस्याभावात् प्रमुच्यन्ते विशीर्यन्ते, येऽस्य प्राक् प्रतिबोधाद् विदुषो हृदि बुद्धौ श्रिता आश्रिताः। बुद्धिर्हि कामानामाश्रयो नाऽऽत्मा। "कामः संकल्पः" इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च। अथ तदा मर्त्यः प्राक् प्रबोधादासीत् स प्रबोधोत्तरकालमविद्या-काम-कर्म-लक्षणस्य मृत्यो र्विनाशाद् अमृतो भवति, गम-

नप्रयोजकस्य मृत्योर्विनाशाद्गमनानुपपत्तेः, अत्र इहैव प्रदीपनिर्वाणवत् सर्वबन्धनोपशमाद् ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥११५॥१४॥

भाष्यानुवाद ।

ऐसे परमार्थदर्शी विद्वान्‌के ज्ञान होनेके पहले जो सब कामनायें हृदय अर्थात् बुद्धिको आश्रय करके थीं; और कुछ कामयितव्य—प्रार्थनीयके शेष न रहजानेसे जब छुट जाती हैं अर्थात् विशीर्ण हो जाती हैं, बुद्धि ही कामनाओंका आश्रय है आत्मा नहीं, यह "कामना-संकल्प" इत्यादि अन्य श्रुतिसे भी (जाना जाता है), तब आत्मज्ञानोदयके पहले जो मर्त्य—मरणशील था, ज्ञान होनेके बाद अविद्या, काम और कर्मरूपी मृत्युके नाश हो जानेसे, वह अमृत हो जाता है। अथवा जीवको (लोकान्तरमें) ले जानेवाली मृत्युके विनाश होजानेसे, गमन ही सम्भव नहीं होता। दीपकके बुझजानेकी तरह सब बन्धनोंके उपशम होजानेसे यहीं ब्रह्मको प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्मही हो जाता है ॥११५॥१४॥

टीका ।

पहले मन्त्रोंमें नानाप्रकारसे आत्माके स्वरूपको समझाकर, स्वरूपकी उपलब्धिके उपायोंको बताया है। अब इस मन्त्रद्वारा वेद जीवन्मुक्त-दशाकी उपलब्धिकेलिये इङ्गित कर रहे हैं। सात्त्विक धृति, सात्त्विक श्रद्धा, सात्त्विक बुद्धि और सात्त्विक ज्ञानको अवलम्बन करके स्वस्वरूपकी उपलब्धि करनेवाला व्यक्ति अपनी शरीर-यात्राका निर्वाह करता हुआ जब चाहे, स्वानुभव प्राप्त कर सकता है। जब मृत्युकी सन्धि उपस्थित होती

है, तब अप्रमत्त होकर स्वरूपस्थित रहनेसे उसके अंशकी प्रकृति मूलप्रकृतिमें लय हो जाती है और चिदात्मा पुरुष ब्रह्मीभूत हो जाता है । फिर बन्धनका कोई कारण नहीं रहता । परन्तु ऐसे मुक्तात्मा योगिराज जीवित दशामें ही अर्थात् स्थूलशरीर रहते ही कैसे जीवन्मुक्त होते हैं, इसका मौलिक रहस्य कहा जाता है । 'हृदय' शब्दसे इस मन्त्रमें अन्तःकरणसे सम्बन्ध है । उस अन्तःकरणके चार विभाग हैं, सो पहले भलीभांति कहे गये हैं । उन चारों विभागोंमेंसे बन्धन-दशा प्राप्त करानेवाले दो विभाग हैं, प्रथम अहङ्कार और दूसरा चित्त । वे ही दोनो अपनी-अपनी शक्तिसे मनको अशुद्ध और बुद्धिको मलिन करते रहते हैं । अतः अहङ्कारयुक्त मलिन अन्तःकरण प्राचीन संस्कारयुक्त वासना-ओंको दृढ़रूपसे धारण किये रहता है । उसीसे प्रकृतिका केन्द्र काम करता रहता है और आवागमनचक्र बना रहता है । यही बन्धनका रहस्य है । किन्तु यदि तत्त्वज्ञानमें निष्णात राजयोगी स्वस्वरूपकी उपलब्धि और प्राकृतिक केन्द्रके रहस्यको जानकर अहङ्कार त्याग देवे, तो उसकी स्वतन्त्र सत्ता नष्ट हो जाती है । अहङ्कारयुक्त अन्तःकरणने ही उसकी प्रकृतिको मूलप्रकृतिसे और उसके चिदात्माको परम पुरुषसे अलग कर रक्खा था । अह-ङ्कार दूर होते ही अन्तःकरणकी जब स्वतन्त्र सत्ता नष्ट हो जाती है, तो उस अन्तःकरणमें स्थित वासनायें भी मूल प्रकृतिके साथ ही साथ ब्रह्माण्ड प्रकृतिको आश्रय करती हैं । इसीकारण इस मन्त्रमें वासना-नाशके लिये 'प्रमुच्यन्ते' पदका प्रयोग हुआ है ।

जब अहङ्कारके नाश होनेसे जैव-वासनाओंका नाश हो जाताहै, तब अन्तःकरणकी नाममात्रकी स्थिति रहती है, उस समय वह योगिराज निर्विकल्प-समाधिस्थ होकर जीवन्मुक्तपदवीको प्राप्त करता है। ऐसे महापुरुषकी त्यक्त वासनायें ब्रह्माण्डके समष्टि अन्तःकरणको आश्रय करके भावीकालका कारण बनती हैं। ऐसे जीवन्मुक्तमें निर्विकल्प समाधिकी स्थिति कैसे सम्भव होती है? इसका समाधान यह है कि, जैसे एक ही ब्रह्म सगुण अवस्थामें दृश्य-प्रपञ्चका निरीक्षण करके द्रष्टा बनकर ईश्वर कहाते हैं और प्रकृतिसे अतीत होकर ब्रह्म कहाते हैं; उसीप्रकार जीवन्मुक्त पुरुष व्युत्थानदशामें परोपकारी महात्माके समान प्रतीत होते हैं और प्रत्येक व्युत्थानकी सन्धिमें स्वस्वरूपमें स्थित रहते हैं। इसप्रकारसे उनकी धृति, बुद्धि और ज्ञानके हर समय सात्त्विक रहनेसे तथा स्वस्वरूपकी धाराके उनके अन्तःकरणमें नित्यस्थित रहनेसे उनकी समाधि निर्विकल्प कहाती है। जीवन्मुक्त पुरुष शरीर रहते हुएभी ब्रह्म ही हो जाते हैं ॥११५॥१४॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्त्योऽमृतो भवति एतावद्ध्यनुशासनम्॥११६॥१५॥

इह (देहे) हृदयस्य सर्वे ग्रन्थयः यदा प्रभिद्यन्ते (अपयान्ति) अथ (तदा) मर्त्त्यः अमृतः (मुक्तः) भवति। एतावत् (एव) अनुशासनम् ॥११६॥१५॥

मन्त्रार्थ ।

इसी देहमें जब हृदयकी समस्त ग्रन्थियाँ भिन्न हो जाती

हैं तब मरणशील अमर हो जाता है। यहींतक अनुशासन है ॥११६॥१५॥

शाङ्कर-भाष्यम्।

कदा पुनः कामानां मूलतो विनाश ? इत्युच्यते। यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदमुपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेरिह जीवत एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद् दृढ़ बन्धनरूपा अविद्याप्रत्यया इत्यर्थः। 'अहमिदं शरीरं, ममेदं धनं, सुखी दुःखी चाहम्' इत्येवमादिलक्षणास्तद्विपरीतब्रह्मात्मप्रत्ययोपजननात् 'ब्रह्मैवाहमस्म्यसंसारी इति, विनष्टेषु अविद्याग्रन्थिषु तन्निमित्ताः कामा मूलतो विनश्यन्ति। अथ मर्त्योऽमृतो भवति, एतावद्धि—एतावदेवैतावन्मात्रं नाधिकमस्तीत्याशङ्का कर्तव्या। अनुशासनं अनुशिष्टिः उपदेशः सर्ववेदान्तानामिति वाक्यशेषः ॥ ११६॥१५ ॥

भाष्यानुवाद।

पुनः कामनाओंका मूलसे विनाश कब होता है सो कहा जाता है,—जब जीवित दशामें ही हृदय अर्थात् बुद्धिकी सब ग्रंथियां अर्थात् ग्रन्थिके समान दृढ़ बन्धनरूपी अविद्या-बुद्धि-विनष्ट होजाती है अर्थात् 'मैं यह शरीर हूं, मेरा यह धन है, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूं' इत्यादि, इसके विपरीत 'मैं असंसारी ब्रह्म ही हूं' इस ब्रह्मात्मज्ञानके उत्पन्न होनेसे अविद्या-ग्रन्थिके विनष्ट हो जाने पर तन्मूलक कामनायें जब जड़से विनष्ट हो जाती हैं, तब मर्त्य विनाशशील मनुष्य अमृत हो जाता है। यहींतक सब वेदान्तोंका उपदेश है; इससे अधिक (और कुछ) है, ऐसी

आशंका करना उचित नहीं है। 'सर्ववेदान्तानां' पद श्रुतिमें नहीं रहनेपरभी वह इस वाक्यका शेषांश है ॥ ११६॥१५ ॥

टीका ।

अनादि अविद्या-जनित जो चिज्जड़की ग्रंथि है, उसीको जीव कहते हैं। चित् आत्मा और जड़ दृश्य-प्रपञ्च है। चित् पुरुषमें जड़ा प्रकृति जब प्रतिफलित होती है, तब चिज्जड़-ग्रन्थि बन्ध जाती है। जैसे स्फटिकके सन्मुख लाल पुष्प रखनेसे स्फटिक लाल वर्णका हो जाता है, उसीप्रकार चिन्मय पुरुषके संमुख जब प्रकृति परिणामिनी होती है, तो मायाके प्रभावसे जीवको यह भ्रम उत्पन्न होता है कि, यह परिणाम मेरा ही है। इस अवस्थामें अन्तःकरणावच्छिन्न चित्रूपी पुरुष अपनेको अन्तःकरणवत् मान लेता है। यही चिज्जड़ग्रन्थि कहाती है, यही जीवका जीवत्व है। आत्मज्ञानकी प्राप्ति होनेपर जब सच्चिदानन्दमय आत्माका स्वानुभव प्राप्त होता है और जीवन्मुक्त व्यक्ति यह समझ लेता है, कि पुरुष निर्लिप्त, निःसङ्ग, विकाररहित और अद्वितीय है, एवं दृश्य-प्रपञ्च सब-प्रकृतिका वैभव है, तब चिज्जड़ग्रन्थिका भेदन होजाता है जीवन्मुक्तिकी दशामें, अविद्याके प्रभावसे जीवकी बन्धन-दशामें जो अन्तःकरणरूपी अनात्मामें आत्म-बोधकी ग्रन्थि थी, जो ब्रह्माण्डसे पिण्डको अलग करनेके लिये अस्मिताकी ग्रन्थि थी, जो अपने-परायेमें भेद दिखानेवाली राग-द्वेषकी ग्रन्थि थी, और अभिनिवेश उत्पन्न करनेवाली जो बड़ी ग्रन्थि थी, ये सब

ग्रन्थियां खुलकर छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। तब मरणशील मनुष्य अमर हो जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। वेदका, तथा सब अध्यात्म-शास्त्रोका और सब आप्त महापुरुषोका यही अन्तिम अनुशासन है ॥ ११६ ॥ १५ ॥

शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति,
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥११७॥१६॥

हृदयस्य शतञ्च एका च (एकोत्तरशतं) नाड्यः (सन्ति); तासां (मध्ये) एका मूर्द्धानमभि (प्रति) निःसृता (मूर्द्धपर्य्यन्तं गता), तया ऊर्द्ध्वं आयन् (गच्छन्) अमृतत्वं एति। अन्या (शतंनाड्या) विष्वगुत्क्रमणे (लोकान्तरगमनार्थं) भवन्ति ॥ ११७ ॥ १६ ॥

एक-सौ-एक हृदयकी नाड़ियां हैं, उनमें एक नाड़ी मूर्द्धा (ब्रह्मरन्ध्र) की ओर गई है; उसके द्वारा ऊर्द्ध्व जाकर (मनुष्य) अमृतत्व लाभ करता है। अन्य नाड़ियां उत्क्रमणका कारण हैं ॥ ११७ ॥ १६ ॥

निरस्ताशेषविशेष-व्यापिब्रह्मात्मप्रतिपत्त्या प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्रन्थेः जीवत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यते, इत्युक्तम्, "अत्र ब्रह्म समश्नुते" इत्युक्तत्वात्, "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इति श्रुत्यन्तराच्च। ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो विद्यान्तरशीलिनश्च ब्रह्मलोकभाजः, ये च तद्विपरीताः संसारभाजस्तेषामेव गतिविशेष

उच्यते प्रकृतोत्कृष्टब्रह्मविद्याफलस्तुतये । किञ्चान्यत्, अग्निविद्या पृष्टा, प्रत्युक्ता च । तस्याश्च फल-प्राप्तिप्रकारो वक्तव्य इति मन्त्रारम्भः ।

तत्र—शतञ्च शतसंख्याका, एका च—सुषुम्ना नाम पुरुषस्य हृद्याद् विनिःसृता नाड्यः शिराः, तासां मध्ये मूर्द्धानं भित्त्वाऽभिनिःसृता निर्गता एका सुषुम्ना नाम । तया अन्तकाले हृदये आत्मानं वशीकृत्य योजयेत् । तया नाड्योद्र्ध्वं उपरि आयन् गच्छन् आदित्यद्वारेण अमृतत्वम् अमरणधर्मत्वमापेक्षिकम् । "आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" इति स्मृतेः । ब्रह्मणा वा सह कालान्तरेण मुख्यममृतत्वमेति—भुक्त्वा-भोगाननुपमान् ब्रह्मलोकगतान् विष्वङ् नानाविधगतयः अन्या नाड्य उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति संसार-प्रतिपत्त्यर्था एव भवन्तीत्यर्थः ॥ ११७ ॥ १६ ॥

भाष्यानुवाद ।

सर्वप्रकार विशेषधर्म रहित, सर्वव्यापी ब्रह्मको आत्मरूप से जान लेनेसे जिसकी समस्त अविद्याग्रन्थि विनष्ट हो गई है, जीवित दशामें ही ब्रह्मभावापन्न उस ज्ञानीका (लोकान्तर) गमन नहीं होता है । इसी देहमें "ब्रह्म भोग करता है" इस श्रुतिद्वारा पहले यह कहा गया है और "उसका प्राण उत्क्रान्त (परलोकगामी) नहीं होता है" "ब्रह्म होकर ही ब्रह्मको प्राप्त करता है" इत्यादि अन्य श्रुतिमें भी है । पुनः जो अच्छीतरहसे ब्रह्मको नहीं जानते अथवा जो दूसरी विद्याका अनुशीलन करके ब्रह्मलोकके अधिकारी होते हैं और जो ऐसा (भी) न होकर संसारी हैं, उन्हीं लोगोंकी गति कही जाती है । प्रस्तावित उत्कृष्ट

ब्रह्मविद्याके फलकी स्तुति इसका उद्देश्य है। दूसरी बात अग्नि-विद्या जिज्ञासित और वर्णितभी हुई है, उसकीभी फल-प्राप्ति का प्रकार कहना आवश्यक है। इसलिये इस मन्त्रका आरम्भ है। पुरुषके हृदय-देशसे एक-सौ-एक नाड़ियां—शिरायें निकली हैं। उनमें सुषुम्ना नामकी नाड़ी मूर्द्धदेश (ब्रह्मरन्ध्र) भेदन करके निकली है। अन्तकालमें हृदयमें आत्माको वशीभूत करके उसी नाड़ीके साथ योग करे। उसी नाड़ीसे ऊर्द्ध्व—ऊपरको जाकर आदित्य-मण्डलके द्वारा अमृतत्व अर्थात् आपेक्षिक अमरत्व प्राप्त करता है। "भूतसंप्लव' अर्थात् प्रलयकाल तक वर्त्तमान रहनेवाले स्थानको 'अमृतत्व' कहते हैं" इस स्मृतिके अनुसार (आपेक्षिक स्थायीको भी अमृतत्व कहते हैं)। अथवा ब्रह्मलोकमें जाकर वहांके अनुपम भोगोंको भोग-कर कालान्तरमें ब्रह्माके साथ मुख्य अमृतत्व प्राप्त करता है। अन्यान्य नाड़ियां उत्क्रमण (मृत्यु) के समय नानाप्रकारकी गतियोंकी प्राप्तिका कारण होती हैं अर्थात् संसार-प्राप्तिका कारणमात्र हैं ॥ ११७ ॥ १६ ॥

टीका।

स्वस्वरूपकी उपलब्धि होते ही जीवन्मुक्तके पिण्डका चिदंश कूटस्थ अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है, और वह देखता है कि, प्रकृतिका वैभव मुझसे अलग है, मैं उसका द्रष्टामात्र और निर्लिप्त हूं। इस जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें मुक्तात्मा सब कुछ करता हुआभी कुछ नहीं करता है। प्रारब्ध

कर्मके अनुसार कुलालचक्रवत् उसका पिण्ड जबतक काम करता रहता है, वह निर्लिप्त और मुक्त हो रहता है, फिर उसमें फंसता नहीं। यही जीवन्मुक्तिकी अवस्था सहजगति कहाती है। इसमें आत्माके लोकान्तर-गमनकी अपेक्षा नहीं रहती है। इसके अतिरिक्त मुक्तिकी औरभी दो अवस्थाएं हैं, जो ऐशगति और शुक्लगतिके अधीन हैं। इन दोनोका वर्णन पहले हो चुका है। इनतीनों मुक्तिकी गतियोंके अतिरिक्त आवागमन-चक्रमें फिरानेवाली कृष्ण-गतिका वर्णनभी पहले आ चुका है। परमकारुणिक सर्वजीवहितकारी वेदने अन्य सबप्रकारके अधिकारियों के कल्याणार्थ इस मन्त्रमें कहा है। मनुष्य-पिण्डमें तीनप्रकार की नाड़ियां होती हैं, यथा शक्ति-प्रवाहिनी, रक्त-प्रवाहिनी और ज्ञान-प्रवाहिनी। जो नाड़ियां प्राणकी सहायतासे शरीरके अवयवोंका चालन करती हैं, वे शक्ति-प्रवाहिनी हैं। जो नाड़ियाँ रक्त-प्रवाहको प्रवाहित करके उसकी शुद्धिसम्पादन कर पिण्डको कार्य्यकारी बनाए रखती हैं, वे रक्त-प्रवाहिनी हैं। इनकी दो श्रेणियां हैं, एकमें शुद्ध और दूसरेमें अशुद्ध रक्त प्रवाहित होता है, और जो नाड़ियां पञ्चज्ञानेन्द्रिय तथा मनको ज्ञान-कार्य्यमें सहायता करती हैं, वे ज्ञान-प्रवाहिनी हैं। इन ज्ञान-प्रवाहिनी नाड़ियोंका इङ्गित इस मन्त्रमें किया गया है। इन ज्ञान प्रवाहिनी नाड़ियोंके अनेक-भेद होने परभी एक-सौ-एक भेद योगियोंके लिये बताये गये हैं। अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न योगीगण जानते हैं कि, उन एक-सौ-एक नाड़ियोंमेंसे एक नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र

भेदन करके सहस्रारतक सीधी गयी है, वही सुषुम्ना कहाती है। शेष नाड़ियां ऊर्द्ध्वगामिनी होनेपरभी शरीरके अवयवोंमें ही रह गयी हैं। जो योगी जीवन्मुक्त नहीं हुए हों, वे एकतत्त्वकी सहायतासे उस अद्वितीय सुषुम्ना नाड़ीके अवलम्बनसे देह-त्याग करनेपर पूर्वकथित शुक्लगतिके पथको प्राप्त होते हैं। और ज्ञानमय सत्यलोकको प्राप्त करके यथा समय ब्रह्मीभूत होते हैं अर्थात् उनकाभी मुक्त होना निश्चित है। परन्तु जो योगी ऐसा करनेमें असमर्थ होते हैं, वे अन्यान्य ज्ञानप्रवाहिनी नाड़ीके प्रभावसे कृष्णगतिकी नाना अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं, जिसका इङ्गित महात्मा नचिकेताके अग्नि-सम्बन्धीय प्रश्नके उत्तरमें हो चुका है। तात्पर्य्य यह है कि, जीवन्मुक्तिके अतिरिक्त दो प्रकारकी गति ही प्रायः शरीरके अन्तमें प्राप्त होती है। एक सुषुम्ना नाड़ीके अवलम्बनसे जो योगीको प्राप्त होती है, वह शुक्लगति है, जिसके अन्तमें सूर्य्यमण्डल-भेदन करनेपर निःश्रेयस मिलता है, और दूसरी आवागमन-चक्रको स्थायी रखनेवाली कृष्णगति है, जिसके द्वारा पुण्यात्मा जीवके अभ्युदय प्राप्त करनेपरभी उसकी पुनरावृत्ति अवश्य होती है ॥ ११७ ॥ १६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्य्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥११८॥१७॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः अन्तरात्मा सदा जनानां (प्राणिनां) हृदये सन्निविष्टः (अवस्थितोऽस्ति) । मुञ्जात् (तदाख्यतृणात्) इषीकां (गर्भस्थदलं) इव स्वात् शरीरात् तं धैर्य्येण प्रवृहेत् (पृथक् कुर्य्यात्) तं (देहात् निष्कृष्टं) शुक्रं (शुद्धं) अमृतं विद्यात् (विजानीयात्) । ॥ ११८ ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ ।

अङ्गुष्ठपरिमाण अन्तरात्मा पुरुष प्राणियोंके हृदयमें सर्वदा सन्निविष्ट है। मुञ्जसे सिरकी (उसके भीतरकी लकड़ी) निकालनेके समान उसको अपने शरीरसे धैर्य्यके साथ अलग करे। और उसीको शुद्ध अमृत जाने, उसीको शुद्ध अमृत जाने॥११८॥१७॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

इदानीं सर्ववल्ल्यर्थोपसंहारार्थमाह—अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां सम्बन्धिनि हृदये सन्निविष्टो यथा व्याख्यातस्तं स्वात् आत्मीयात् शरीरात् प्रवृहेत् उद्यच्छेत् निष्कर्षेत् पृथक्कुर्य्यादित्यर्थः। किमिव ? इत्युच्यते—मुञ्जादिव इषीकां अन्तःस्थां धैर्य्येण अप्रमादेन । तं शरीरान्निष्कृष्टं चिन्मात्रं विद्यात् विजानीयात्—शुक्रं शुद्धं अमृतं यथोक्तं ब्रह्मेति । तं विद्याच्छुक्रममृतमिति, द्विर्वचनमुपनिषत् परिसमाप्त्यर्थमितिशब्दश्च॥ ११८ ॥ १७ ॥

भाष्यानुवाद ।

अब सब वल्लियोंके अर्थके उपसंहारकरनेके लिये कहा जाता है,—अङ्गुष्ठ-परिमाण पुरुष अन्तरात्मारूपसे सदा मनुष्योंके हृदयमें सन्निवेशित (विराजमान) है। जैसी व्याख्या

पहले होचुकी है। उसको अपने शरीरसे पृथक् करे। किसकी तरह ? कहते हैं,—जिसप्रकार मुञ्जसे उसकी अन्तःस्थित इषीका (भीतरकी सिरकी निकाली जाती है) उसीप्रकार धैर्य्य-के साथ अर्थात् प्रमाद-रहित होकर (आत्माको शरीरसे अलग करे)। शरीरसे निकाले हुए उस चिन्मय आत्माको पूर्वोक्तरूपसे शुक्र-शुद्ध अमृतस्वरूप ब्रह्म जाने। उसको शुक्र अमृत जाने। उपनिषत्-समाप्तिके सूचनार्थ इसकी द्विरुक्ति हुई है। 'इति' शब्दभी ऐसा ही है ॥११८॥१७॥

टीका।

देह विद्यमान रहते ही जिन महापुरुषोंको स्वस्वरूप-उपलब्धि करके जीवन्मुक्तिपद प्राप्त करनेका सौभाग्य न प्राप्त हुआ हो, तौभी मुक्तिकी इच्छा प्रबल हो, ऐसे उन्नत आत्माके लिये उपदेशकी इस मन्त्रमें प्रवृत्ति है। ऐसे ही मुमुक्षु अधिक होते हैं, इस कारण इस उपनिषद्के उपसंहारमें इस मन्त्रका आविर्भाव हुआ है। ऐसे मुमुक्षुका कर्त्तव्य है कि, जैसे मुञ्जको सुकौशलपूर्ण उपाय द्वारा अलग करके उससे सिरकी निकाली जाती है, उसीप्रकार प्रकृतिके नाना स्तरोंको अर्थात् चतुर्विंशतितत्त्व अथवा पंचकोषादिके विचारद्वारा प्रकृतिसे पुरुषको अलग करके देखे। उसको अङ्गुष्ठमात्र रूपसे देखनेका जो विचार-क्रम है, सो पहले बताया गया है। योग-युक्त-बुद्धिद्वारा अतिधैर्य्यसे इसप्रकारके ज्ञान अवलम्बन करनेसे और उसी चिन्मय-पुरुषको शुद्ध तथा अमृतरूप जाननेसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। इस मन्त्रमें द्विरुक्ति

दृढ़ताबोधक है । योगीके लक्ष्यको स्थिर करनेके लिये ऐसी दृढ़-
ताकी आवश्यकता है ॥११८॥१७॥

मृत्युप्रोक्तां नाचिकेतोऽथ लब्ध्वा,
विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु-
रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥११९॥१८॥

इति कठोपनिषदि द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥२॥३॥

इति कठोपनिषत् समाप्ता ।

अथ (अनन्तरं) नचिकेतः मृत्युप्रोक्तां (यमेन कथितां) एतां विद्यां, कृत्स्नं योगविधिं च लब्ध्वा (अधिगम्य) विरजः (निर्दोषः) विमृत्युः (मृत्युरहितः सन्) ब्रह्मप्राप्तः अभूत् । अन्योऽपि यः (कश्चित्) एवमध्यात्मं एवंवित् (प्रागुक्तरूपमेव आत्मानं वेत्ति, जानाति) ॥११९॥१८॥

मन्त्रार्थ ।

यमद्वारा कथित इस ब्रह्म-विद्या तथा सब योग-विधियों-को जानकर रज-रहित तथा मृत्यु-रहित होकर नचिकेता ब्रह्मको प्राप्त हुये थे । अन्य जो कोई इसप्रकार अध्यात्मतत्त्व जानता है (वह भी) ऐसा ही होता है ॥ ११९ ॥ १८ ॥

शाङ्कर-भाष्यम् ।

विद्यास्तुत्यर्थोऽयमाख्यायिकोपसंहारोऽधुनोच्यते —मृत्युप्रोक्तां यमोक्तामेतां विद्यां ब्रह्मविद्यां योगविधिञ्च कृत्स्नं समस्तं सोपकरणं सफलमित्येतत् । नाचिकेताः अथ वरप्रदानान्मृत्योः लब्ध्वा प्राप्येत्यर्थः । किम् ?

ब्रह्मप्राप्तोऽभूत् मुक्तोऽभवदित्यर्थः । कथं विद्याप्राप्तो विरजो विगतरजाः विगतधर्माधर्मौ विमृत्युः विगतकामाविद्यश्च सन् पूर्वमित्यर्थः । न केवलं नाचिकेता एव अन्योऽपि य एवं नाचिकेतवद् आत्मवित् अध्यात्ममेवं निरुपचरितं प्रत्यक्स्वरूपं प्राप्य तत्त्वमेवेत्यभिप्रायः । नान्यद्रूपमप्रत्यग्रूपं तदेवमध्यात्मम् एवं उक्तप्रकारेण वेद विजानातीति एवंवित्, सोऽपि विरजाः सन् ब्रह्म प्राप्य विमृत्युर्भवतीति वाक्यशेषः ॥ ११९ ॥ १८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपाद-शिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

भाष्यानुवाद ।

विद्याकी स्तुतिके लिये अब आख्यायिकाका उपसंहार कहते हैं—नचिकेता मृत्युके वर प्रदानसे यमद्वारा कथित इस ब्रह्म-विद्या और कृत्स्न-समस्त फल-सहित योग-विधिको प्राप्तकर क्या हुए ?—ब्रह्मप्राप्त हुए अर्थात् मुक्त हुए । किसप्रकारसे ? विद्या-प्राप्तिसे प्रथम विरज अर्थात् धर्माधर्म-रहित और विमृत्यु अर्थात् कामना और अविद्या-रहित होकर । केवल नचिकेता ही नहीं, अन्यान्य भी जो कोई नचिकेताकी तरह अध्यात्म अर्थात् प्रत्यक्स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त करके अन्य अप्रत्यक्रूपको नहीं, पूर्वोक्त प्रकारसे उसी अध्यात्मतत्त्वको जानता है, वह ऐसा जाननेवाला विरज होकर विमृत्यु हो जाता है ॥११९॥१८॥

कठोपनिषत्के द्वितीय अध्यायके तृतीयवल्लीका
भाष्यानुवाद समाप्त ।

टीका ।

वेद स्वयं सत्य और ज्ञानमय हैं, इसकारण सत्य और ज्ञानमय भावके अतिरिक्त श्रुतिमें और कुछ विरुद्धभाव नहीं रह सकता है। यह फल-श्रुतिभी सत्य और ज्ञानमय भावकी प्रकाशिका है। भगवान् यम और महात्मा नचिकेताके सम्वादसे पूर्ण इस उपनिषद् कथित सत्य और ज्ञानमय रहस्यको जो हृदयङ्गम करता है, वह भी निःश्रेयसको प्राप्त करता है, जैसा नचिकेता प्राप्त हुए थे। इस प्रसङ्गसे निम्नलिखित श्रेणीकी शंकायें जिज्ञासुको हो सकती हैं। यथा—वेदमें फलश्रुतिकी आवश्यकता क्या है? वेद जब अपौरुषेय और नित्य है, तो उसमें गाथाकी आवश्यकता कैसे हो सकती है? जब कोई प्राचीन गाथाका उसमें समावेश है, तो वेदका सादि और पौरुषेय होना क्यो नही स्वीकार किया जाय? इसश्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि, अध्यात्म लक्ष्य-युक्त मनुष्य-श्रेणीके लिये भगवत्स्मरण-रूप मङ्गलाचरण जैसा परम हितकर, प्रमादनाशक, सफलताप्रद और सर्वप्रकार मङ्गलप्रद है, उसीप्रकार प्रत्येक मङ्गलमयी रचनामें फलश्रुति भी समभी जाती है। मङ्गलाचरण जिसप्रकार अपने लिये सिद्धिप्रद है, फलश्रुति उसीप्रकार जगत्के लिये सिद्धिप्रद है। फलश्रुतिके द्वारा लक्ष्यस्थिर कराया जाता है और उस विषयमें दृढ़ प्रवृत्ति करायी जाती है। इसीकारण वेद सदाचारके प्रवर्त्तन और जगत्को मंगल-प्रदानके निमित्त आदर्श स्थापन करते हैं। केवल दार्शनिक तत्त्व सबको प्रीति-

कर नहीं होता है, गाथा-सम्वलित दार्शनिकतत्त्व अधिक रुचिकर होता है। इसकारण वेद और पुराणादिकमें वर्णन-शैलीकी विचित्रता,रक्खी गयी है, क्योंकि यह स्वाभाविक है। इस वर्णन-शैलीके भेद पहले कहे गये हैं। वैदिक दर्शनोंका यह सिद्धान्त है कि, पुस्तक पांचप्रकारकी होती है यथा— ब्रह्माण्ड पुस्तक, नादपुस्तक, विन्दुपुस्तक, पिण्डपुस्तक और अक्षरमयीपुस्तक। इन पांचप्रकारकी पुस्तकोंमेंसे अक्षरोंमें लिखी जानेवाली और काल-प्रभावसे होनेवाली अक्षरमयी पुस्तक लौकिक हैं। नादमयी पुस्तक-वेदकी सत्ता नित्य मानी गयी है। अन्य तीनों प्रकारकी पुस्तकोंका सम्बन्ध दैवजगत्से माना गया है, इसकारण वे भी अलौकिक हैं। ब्रह्माण्ड पुस्तक त्रिमूर्तिकी इच्छासे भावरूपसे योग-युक्त अन्तःकरणमें प्रकाशित होती है, यथा तन्त्रादि शास्त्र। विन्दु पुस्तक प्रतिकल्पके वेद-स्मरणपूर्वक उसकी स्मृतिद्वारा नित्य ऋषिगण प्रकाशित करते है यथा पुराण, धर्मशास्त्रादि। और पिण्ड पुस्तक चतुर्दश भुवनके नाना ऋषियोंकी प्रेरणासे प्रकाशित होती है। वह दैवी और आसुरी दो श्रेणीकी होती है, क्योंकि ऋषियोंका वास देव और असुर दोनों लोकोंमें ही है। ये तीनो श्रेणीकी पुस्तकें भावरूपसे प्रकाशित होती हैं। परन्तु नादमयी पुस्तकरूप वेद सृष्टिके आदिकालमें नित्य ऋषिके अवतारोंके अन्तःकरणमें ज्यों-की-त्यों सुनाई देता है। अक्षरमयी पुस्तक यद्यपि लौकिकरूपसे सभी लिखी जाती हैं, परन्तु ये चार श्रेणीकी पुस्तकें जब अक्ष-

रमें लिखी जाती हैं, तब ये भी अक्षरमयी बन जाती हैं। भेद इतना ही है कि, इनका लौकिकअक्षरमयरूप कीट, अग्नि, जलादिसे नाश होजानेपरभी इनका अस्तित्व दैवलोकमें सुरक्षित रहता है। परन्तु वेदका सर्वोपरि महत्त्व यह है कि, इसका ज्यों-का-त्यों स्वरूप कल्प कल्पान्तरमें भी सुरक्षित रहता है। और कल्पान्तरमें सृष्टिके आदिमें अव्यक्तसे व्यक्त और तद्-नन्तर प्रणवसे निःसृत होकर भगवान् ब्रह्माकी सहायतासे वेदों-का आविर्भाव होकर ऋषियोंके अन्तःकरणमें सुनाई पड़ता है। इस दार्शनिक रहस्यके अनुसार श्रुतियोंकी नित्यता सिद्ध हुई दूसरी ओर यमादि देवपद भी नित्य हैं, जब-जब ब्रह्माण्डकी सृष्टि होती है, तो उसके साथ-ही-साथ उसकी सामञ्जस्य-रक्षा-के लिये आविर्भूत होते हैं। इसकारण वेदोक्त शब्दकी जैसी नित्यता है, वैसे ही वेदोक्त व्यक्तियोंकी भी नित्यता है। अथवा इस विषयको यों भी समझ सकते हैं कि, सृष्टिप्रकरणके जो नव-स्तर और चार भेद स्मृति आदि शास्त्रोंमें कहे गये हैं, उसमें यह भी कहा गया है कि, सृष्टिके आदिमें वेद और पुराण दोनों ही आवि-र्भूत हुए थे इसका वर्णन मार्कण्डेय पुराणमें ऐसा है:—

उत्पन्नमात्रस्य पुरा ब्रह्मणोऽव्यक्त जन्मनः।
पुराणमेतद् वेदाश्च मुखेभ्योऽनुविनिःसृताः॥
पुराणसंहिताश्चक्रु र्बहुलाः परमर्षयः।
वेदानां प्रविभागश्च कृतस्तैस्तु सहस्रशः॥
धर्मज्ञानञ्च वैराग्यमैश्वर्य्यञ्च महात्मनः।

तस्योपदेशेन विना न हि सिद्ध चतुष्टयम् ॥
वेदान् सप्तर्षयस्तस्माज्जगृहुस्तस्य मानसाः ।
पुराणं जगृहुश्चाद्या मुनयस्तस्य मानसाः ॥

अर्थात् पुराकालमें अव्यक्त-योनि ब्रह्माके उत्पन्न होते ही उनके मुखोंसे पुराण और वेद आविर्भूत हुए। ऋषियोंने उन पुराणसहिताको बहुधा और वेदको सहस्र भागमें विभक्त किया। उस महात्माके उपदेशके विना धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य, चारो सिद्ध नहीं होते। उनके मनसे आविर्भूत सप्तर्षियोंने वेदोको ग्रहण किया और उनके मानसजात आदि मुनियोने पुराण ग्रहण किया।

सृष्टिके प्रारम्भ-अवस्थामें जड़ प्राकृतिक सृष्टिके अनन्तर और चिन्मयी ब्राह्मी-सृष्टिकी प्रारम्भ अवस्थामें पूर्वकल्पके संबन्धसे वेद और पुराण दोनोका आविर्भाव ब्रह्माजीके समष्टि अन्तःकरणमें होकर ऋषियोके द्वारा प्रकाशित होता है। उस समय सविकल्प समाधिके आनन्दानुगत अवस्थामें, जिसका वर्णन योग-शास्त्रमें भलीभांति है, उसी अलौकिक अवस्थामें वेद का आविर्भाव और विचारानुगत अवस्थामें पुराणका आविर्भाव होता है। योग-युक्त अन्तःकरणवाले योगीगण इसका रहस्य समझ सकते हैं। अस्मितानुगत अवस्थासे आनन्दानुगत अवस्थामें ब्रह्माण्डके समष्टि अन्तःकरण पहुंचते ही उस समष्टि अन्तःकरणके अधिदैव भगवान् ब्रह्माको 'यथापूर्वमकल्पयत्' श्रुति सिद्धान्तके अनुसार द्वैतका बोध होते ही ओङ्कार ध्वनिसे व्यक्त होकर श्रुतियां सुनायी देती हैं। वही मन्त्रद्रष्टा ऋषियोके अन्तः-

करणमें प्रतिफलित होती हैं। स्वर-सहित श्रुतियोंका प्रकट होना सुनना कहाता है। और केवल शब्दका बोध देखना कहाता है, इसकारण ऋषिगण मन्त्रद्रष्टाभी हैं मन्त्रश्रोता भी हैं। तदनन्तर विचारानुगत समाधिके उदय होनेपर नानाभाव गुम्फित गाथाएँ स्मृतिपटलमें उदय होती हैं। यही पूर्व कल्पके पुराणोंका आदि सृष्टिमें प्रकट होना कहाता है। वैदिक व्यक्ति और गाथाएं कल्प-कल्पान्तरके सम्बन्धसे नित्य होनेके कारण और ज्यों-की-त्यों शब्दद्वारा प्रकट होनेके कारण उनका नित्यत्व अन्य प्रकारका है, तथा पुराणोंकी गाथाएं केवल भावरूपसे प्रकट होनेके कारण उनका नित्यत्व अन्यप्रकारका है। यही वेदके स्वरूपमें और पुराणके स्वरूपमें पारस्परिक भेदका मौलिक रहस्य है। अनन्त कल्प-कल्पान्तरके ज्ञानके साथ-ही-साथ वैदिक शब्द और पौराणिक भावका पारस्परिक सम्बन्ध रहनेके कारण वेद और पुराणकी नित्यता सिद्ध होनेमें सन्देह नहीं हो सकता है। ओं तत्सत् ॥ ११६ ॥ १८ ॥

कठोपनिषत्के द्वितीय अध्यायके तृतीयवल्लीकी
उपनिषत् सुबोधिनी टीका समाप्त।

॥ कठोपनिषत् समाप्ता ॥